महिमभट्ट कृत
काव्यदोष विवेचन
35 V2
महामहोपाध्याय
डॉ. ब्रह्ममित्र अवस्थी

आचार्य महिमभट्ट काव्यशास्त्र के सुप्रसिद्ध आचार्यों में से हैं। आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा प्रवर्त्तित एवं अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिष्ठापित ध्वनि-सिद्धान्त की प्रबल तर्कों द्वारा समीक्षा करने के कारण इन्हें ध्वनि विरोधी आचार्य के रूप में मानकर प्रायः इनकी उपेक्षा की गयी है, यद्यपि आचार्य आनन्दवर्धन और महिमभट्ट के काव्य सिद्धान्तों में प्रायः पूर्णतया समानता है। प्रतीयमान अर्थ रस आदि के संस्पर्श के बिना तो महिम भट्ट के अनुसार कोई रचना काव्य हो ही नहीं सकती।

काव्यार्थ प्रतीति में व्याघात करने वाले तत्त्व दोषों के सम्बन्ध में सबसे प्रशस्त संक्षिप्त एवं सर्वांग पूर्ण विवेचन सर्वप्रथम महिम भट्ट ने ही किया है। इनके अनुसार काव्य में आनन्दवर्धन स्वीकृत रसादि प्रतीति में साक्षात् व्याघात उपस्थित करने वाले रस दोष अन्तरङ्ग दोष कहे जाते हैं। इसके विपरीत जो तत्त्व रस प्रतीति में परम्परया बाधा पहुंचाते हैं, वे बहिरङ्ग दोष कहलाते हैं। बहिरङ्ग काव्यदोष केवल पांच हैं—विधेयाविमर्श प्रक्रमभेद क्रमभद पौनरुक्त्य और वाच्यावचन-अवाच्यवचन। प्रस्तुत ग्रन्थ महिम भट्ट के काव्य सिद्धान्त में दोष सामान्य की चर्चा करने के अनन्तर इन्हीं पांच दोषों का सोदाहरण विवेचन किया गया हैं।
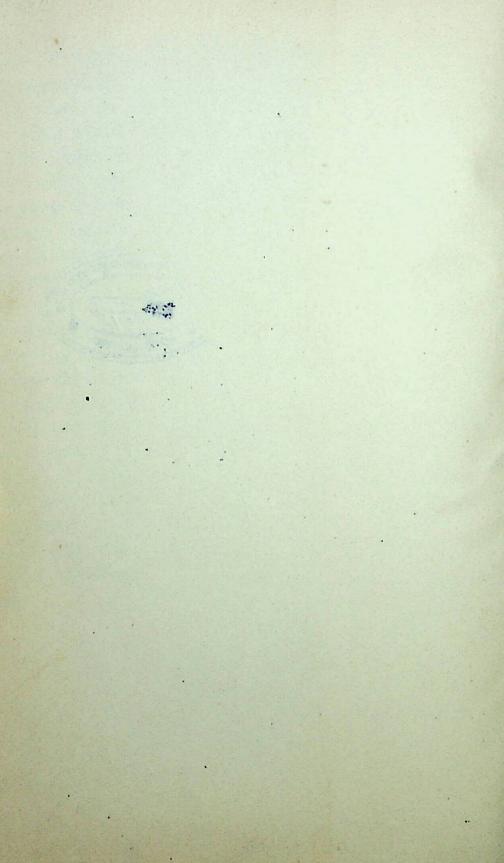
महिमभट्ट कृत काव्यदोष-विवेचन

MAHIMABHAṬṬA KṚTA KĀVYA DOṢA VIVECANA

(A STUDY OF POETIC BLEMISHES WITH SPECIAL REFERENCE TO MAHIMABHATTA)
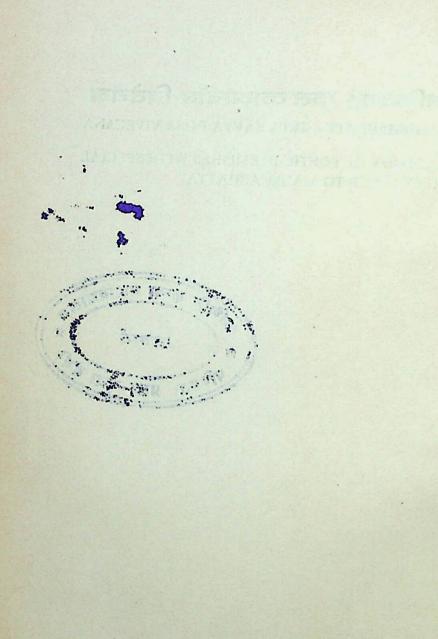
महिमभट्ट कृत

काव्यदोष-विवेचन

महामहोपाध्याय

डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी

इन्दु प्रकाशन, दिल्ली

किञ्चिन्निवेदनम्

आचार्य महिमभट्ट संस्कृत काव्यशास्त्र के उन आचार्यों में हैं, जिनका चिन्तन मौलिक है, जिनकी दृष्टि सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम समस्या पर भी गम्भीर विचार करती है। यह एक संयोग है कि परवर्त्ती विद्वानों ने उनकी अपनी दृष्टि में सुस्थापित मान्यता को महिमभट्ट द्वारा स्वीकृति न दिये जाने अथवा गहन समीक्षा करते हुए विरोध करने के कारण महिमभट्ट की दृष्टि को परखे बिना ही उनका विरोध किया है, अथवा उनकी उपेक्षा की है।

महिमभट्ट कृत केवल एक ग्रन्थ व्यक्तिविवेक उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में 'तत्त्वोक्ति कोष' नामक एक अन्य ग्रन्थ का उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें सम्भवतः काव्यशास्त्र के सभी उपादान तत्त्वों का गम्भीर विवेचन किया गया था। 'प्रतिभा' का विवेचन भी उनमें सम्मिलित था। इस ग्रन्थ की रचना व्यक्तिविवेक से पहले की गयी थी, किन्तु आज तक इस ग्रन्थ की कोई प्रति विद्वानों को प्राप्त न हो सकी है।

व्यक्तिविवेक ग्रन्थ के प्रथम विमर्श में आनन्दवर्धन कृत ध्वनिलक्षण कारिका का पदकृत्य शैली में विवेचन करते हुए उसमें दस दोषों का दर्शन करके परिशुद्ध ध्वनि लक्षण दिया गया है। यह कार्य यद्यपि आनन्द वर्द्धन के सिद्धान्त की परिपुष्टि की दृष्टि से किया गया है किन्तु दुर्भाग्य से महिमभट्ट की भावना को न समझने के कारण इन्हें ध्वनिविरोधी मान लिया गया है।

महिमभट्ट के अनुसार रस निष्पत्ति के प्रसंग में जो संभावित विघ्न हैं, वे दोष कहलाते हैं। वे दोषों के दो प्रकार मानते हैं। अन्तरङ्गदोष और बहिरंग दोष। उनकी मान्यता है कि आनन्दवर्धन ने जिन रस दोषों की चर्चा की है वे अन्तरंग दोष हैं। इनके अतिरिक्त काव्य में पांच और दोष हो सकते हैं विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रम भेद, पौनरुक्त्य तथा अवाच्यवचन-वाच्यावचन। व्यक्ति विवेक के द्वितीय विमर्श में इन पांच बहिरंग दोषों का विस्तृत गम्भीर विवेचन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रधान रूप से इन्हीं पांच बहिरंग दोषों के विवेचन का अध्ययन किया गया है तथा प्रासंगिक रूप से महिमभट्ट के काव्य सिद्धान्त दोष सामान्य के स्वरूप तथा दोष विवेचन की परम्परा पर भी चर्चा की गयी है।

इस ग्रन्थ का लेखन अक्टूबर १९६२ अप्रैल १९६४ के बीच लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० उपाधि हेतु शोध प्रबन्ध के रूप में किया गया था। उसके बाद अध्ययन की परम्परा व्यसन के रूप में जीवन चर्या का अंग बन जाने

से अनेक ग्रन्थ लिखे गये और उनमें तेंतालिस प्रकाशित भी हुए, किन्तु यह ग्रन्थ अप्रकाशित ही पड़ा रहा। इधर इन्दु प्रकाशन के कर्त्ता धर्ता मेरे प्रिय-पुत्र श्री दिवाकर अवस्थी ने इसको प्रकाशित करने का संकल्प लिया और यह आपके हाथ में पहुंच रहा है, इससे मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। इस ग्रन्थ में मेरे परवर्त्ती चिन्तन के आधार पर प्रति संस्कार हो यह उनकी इच्छा थी, किन्तु मैंने अपने चिन्तन की प्रारम्भिक अवस्था को भी विद्वान् पाठकों की समीक्षा की चलनी में डालने की दृष्टि से उसी रूप प्रकाशित हो ऐसा निश्चय किया है, अतः मेरे इधर के लिखे गये ग्रंथों को देखने वाले मनीषियों को कुछ अटपटा लगे, और निराशा हो तो उसके लिए मैं क्षमा चाहूंगा, और इस ग्रन्थ को प्रारम्भिक (प्रथम) रचना के रूप में ही ग्रहण करने हेतु उनसे अनुरोध करना चाहूंगा।

श्रावण शुक्ल पंचमी
सं० २०४७ वि०

विदुषामाश्रवः

ब्रह्ममित्र अवस्थी

प्रकाशकीय

सर्वतन्त्र स्वतन्त्र महामहोपाध्याय डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी जी की इससे पूर्व तेंतालिस (४३) ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, इनमें से कुछ ग्रन्थों को प्रकाशित करने का सौभाग्य हमारे इन्दु प्रकाशन को प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ को प्रेस में देते समय मुझे पता चला कि लेखन की दृष्टि से यह उनकी प्रथम रचना है, किन्तु उनकी दैनिक साधना से समय पर तैयार होने वाले अन्य ग्रन्थ प्रकाशित होते गये, और यह ग्रन्थ फाइल में सुरक्षित ही रखा रह गया। इस प्रकार १९६३-६४ में लिखा गया ग्रन्थ छब्बीस वर्षों की प्रतीक्षा के बाद प्रेस में पहुंचा।

उपर्युक्त जानकारी मिलने के बाद मैंने माननीय अवस्थी जी से निवेदन किया कि वे इस लम्बी अवधि में अर्जित अपने चिन्तन मनन के आधार पर मूल ग्रन्थ का प्रति संस्कार कर दें तो उत्तम हो। किन्तु मेरा यह प्रस्ताव स्वीकार न हो सका। अवस्थी जी का कहना था कि किसी ग्रन्थ का प्रकाशन चाहे जब हो किन्तु परिष्कार करने पर ग्रन्थकार के सम्बन्ध में अध्ययन करने वाले अध्येताओं को उसके चिन्तन के विकास का अध्ययन करते समय भ्रम होने की सम्भावना रहेगी, अतः अपने मूल रूप में ही इसका प्रकाशन होना उचित है। फलतः परिष्कार के बिना अपने मूल रूप में ही इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है।

ग्रन्थ के मुद्रण के दिनों में श्री अवस्थी जी अपने पारिवारिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह में बहुत व्यस्थ रहे हैं, इस कारण इसके मुद्रण में देर तो हुई ही है, साथ ही प्रूफ की कुछ भूलें भी रह गयी हैं। हमें विश्वास है कि विद्वान् पाठक इसके लिए हमें क्षमा करेंगे।

इस ग्रन्थ को मुद्रित करके वर्त्तमान स्वरूप प्रदान करने का श्रेय पंकज प्रिंटर्स के स्वत्त्वाधिकारी पं० राजेन्द्रप्रसाद तिवारी को है, जिन्होंने अनेक बाधाओं के बाद भी धैर्य पूर्वक इसके मुद्रण कार्य को सम्पन्न किया है, इसके लिए हम उनके और उनके सहयोगियों के अत्यन्त अभारी हैं। मुझे विश्वास है कि विद्वान् पाठक इस ग्रन्थ का स्वागत करेंगे।

श्रावणी पूर्णिमा सं० २०४७ वि०। दिवाकर अवस्थी

विषय-सूची

प्राक्कथन

व्यक्तिविवेक की पृष्ठभूमि और उद्देश्य	१७
महिमभट्ट व्यक्तित्व	२०
महिमभट्ट का स्थितिकाल	२४
रचना-परिचय	

प्रथम अध्याय

महिमभट्ट का काव्यसिद्धान्त	१—२९
काव्य की परिभाषा	१
भरत की काव्यपरिभाषा	२
भामह की काव्यपरिभाषा	३
दण्डी की काव्यपरिभाषा	४
अग्निपुराणकार की काव्यपरिभाषा	५
वामन की काव्यपरिभाषा	६
रुद्रट की काव्यपरिभाषा	७
आनन्दवर्द्धन की काव्यपरिभाषा	७
कुन्तक की काव्यपरिभाषा	८
भोज की काव्यपरिभाषा	१०
मम्मट की काव्यपरिभाषा	११
हेमचन्द्र की काव्यपरिभाषा	११
विद्यानाथ की काव्यपरिभाषा	११
वाग्भट्ट प्रथम की काव्यपरिभाषा	११
जयदेव की काव्यपरिभाषा	१२
विश्वनाथ की काव्यपरिभाषा	१२
पंडितराज जगन्नाथ की काव्यपरिभाषा	१४
महिमभट्ट की काव्यपरिभाषा	१५
आनन्दवर्द्धन और महिमभट्ट	१९
काव्यनिदर्शन	२१

द्वितीय अध्याय

दोष : काव्यत्व ३०—४०

काव्यशास्त्र के आचार्यों की दृष्टि में दोषों की हेयता ३०

भामह, दण्डी, रुद्रट, वामन, आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त

भोज, राजशेखर ३०

मम्मट गोविन्द ठक्कुर ३२

विश्वनाथ ३३

पंडितराज जगन्नाथ ३४

समीक्षा ३५

महाभारतकार की दृष्टि में काव्यदोष ३७

कालिदास की दृष्टि में काव्यदोष ३८

भारवि की दृष्टि में काव्यदोष ३८

बाण की दृष्टि में काव्यदोष ३९

तृतीय अध्याय

महिमभट्ट से पूर्ववर्त्ती अलंकार शास्त्र में दोष-समीक्षा ४१—५४

आचार्य भरत की दृष्टि में दोषत्व ४१

आचार्य भामह की दृष्टि में दोषत्व ४३

आचार्य दण्डी की दृष्टि में दोषत्व ४५

अग्निपुराणकार की दृष्टि में दोषत्व ४६

(दोष की प्रथम परिभाषा)

आचार्य वामन की दृष्टि में दोषत्व ४७

आचार्य रुद्रट की दृष्टि में दोषत्व ४८

आचार्य आनन्दवर्द्धन की दृष्टि में दोषत्व ४९

आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि में दोषत्व ५१

आचार्य महिमभट्ट की दृष्टि में दोषत्व ५१

समीक्षा ५२

चतुर्थ अध्याय

महिमभट्ट की काव्यदोष मीमांसा ५५—८०

दृष्टिकोण और वर्गीकरण

आनन्द वर्द्धन : महिमभट्ट ५५

महिमभट्ट द्वारा काव्य में ध्वनि की नामान्तर से ५६

स्वीकृति तथा तर्क (अनुमान) द्वारा उसका प्रतिपादन ५६

दोष और उसके प्रकार भेद ६४
भरत स्वीकृत काव्यदोष ६५
भामह स्वीकृत काव्यदोष ६५
दण्डी स्वीकृत काव्यदोष ६५
वामन स्वीकृत काव्यदोष ६५
रुद्रट स्वीकृत काव्यदोष ६५
आनन्दवर्द्धन स्वीकृत काव्यदोष ६६
महिमभट्ट द्वारा आनन्दवर्द्धन का अनुसरण तथा काव्यदोष सामान्य का प्रथम पूर्ण लक्षण ६७
परवर्त्ती आचार्य मम्मट आदि द्वारा महिमभट्ट का अनुगमन मम्मट, गोविन्द ठक्कुर, केशवमिश्र, श्रीपाद, विश्वनाथ, कृष्ण कवि, पंडितराज जगन्नाथ ६७
रसानुभूति में प्रतिबन्ध प्रक्रिया ६७
बहिरङ्ग दोष पांच ही क्यों ? ६९
बहिरङ्ग दोष ७०
(क) विधेयाविमर्श सामान्य परिचय ७३
(ख) प्रक्रम भेद ,, ७६
(ग) क्रम भेद ,, ७७
(घ) पौनरुक्त्य ,, ७८
(ङ) वाच्यावचन-अवाच्यवचन ,, ७८
भरत आदि द्वारा स्वीकृत दोषों का पांच में अन्तर्भाव ७९

पंचम अध्याय

विधेयाविमर्श दोष और उसकी समीक्षा ८१—१६३
प्रवेश ८१
(क) आनन्दवर्द्धन स्वीकृत अन्तरंग काव्यदोष ८१
(ख) अभिनवगुप्त स्वीकृत अन्तरंग काव्यदोष ८५
विधेयाविमर्श दोष के प्रकार ९०
(क) समासजन्य विधेयाविमर्श (समास में पदार्थ की अप्रधानता) ९१
(ख) कर्मधारय समास : विधेयाविमर्श ९१
(ग) समास में पदार्थ की अप्रधानता और पाणिनि ९८
(घ) द्विगु समास : विधेयाविमर्श ९९
(ङ) तत्पुरुष समास : विधेयाविमर्श १००

(च) नञ्समास : विधेयाविमर्श १०८
(प्रसज्य प्रतिषेध में समास की हेयता एवं
पर्युदास में समास की उपादेयता)
(छ) अव्ययीभाव समास : विधेयाविमर्श ११४
(ज) कृदन्त व तद्धतान्त पदों का समास : विधेयाविमर्श ११५
(झ) द्वन्द्व समास : विधेयायिमर्श ११८
(ञ) समीक्षा १२०
अप्रधान का प्रधान के रूप में प्रतिपादन में दोष १२४
यत् तथा तत् पदों के प्रयोग विशेष में विधेयाविमर्श १२८
यत् तथा तत् पदों के समुचित प्रयोग की परम्परा १२८
यत् तथा तत् पदों का शाब्द प्रयोग १२९
आचार्य रुय्यक के मत से यत् तत् पदों के पुष्ट प्रयोग १३५
आचार्य रुय्यक के मत से यत् तत् पदों के सदोष प्रयोग १३५
समीक्षा १४०
परामृश्य के सर्वनाम वाच्य होने पर विधेयाविमर्श १५०
इदम् और अदस् आदि शब्दों के अनुचित प्रयोग में
विधेयाविमर्श दोष १५१
विधेयाविमर्श के कुछ उदाहरण १५२

षष्ठ अध्याय

पौनरुक्त्य दोष : उसकी समीक्षा १६४—२३०
पौनरुक्त्य के प्रकार १६४
पौनरुक्त्य और अलंकार १६५
पौनरुक्त्य और दोष १६७
पौनरुक्त्य दोष का सामान्य परिचय १६८
रुय्यक कृत आलोचना १७०
पौनरुक्त्य दोष के विविध भेद १७२
प्रकृतिपौनरुक्त्य १७२
प्रत्ययपौनरुक्त्य १७६
उभयपौनरुक्त्य १७९
पदपौनरुक्त्य १७९
विशेष्यपौनरुक्त्य १८०
आरोपपौनरुक्त्य १९१
पौनरुक्त्य दोष के संश्लिष्ट उदाहरण १९१

	१९५
वाक्य पौनरुक्त्य	२००
पौनरुक्त्य प्रकारों का संकलन और समीक्षा	२१९
कारक पौनरुक्त्य	२२२
अलंकार एवं अलंकारांग पौनरुक्त्य	२३०
समीक्षा	
सप्तम अध्याय	२३१—२८७
प्रक्रमभेद दोष और उसकी समीक्षा	२३१
सामान्य परिचय	२३४
प्रक्रमभेद और प्राचीन आचार्य	२४०
पुनरुक्ति और प्रक्रमभेद	२४०
प्रकृतिप्रक्रमभेद	२४१
प्रत्ययप्रक्रमभेद	२४३
पर्यायप्रक्रमभेद	२४५
पर्यायवक्रता : पर्याय प्रक्रमभेद दोष	२४६
विध्यनुवादभाव : प्रक्रमभेद	२४८
विभक्तिप्रक्रमभेद	२५१
विभक्तिप्रक्रमभेद और पदपरार्ध वक्रता	२५१
उपसर्गप्रक्रमभेद	२५२
अवग्रहप्रक्रमभेद (आत्मनेपद परस्मैपद)	२५३
वचनप्रक्रमभेद	२५५
तिङ्ङन्तप्रक्रमभेद	२५६
कालप्रक्रमभेद	२५७
कालप्रक्रमभेद दोष की अनित्यता	२६१
कारकशक्ति (वाच्य) प्रक्रमभेद	२६५
शाब्दप्रक्रमभेद	२६९
आर्थप्रक्रमभेद	२७०
प्रक्रमभेद दोष की अनन्तता	
यथा :—	
क्रमप्रक्रमभेद	२७१
सामान्यप्रक्रमभेद	२७३
विशेषप्रक्रमभेद	२७३
प्रक्रमभेद दोष का दोषत्व	२५४
शाब्द तथा आर्थ प्रक्रमभेद दोष का दोषत्व	२७७

शब्द प्रतिपाद्य या व्यंग्य अर्थ में प्राधान्य मीमांसा २८०
प्रक्रमभेद दोष की व्यापकता २८१
(क) व्यंग्य वस्तुमात्र प्रक्रमभेद २८२
(ख) व्यंग्य अलंकार प्रक्रमभेद २८४
कर्त्तृ प्रक्रमभेद दोष या कर्त्तृ व्यत्यास गुण २८५

अष्टम अध्याय

क्रमभेद दोष और उसकी समीक्षा २८८—३११
क्रमभेद दोष का दोषत्व और उसका मूल आधार २८८
पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृति
(क) भामह २८९
(ख) दण्डी २८९
(ग) वामन २८९
(घ) रुद्रट २९०
(ङ) नमिसाधु २९०
(च) भोजराज २९१
क्रमभेद : भर्त्तृ हरि २९२
क्रमभेद : वेदान्त २९२
क्रमभेद : पाणिनि २९३
क्रमभेद : महाभाष्यकार पतंजलि २९४
क्रम का मूल आधार—आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि में २९५
क्रमभेद दोष के प्रकार २९६
संज्ञा पद के प्रयोग से पूर्व सर्वनाम के प्रयोग में क्रमदोष २९६
विशेषण पदों के व्यवहित प्रयोग में क्रमदोष २९७
समुच्चयार्थक पदों के व्यवहित प्रयोग में क्रमदोष २९८
उपमा वाचक पदों के व्यवहित प्रयोग में क्रमदोष ३०१
व्यवच्छेदार्थक पदों के व्यवहित प्रयोग में क्रमदोष ३०१
निषेधार्थक पदों के व्यवहित प्रयोग में क्रमदोष ३०४
सम्बध्य और सम्बद्ध पदों के प्रयोग में क्रम दोष ३०७
आरोप्यमाण और आरोप विषय के प्रयोग में क्रम दोष ३०८

नवम अध्याय

वाच्यावचन और अवाच्यवचन दोष और उसकी समीक्षा ३१२—३६६
वाच्यावचन सामान्य परिचय ३१२

अनभिधानमूलक वाच्यावचन	३१३
विशेष्य या विशेषण के अप्रयोग में वाच्यावचन	३१९
अनन्वय मूलक वाच्यावचन	३२४
अपेक्षित वचन के अप्रयोग में वाच्यावचन	३२५
धातु विशेष के प्रयोग में वाच्यावचन	३२७
क्रम के अनिर्वाह में वाच्यावचन	३२८
अलंकार वाच्यावचन	३३२
अलंकार योजना	३४१
अलंकारांग के अप्रयोग में वाच्यावचन	३४३
महिमभट्ट और आनन्द वर्द्धन के मत की तुलनात्मक समीक्षा	३४५
अवाच्यवचन	३८१
उपमा में अवाच्यवचन	३८१
रूपक में अवाच्यवचन	३८२
व्यतिरेक में अवाच्यवचन	३८५
वक्रोक्ति अलंकार में अवाच्यवचन	३८८
पौनरुक्त्य मूलक अवाच्यवचन	३९३
अप्रस्तुतप्रशंसा में अवाच्यवचन	३९५
सर्वनामपरामृश्य की स्वशब्दवाच्यता में अवाच्यवचन	३९६
उपसंहार	३९८

भूमिका

भाषा विचारों को वहन करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है। जिस प्रकार एक मनोरम उद्यान में उत्पन्न पुष्प फल, खेत में उत्पन्न अन्न शाक सब्जी अथवा फैक्ट्री में उत्पन्न कलम रेडियो टेलीविजन आदि पदार्थ घोड़ा गाड़ी ट्रक या विमान आदि वाहकों द्वारा अपने उत्पत्ति स्थल से प्रयोग स्थल तक पहुंचाये जाते हैं, उसी प्रकार विचार भी एक मस्तिष्क में उत्पन्न होता है, और आवश्यकता के अनुसार निकट अथवा दूर स्थित मस्तिष्क तक भाषा के द्वारा ही पहुंचाये जाते हैं। यद्यपि भाषा के अतिरिक्त चित्र नृत्य संगीत आदि ललित कलाएं भी विचारों के वाहक का कार्य कर सकते हैं और करते भी हैं, किन्तु उन कलाओं के माध्यम से सम्प्रेषण एवं संग्रहण दोनों ही कार्य अतिशय साधनासाध्य है। हां चित्र कला को वर्ण संकेत के रूप में परिवर्तित करके उनके माध्यम से भाषा के लिए देश और काल की दूरी को समाप्त करने का जो प्रयास हुआ है, वह चित्रकला का अंग अवश्य है, किन्तु वर्ण संकेतों की बहुव्यापकता के कारण उन्हें भी अब चित्रकला के अंग के रूप में न देखकर भाषा के अंग के रूप में स्वीकार किया जाता है।

भाषा के मुख्यत: दो अंग हैं कथ्य अर्थात् विचार और वाहक पदविन्यास अथवा वाक्य। इनमें पदविन्यास का प्रयोजन, क्योंकि कथ्य विचारों को एक स्थान से अन्य स्थान पर ले जाना होता है, अत: प्रधानता कथ्य की होनी चाहिए। किन्तु जब कभी कथ्य को वहन करने के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा शैली आदि विविध कारणों से उद्भूत मनोरमता के कारण कथ्य की अपेक्षा कहीं अधिक, अथवा उसके समान रमणीय हो जाती है, तो उस भाषा को, काव्य कहते हैं। भाषा के द्वारा वहन किये जाने वाला कथ्य भी कभी-कभी अपनी रमणीयता के कारण भाषा को काव्य बना देता है। यह स्थिति तब होती है, जब कथ्य चिन्तनप्रधान, तर्कप्रधान न होकर अनुभूति प्रधान हो। चिन्तन अथवा तर्क प्रधान कथ्य होने पर भाषा का वह क्षेत्र काव्य का क्षेत्र न रहकर शास्त्र का क्षेत्र बन जाता है। तात्पर्य यह है अनुभूति प्रधान मनोरम कथ्य का वहन करने वाली भाषा, अथवा कथ्य की अपेक्षा अधिक रमणीयता युक्त भाषा काव्य कही जाती है। इसमें प्रथम में रमणीयता कथ्य में रहती है और दूसरे में भाषा में, ऐसा सामान्य रूप से प्रतीत होता है। किन्तु इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि कथ्य की रमणीयता मात्र से उसकी वाहक भाषा काव्य अवश्य मान ली जाएगी। रमणीय कथ्य को वहन करने वाली भाषा के पद विन्यास को भी रमणीय

होना ही चाहिए, अन्यथा कथ्य की रमणीयता के भी विलीन हो जाने की सम्भावना रहती है। मल ढ़ोने वाली गाड़ी में स्थापित सुरभित भोज्य पदार्थ भी मल सम्पर्क के कारण अग्राह्य ही हो जाते है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि काव्य की भाषा के उपादान तत्त्व शास्त्र की भाषा के उपादान तत्वों से कुछ भिन्न हुआ करते हैं।

काव्य के इन विशिष्ट उपादान तत्त्वों के सम्बन्ध में आचार्य भरत से लेकर आज तक असंख्य लोगों ने विचार किया है। भरत दण्डी भामह उद्भट वामन कुन्तक आनन्दवर्धन, महिमभट्ट और क्षेमेन्द्र इनमें मुख्य हैं। इनमें से प्रथम ने (भरत ने) रस को काव्य का प्रधान तत्त्व माना था, तो दण्डी और भामह ने अलंकार तत्त्व को। उद्भट के अनुसार वृत्तियां काव्य का मुख्य उपादान तत्त्व हैं तो वामन काव्य की ग्राह्यता अलंकारों के कारण मानते हुए रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं। कुन्तक ने कवि की दृष्टि से काव्य के स्वरूप पर विचार करते हुए वक्रोक्ति को काव्य का जीवन तत्त्व माना है। जबकि क्षेमन्द्र औचित्य को काव्य में सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। दूसरी ओर महाकवि अश्वघोष आदि कुछ कवियों की रचनाओं से प्रतीत होता है कि वे कथ्य को, रामादिवद् वर्त्तितव्यं न रावणादिवत्' को सर्वाधिक महत्त्व देते रहे हैं।

आचार्य आनन्दवर्धन एक समन्वयवादी अथवा व्यापक और उदार दृष्टिकोण रखने वाले आचार्य थे। उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए वस्तु ध्वनि में कथ्य को अलंकार ध्वनि में अलंकारों की उत्कृष्टतम योजना को तथा रस ध्वनि नाम से कवि और सहृदय की मधुरतम अनुभूति को काव्यों में प्रधान तत्त्व स्वीकार किया है।

काव्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सौन्दर्याधायक व्यापक तत्त्व क्या है ? इस प्रश्न पर लम्बा विचार चला है। आनन्दवर्धन के समन्वयवादी ध्वनि सिद्धान्त की आलोचना ही नहीं उसका खुलकर विरोध आनन्दवर्धन के समकालीन मनोरथ आदि आचार्यों ने किया है। इसकी चर्चा उन्होंने स्वयं विस्तार पूर्वक ध्वन्यालोक की प्रथमकारिका और उसकी वृत्ति में की है। ध्वनि सिद्धान्त का समकालीन विद्वानों ने कितना उपहास किया था इसकी कल्पना हम ध्वन्यालोक में ही उद्धृत निम्नलिखित पद्य से कर सकते हैं।

> यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनःप्रह्लादि सालंकृतिः
> व्युत्पन्नैः रचितं न चैव वचनं वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
> काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो
> नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः ।।

आनन्दवर्धन के काव्यविषयक सिद्धान्त (ध्वनि सिद्धान्त) को वस्तुतः दो आचार्यों ने भली प्रकार समझा है, एक अभिनव गुप्त ने और दूसरे राजानक

महिमभट्ट ने। अभिनवगुप्त ध्वनि सामान्य की अपेक्षा रसध्वनि को अधिक महत्त्वशील मानते हैं, दूसरे शब्दों में उनके अनुसार वस्तुध्वनि या अलंकार ध्वनि काव्य की आत्मा नहीं हो सकती। वह रस ध्वनि की अंग होकर ही काव्य में ग्राह्य है ऐसा वे स्वीकार करते थे। इस प्रकार आनन्दवर्धन के मूल ध्वनिसिद्धान्त से उनका मतभेद था, तथापि ध्वन्यालोक पर लोचन टीका लिखने के कारण उन्हें ध्वनि सिद्धान्त का पोषक माना गया है।

महिमभट्ट की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न रही है। इन्होंने ध्वनि सिद्धान्त का समर्थन करने के लिए तार्किकों में प्रचलित पदकृत्य की शैली को अपना कर ध्वनि लक्षण कारिका की परीक्षा की और जहां जहां दोष प्रतीत हुआ वहां परिष्कार करने का प्रयत्न किया। ध्वनि नाम के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि में आक्षेप किये जाने की सम्भावना थी, अतः उन्होंने ध्वनि के स्थान पर काव्यानुमिति नाम को भी प्रस्तावित किया। उनके ही शब्दों में—

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता॥

[व्य० वि० १.२५]

महिमभट्ट द्वारा व्यक्तिविवेक में स्थान स्थान पर प्रासङ्गिक रूप से अनेक स्थलों पर (ग्यारह स्थलों पर) दिये गये काव्य लक्षणों को देखने से हमारे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है—

१. अनुभावविभावाभ्यां वर्णना काव्यमुच्यते। पृ० ९६

२. न गुणालंकारसंस्कृतशब्दार्थमात्रशरीरं तावत्काव्यम्, तस्य रसात्मताभावे काव्यव्यपदेश एव न स्यात्।

३. कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारिकाव्यमुच्यते।

४. तदभावे (रसाभावे) चास्य काव्यतैव न स्यात् किमुत विशेषः। पृ० ९५

५. काव्यमात्रस्य ध्वनित्वपदेशविषयत्वेनेष्टत्वात्। तस्य रसात्मकत्वोपगमात्। पृ० ९२ इत्यादि

उनके अनुसार रसमयता को काव्य सामान्य का लक्षण माना जाना चाहिए। महिमभट्ट कृत काव्य का लक्षण आनन्दवर्धन अभिनवगुप्त मम्मट आदि ध्वनिवादी मुख्यतः रसवादी आचार्यों के द्वारा दिये गये काव्य स्वरूप से भिन्न नहीं है। अतः महिमभट्ट द्वारा उपर्युक्त प्रकार से स्थान स्थान पर दिये गये काव्य लक्षणों को देखकर इन्हें आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त का सिद्धान्ततः विरोधी नहीं कहा जा सकता। फलतः यह स्वीकार करना अनुचित न होगा कि आचार्य महिमभट्ट ने आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वनिलक्षण का पदकृत्य शैली में परिष्कार

कहते हुए अर्थात् लक्षण गत विविध पदों के प्रयोग के कारण सम्भावित दोषों के निराकरण हेतु परिष्कृत लक्षण देते हुए ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन करने का नहीं बल्कि उसकी स्थापना का, उसके सम्पोषण का प्रयत्न किया है, यद्यपि दुर्भाग्यवश उस परिष्कार को प्राय: परवर्ती विद्वानों ने ध्वनि का खण्डन ही माना है, और महिम भट्ट को ध्वनि विरोधी आचार्य के रूप में घोषित किया है। यद्यपि समुद्रवन्ध जैसे कुछ आचार्यों के वचन हमारे कथन को पुष्ट करते हैं। उन्होंने तो अलंकार सर्वस्व की टीका में यह स्वीकार किया है कि महिमभट्ट के रहते व्यंजना व्यापार का अपह्नव करना कथमपि सम्भव नहीं है।[1]

महिमभट्ट का व्यक्तित्व

यद्यपि अन्त: साक्ष्य से यह सिद्ध होता है कि व्यक्तिविवेककार का पूरा नाम 'महिमभट्ट' था,[2] एकावलीकार विद्याधर भी इन्हें 'महिमभट्ट' नाम से ही स्मरण करते हैं[3] तथापि इन्हें कई वार महिमा नाम से[4] और कहीं-कहीं महिमक नाम से भी स्मरण किया गया है।[5] महिमभट्ट स्वयं भी महिमा और महिमक शब्दों से स्वयं को संकेत करते दिखाई पड़ते हैं।[6] इन संक्षिप्त नामों के प्रयोग के पीछे छन्द योजना अथवा श्लेष आदि अलंकार कारण हैं, ऐसा स्वीकार किया जा

---

१. महिमनि जीवति व्यञ्जनाव्यापारस्य कथमपह्नुतत्वम्। समुद्रवन्ध : अलंकार सर्वस्व टीका पृ० ११

२. (क) इति श्री राजानक महिमभट्ट विरचिते व्यक्तिविवेकाख्ये काव्यालंकारे प्रथमो विमर्शः। व्यक्ति विवेक पुष्पिका।
(ख) इति श्री राजानक महिमभट्ट विरचिते·········द्वितीयो विमर्शः। व्यक्तिविवेक पुष्पिका
(ग) श्री राजानक महिमभट्ट विरचिते········तृतीयो विमर्शः। व्यक्तिविवेक पुष्पिका

३. यत्पुनरनुमानतो नातिरिच्यते ध्वनिरित्याचष्ट महिमभट्टः·········। एकावली पृ० ३०

४. मीमांसकप्राप्तमहिमा महिमा महिमादृतः। अलंकार शेखर २१.३

५. (क) व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्। व्यक्तिविवेक १.१
(ख) महिमनि जीवति व्यंजना व्यापारस्य·········। समुद्रवन्ध : अलंकार सर्वस्व टीका पृ० ११

६. (क) व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचाम्। व्यक्ति विवेक १.१
(ख) व्यक्तिविवेको विदधे राजानकमहिमकेनायम्।। वही ३.३६ पुष्पिका

सकता है।[1]

महिमभट्ट के पिता का नाम श्रीधैर्य था एवं श्यामलक महिमभट्ट के गुरू का नाम था ऐसा वे स्वयं संकेत करते हैं।[3] इनमें धैर्य के सम्बन्ध में हमें अब तक कोई सूचना न मिल सकी है।[2] किन्तु श्यामलक का उल्लेख पद्मगुप्त धर्मकीर्ति आदि के साथ क्षेमेन्द्र कृत औचित्यविचारचर्चा में स्पष्ट प्राप्त होता है।[4] इनके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की टीका भारती में [अ० १४] तथा वल्लभदेव आदि आचार्यों ने भी श्यामलक अथवा उनकी भाणकृति पादताडितक का उल्लेख किया है। पादपाडितक श्यामिल की रचना है यह उसकी पुष्पिका 'इति कवेरुदीच्यस्य वीरेश्वरदत्तपुत्रकस्यार्यश्यामिल-कस्य कृतिः पादताडिकं नाम भाणः समाप्तः' से सुनिश्चित है। यहां उन्हें वीरेश्वरदत्त का पुत्र भी स्वीकार किया गया है। के० कृष्णमाचारियर के अनुसार बीरेश्वर का दूसरा नाम ईश्वरदत्त भी था। इस प्रकार महिमभट्ट श्री धैर्य के पुत्र तथा वीरेश्वर के पुत्र श्यामिलक के शिष्य थे। क्योंकि अभिनव गुप्त ने श्यामलक का उल्लेख नामतः अभिनव भारती में किया है, अतः उन्हें अभिनवगुप्त का पूर्ववर्ती होना चाहिए। महिमभट्ट क्योंकि अभिनव के पूर्व वर्ती श्यामिलक के शिष्य हैं, अतः वे अभिनव से पूर्ववर्ती नहीं तो समकालिक अवश्य हैं। कम से कम उत्तरवर्ती तो नहीं हो सकते।

महिमभट्ट की केवल एक कृति व्यक्तिविवेक हमें उपलब्ध हैं। व्यक्ति विवेक में तत्त्वोक्ति कोष नामक एक अन्य ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है। किन्तु यह ग्रन्थ अब तक उपलब्ध न हो सका। महिम भट्ट के अनुसार इस शास्त्रीय

---

१. (क) 'प्रणम्य महिमा परांवाचम्। 'परां वाच्यं प्रणम्य महिमभट्टः' यह एक अर्थ 'महिमापरां वेदवाचं परां वा वाचं' यह द्वितीय अर्थ।

(ख) मीमांसकप्राप्तमहिमा महिमा महिमादृतः। अलंकारशेखर के इस वचन में यमक अलंकार स्पष्ट है।

२. वल्लभकृत सुभाषितावलि में (१२०८) धैर्यमित्रा नायिका का उल्लेख अवश्य है किन्तु वह व्यक्तिवाचक संज्ञा न होकर नायिका का प्रकार भेद है अतः उसे धैर्य का उल्लेख मानना उचित न होगा।

३. श्री धैर्यस्याङ्गभुवा श्यामलकशिष्येण।
व्यक्ति विवेको विदधे............। व्यक्तिविवेक ३.३६

४. History of Skt. Literature : K. Krisnamachariar F. N. 2 P. 173

ग्रन्थ में उन्होंने प्रतिभा के स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया था।[1] महिमभट्ट अपने समय में कविता के सर्वोत्कृष्ट समीक्षक थे यह कहा जा सकता है। इस प्रसंग में उनकी तुलना उनसे पूर्ववर्ती आचार्य आनन्दवर्द्धन से करना अनुचित न होगा। इस प्रसंग में कालिदास कृत कुमारसम्भव के—

'द्वयं गतं' सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतः त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥'

पद्य की समीक्षा करते हुए उनका कहना है कि प्रस्तुत पद्य में 'कपाली के समागम की प्रार्थना शोचनीयता के हेतु के रूप में निबद्ध है। इस सन्दर्भ में कपाली से उपयुक्त अन्य विशेषण हो ही नहीं सकता, क्योंकि कपालधारी सकल अमङ्गल की मूर्ति है। कपालधारणरूप निन्दित आचार के कारण धर्मशास्त्र के अनुसार उसका दर्शन और उससे सम्भाषण भी पाप का हेतु होता है, ऐसी स्थिति में पति के रूप में उसकी प्राप्ति की कामना अतिशय शोचनीय और गर्हित है।[2] यहीं यदि कपालिनः के स्थान पर 'पिनाकिनः' पाठ होता तो वह पाठ शोचनीयता की दृष्टि से सर्वथा अनुचित एवं दोषपूर्ण होता।

महिमभट्ट की इस सूक्ष्म ईक्षिका (समीक्षक-दृष्टि) के कारण परवर्ती आचार्यों ने उन्हें व्यक्तिविवेकार' के नाम से बारम्बार स्मरण किया है।'[3] यह स्मरण निश्चय ही महिमभट्ट के प्रति उनके श्रद्धाभाव को सूचित करता है। इस

---

१. इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितम्।
शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्ये इति नेह प्रपञ्चितम्॥ व्यक्ति विवेक पृ० १०८

२. अत्र कपालिनः इति यत्समागमप्रार्थनायाः शोचनीयतागतौ हेतुत्वेनोपात्तायाः सम्बन्धिद्वारेण विशेषणं तत् तस्यास्तत्र यत्सामर्थ्यं तत्सुतरामुपबृंहयति, तस्य सकलामङ्गलनिलयतया निन्दिताचारनिरततया च दर्शनसम्भाषणादीनामपि प्रतिषिद्धत्वात्। वही पृ० २०३-४

३. (क) यत्तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रति……नेह प्रपञ्च्यते।
अलंकार सर्वस्व पृ० ११.
(ख) ध्वनिकारान्तर्भावी व्यक्तिविवेककार इति। जयरथ : विमर्शिनी
पृ० ११
(ग) व्यक्तिवादिनेति व्यक्तिविवेककारेण। काव्यप्रकाश संकेत पृ०११९
(घ) व्यक्तिविवेककारेणाप्युक्तम्—
'काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः।
(ङ) प्रधानोपसर्जनीभावत्वप्रयोजकः इति व्यक्तिविवेककारः।
मल्लिनाथ किराता० टीका ३.२१

कथन में भी 'व्यक्तिविवेककार' पद के प्रयोग में 'व्यक्तिविवेक' जैसे अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से विवेचना करने वाले अतएव अतिशय महनीय ग्रन्थ के कर्त्ता होने से गौरव भाव की सुस्पष्ट व्यञ्जना होती है।

व्यक्तिविवेक में उपलब्ध अन्तःसाक्ष्य से विदित होता है कि व्यक्तिविवेक की रचना महिमभट्ट ने किसी शास्त्र (शास्त्रीय ग्रन्थ) की रचना के उद्देश्य से नहीं की थी, बल्कि वे अपने यशस्वी जामाता भीम के पुत्रों (अपने दौहित्रों) को काव्यशास्त्र की शिक्षा दे रहे थे, उसी क्रम में अर्थात् उन्हें पूर्ण व्युत्पन्न बनाने की दृष्टि से उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की थी।[1]

महिमभट्ट स्वभाव से अत्यन्त विनयी और उदार थे। किसी में दोष दर्शन करना अथवा अपनी सहमति न होने की स्थिति में दूसरे के प्रति घृणा करना अथवा उसके प्रति आदर सम्मान में कमी होना, उनके स्वभाव के सर्वथा विपरीत था। इस स्वभाव के व्यक्ति को कहीं किसी रचना में किसी व्यक्ति में, अथवा किसी व्यक्ति के व्यवहार में कभी दोष के दर्शन होते ही नहीं। उनके अनुसार दोष दर्शन भाग्यहीन व्यक्ति ही करते हैं। क्योंकि किसी काव्य में काव्यत्व तभी स्वीकार किया जा सकता है, जब वह गुणों अलंकारों से युक्त हो तथा निर्विघ्न रस की प्रतीति के लिए दोषों से रहित हो। अतः छात्रों की व्युत्पत्ति के लिए उनके द्वारा बारम्बार आग्रह करने पर उन्होंने (महिमभट्ट ने) व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श में काव्यदोषों का विवेचन किया है। विनयी स्वभाव के कारण इस कार्य में अर्थात् दोषों का सोदाहरण विवेचन करने में उनकी किञ्चित्मात्र भी रुचि नहीं थी, अपितु उन्हें दोष विवेचन करते हुए प्रतिपल ग्लानि का अनुभव हो रहा था। इस तथ्य को वे स्वयं स्वीकार करते हुए कहते हैं कि छात्रों की बारम्बार प्रार्थना के फलस्वरूप दोष विवेचन करते हुए मुझे सन्मार्ग (सत्पुरुषों द्वारा सेवित मार्ग) को छोड़ना पड़ रहा है और भाग्यहीन जनों द्वारा किये जाने वाला दोपदर्शन रूप कार्य करना पड़ रहा है।[2]

महिमभट्ट के उपर्युक्त वचन में 'उत्सृज्य मार्गं सताम्' और 'अभाग्यभाजन-जनासेव्यम्' पद समूह बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, जिनका प्रयोग उन्होंने दोष विवेचन के क्रम में अपने लिए किया है। इन पदों से हम महिम भट्ट के उदार और विनयी स्वभाव की कल्पना कर सकते हैं और इस स्थिति में जब हम उनके द्वारा की गयी

---

१. आधातुं व्युत्पत्तिं नप्तॄणां योगक्षेमभाजानाम्।
सत्सु प्रथितयशसां भीमस्यामितगुणस्य तनयानाम्। व्यक्तिविवेक ३.३५

२. छात्राभ्यर्थनया ततोऽद्य सहसैवोत्सृज्य मार्गं सताम्।
पौरोभाग्यमभाग्यभाजनजनासेव्यं मयाङ्गीकृतम्॥ व्यक्तिविवेक २.१

आनन्दवर्धन की ध्वनिकारिका की समीक्षा, उसमें दस दोषों की सम्भावना और उनके परिहार के लिए दिये गये परिशुद्ध काव्यानुमिति (ध्वनि) का लक्षण देखते हैं तो हमें विवश होकर स्वीकार करना पड़ता है कि यह कार्य उन्होंने आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त के समर्थन के लिए, उसे परिपुष्ट करने के लिए, ही किया है, खण्डन करने के उद्देश्य से नहीं। फिर भी यह दुर्भाग्य की ही बात है कि परवर्ती विद्वानों ने मुख्यतः आधुनिक विद्वानों ने उन्हें ध्वनिविरोधी (आनन्दवर्धन के के ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन करने वाला) स्वीकार किया है और इसी कारण इनकी उपेक्षा भी की है।

महिमभट्ट का स्थितिकाल

जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है महिमभट्ट ने अपने जीवन काल के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं दी है, फिर भी इस सम्बन्ध में कोई अधिक मतभेद नहीं है। क्योंकि महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थ व्यक्तिविवेक में आचार्य आनन्दवर्द्धन के ध्वनि सिद्धान्त की आलोचना को ही प्रधान प्रतिपाद्य बनाया था, जो कल्हण की राजतरंङ्गिणी के अनुसार राजा अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में विद्यमान थे।[1] इसके अतिरिक्त व्यक्तिविवेक में आचार्य अभिनवगुप्त तथा आचार्य कुन्तक के उद्धरण तथा उनकी आलोचना प्राप्त होती है,[2] इनका कार्यकाल निश्चित रूप से ई० ९७० ए. डी. से १०५० ए. डी. के मध्य है[3] अतः महिमभट्ट को निश्चित

---

१. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्द्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः। —राजतरङ्गिणी ५-३४

२. (क) अत्र केचिद् विद्वन्मानिनो द्विवचनसमर्थनमनोरथा······एवं च भट्टनायकेन द्विवचनं यद्दूषितं तद् गजनिमीलिकयैव। अर्थः शब्दो वेति तु विकल्पाभिधान प्राधान्याभिप्रायेण' इति यदुक्तं (ध्वन्यालोक लोचन पृ. ३३) तद् भ्रान्तिमूलं न तत्त्वम्।ः —व्यक्ति विवेक ५.१९ त्रिवेन्द्रम संस्करण

(ख) यत्पुनः—शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनौ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणि॥
इत्यादिना।······वक्रत्वं नाम काव्यस्य जीवितमिति सहृदयमानिनः केचिदाचचक्षिरे······॥
—वही पृ० २८

(ग) काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एव स निर्दशितो मया॥ —वही पृ० ५८

३. (क) अतएव अभिनवगुप्तपादाचार्य का समय सन् ९७० से १०५० ई० तक के लगभग हो सकता है॥
—संस्कृत साहित्य का इतिहास कन्हैयालाल पोद्दार, पृ० १४२
अतएव कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित का समय अभिनवगुप्तपादाचार्य के अन्तिम समय······सम्भवतः ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी का प्रथम चरण हो सकता है॥
—वही पृ० १४६

रूप से १०५० से परवर्त्ती होना चाहिए। इसके साथ ही आचार्य मम्मट जिनका समय निश्चित रूप से १०२५ से १०७५ के बीच माना जाता है,[1] के काव्य-प्रकाश, में महिमभट्ट के काव्यसिद्धान्त की आलोचना प्राप्त होती है, अतः अभिनवगुप्त एवं मम्मट के मध्य महिमभट्ट का कार्य-काल ग्यारहवीं शती का द्वितीय चरण मानना चाहिए।

रचना-परिचय

आज हमें महिमभट्ट की केवल एक कृति व्यक्तिविवेक उपलब्ध है, जो तीन विमर्शों में विभक्त है। इसमें प्रथम विमर्श में आनन्दवर्द्धन की ध्वनिकारिका :—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥[2]

की विस्तार पूर्व की आलोचना की गयी है तथा उसमें दस दोषों की सम्भावना दिखाकर उनके निराकरण हेतु लक्षण को परिशुद्ध करते हुए नवीन लक्षण प्रस्तुत किया गया है।[3] जो एक प्रकार से काव्यानुमिति का लक्षण सिद्ध होता है।

द्वितीय विमर्श में काव्य के सौन्दर्य में विघात करने वाले दोषों का (बहिरंग दोषों का) विस्तृत विवेचन किया है, जिसका अध्ययन प्रस्तुत प्रबन्ध के उत्तरार्द्ध में किया गया है।

तृतीय विमर्श में आचार्य आनन्दवर्द्धन द्वारा ध्वन्यालोक में ध्वनि के विविध उदाहरणों के रूप में उद्धृत पद्यों को काव्यानुमिति के भेदों में समाविष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, तथा जो पद्य उसके भेदों के समाविष्ट नहीं हो पाते उनकी ध्वन्यात्मकता (काव्यात्मता) को ही अमान्य सिद्धकर दिया गया है।

व्यक्तिविवेक के अतिरिक्त महिमभट्ट की एक अन्य कृति 'तत्त्वोक्तिकोश'

---

१. अतः आचार्य मम्मट का समय १०२५ और १०७५ के मध्य में हो सकता है। —वही, पृ० १७०

२. ध्वनिकारिका १.१३

३. वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
सम्बन्धतः कुतश्चित्सा काव्यानुमितिरित्युक्ता॥ इति।
एतच्चानुमानस्यैव लक्षणं नान्यस्य……।
काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः।
संज्ञायां सा केवलमेषापि व्यक्त्ययोगतोऽस्य कुतः।
—व्यक्तिविवेक पृ० २२

का उल्लेख व्यक्तिविवेक में प्राप्त होता है।[1] इस ग्रन्थ में काव्य के स्वरूप, काव्यहेतु तथा काव्यांगों का विवेचन रहा होगा। सम्भवत: इसीलिए महिमभट्ट ने उसे शास्त्र संज्ञा दी थी। किन्तु यह ग्रन्थ न तो अब तक प्राप्त हो सका है, और न इसका कहीं अन्यत्र उल्लेख ही मिल सका है।

यद्यपि अब तक आचार्य महिमभट्ट की कृतियों की ओर मान्य विद्वानों का ध्यान प्राय: उचित मात्रा में नहीं गया था, किन्तु वर्तमान शताब्दी के विद्वानों ने अब इसका मूल्यांकन करना प्रारम्भ किया है। इस दिशा में दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्राध्यापक डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी का 'महिमभट्ट' नामक शोध ग्रन्थ एक उत्कृष्ट प्रयास है, जो परवर्त्ती विद्वानों को महिमभट्ट के वास्तविक मूल्यांकन में पर्याप्त सहायक सिद्ध हो रहा है।

---

१. इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितम्।
शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्ये इति नेह प्रपंचितम्॥

—व्यक्ति विवेक, पृ० १०८

प्रथम अध्याय

महिम भट्ट का काव्य सिद्धान्त

काव्यदोष क्योंकि काव्य के काव्यत्व में अथवा उसके प्रयोजन की सिद्धि में और उसके उपादान तत्त्वों पर व्याघात पहुँचाने वाले तत्त्व होते हैं, अतः काव्य में दोष सिद्धान्त की मीमांसा से पूर्व काव्य स्वरूप पर विचार कर लेना अधिक उचित होगा, अतएव प्रस्तुत प्रकरण में हम महिम भट्ट की दृष्टि में काव्य का वास्तविक स्वरूप क्या है, इस प्रश्न पर ही विचार करेंगे। 'कवेरिदं काव्यम्'[1] इस व्युत्पत्ति के अनुसार कवि की रचना ही काव्य है यह माना जा सकता है, किन्तु अब पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि कवि शब्द का तात्पर्य क्या है?

संस्कृत वाङ्मय में 'कवि' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है। यजुर्वेद में एक स्थल पर परमेश्वर के लिए 'कवि' शब्द का प्रयोग मिलता है।[2] पुराणों में वेदों के प्रकाशक ब्रह्मा के लिए 'कवि' शब्द का प्रयोग हुआ है।[3] इसके अनन्तर संस्कृत वाङ्मय की प्रथम लौकिक पद्य रचना रामायण के कर्त्ता (रचयिता) वाल्मीकि के लिए 'आदि कवि' शब्द का व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास भी लोक व्यवहार में 'कवि' कहे जाते हैं।

उपर्युक्त प्रत्येक प्रयोग में 'कवि' शब्द का तात्पर्य एक विशिष्ट रचना के कर्त्ता होने से है। अभिधान ग्रन्थों में शुक्राचार्य को भी कवि कहा गया है,[4] वहां भी सम्भवतः नीति सम्बन्धी किसी महत्त्वपूर्ण रचना के निर्माता होने की भावना ही निहित है। कहीं-कहीं कवि शब्द विद्वान् अथवा पण्डित अर्थ में भी प्रयुक्त होता रहा है।[5] साहित्य के

---

१. मेदिनीकोष.........।

२. सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ यजु० ४०.८

३. तेन ब्रह्महृदा य आदि कवये......श्रीमद्भागवत् १.१.१ इत्यादि।

४. उशना भार्गवः कविः। अमर कोष।

५. संख्यावान्पण्डितः कविः। अमर कोष।

क्षेत्र में कवि पद केवल सामान्य ज्ञानी के लिए प्रयुक्त होता हो यह बात नहीं है। यहां कवि शब्द का अभिप्रेत अर्थ उपर्युक्त अर्थ से कुछ भिन्न है।

अलंकार शास्त्र के प्रथम आचार्य भामह ने 'नित नवीनतम भावों के उन्मेष में सफल-प्रतिभा से युक्त और उस प्रतिभा द्वारा वर्णन करने में निपुण व्यक्ति को कवि कहा है।'[1] इसी प्रकार काव्यशास्त्र के अन्य आचार्यों ने भी लोकोत्तर वर्णना में निपुण व्यक्ति को ही कवि मान कर[2] भामह की उक्त मान्यता को स्वीकार किया है। साहित्य के क्षेत्र में कवि शब्द का यही स्वीकृत अर्थ है। जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि 'कवि वह है जो सृष्टि के सौन्दर्य का साक्षात्कार कर उसके सम्पूर्ण चमत्कार पूर्ण वर्णन में सक्षम हो।' उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न व्यक्ति की चमत्कारपूर्ण रचना कवि कर्म होने से काव्य है, यह कहा जा सकता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने काव्य को कवि कर्म कहकर ही सन्तोष नहीं किया है, बल्कि प्रायः सभी आचार्यों ने काव्य की एक विशिष्ट परिभाषा देने का प्रयत्न किया है, जिसमें उनका भाषादर्शन और भाषा के प्रभाव के प्रसंग में उनका चिन्तन प्रतिबिम्बित होता है।

भरत

नाट्य शास्त्र के रचयिता महामुनि भरत के अनुसार 'नाटक के दर्शक उसे काव्य अथवा उत्तम काव्य मानते हैं जो कोमल और मनोहर पदों से युक्त, गूढ शब्द और अर्थ रहित, सब लोगों के समझने में सुगम, युक्ति युक्त, नृत्य में उपयोग करने योग्य, रस के अनेक स्रोत बहाने

---

१. प्रज्ञा नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। तदनुप्राणनाज्जीवेद् वर्णनानिपुणः कविः।—काव्यालंकार सूत्र वृत्ति १.१.१ कामधेनु टीका में भामह के नाम से उद्धृत।

२. (क) लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कवि (कर्म)। काव्य प्रकाश, पृ० १२

(ख) कविशब्द कवृ वर्णने इस धातु से निष्पन्न है।

वाला और सन्धियों के सन्धान से युक्त हो ।"[१]

भरत के इस काव्य लक्षण में काव्य के सात विशेषण है, प्रथम और द्वितीय विशेषण में काव्य के उपयोगी शब्दार्थ का ग्रहण है, प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय विशेषणों में माधुर्य और प्रसाद आदि गुणों का ग्रहण है, साथ ही द्वितीय विशेषण में दोषों से रहित होना भी कहा गया है। चतुर्थ विशेषण में अलंकार योजना की ओर संकेत है। छठे विशेषण में काव्य का रसयुक्त होना कहा गया है। इनके अतिरिक्त पंचम और सप्तम विशेषणों में दृश्य काव्य के उपयोगी विषयों का ग्रहण है।

इस आधार पर हम कह सकते हैं कि भरत मुनि की दृष्टि में काव्य वह शब्दार्थ समूह है, 'जो दोष रहित होकर अलंकार गुण और रसों से युक्त हो तथा अभिनय के प्रसंग में वह उसका (अभिनय का) अंग बन सके।'

भामह

भरत के अनन्तर हमें अलंकार शास्त्र के प्रथम आचार्य भामह का काव्य लक्षण प्राप्त होता है। उसके अनुसार 'सहित शब्द और अर्थ काव्य है।'[२] एक प्रसंग में, किन्तु लक्षण से अन्य स्थल पर, उन्होंने पुनः कहा है कि 'दोष युक्त एक पद का भी कभी प्रयोग न करना चाहिए।'[३] एक अन्य वाक्य में उनका कहना है कि 'स्त्री का सुन्दर मुख भी 'भूषण रहित होने पर शोभित नहीं होता।'[४] (अर्थात् इसी प्रकार उत्तम काव्य भी अलंकारों के बिना शोभित नहीं होते।) इसके अतिरिक्त वे

---

१. मृदुललितपदाढ्यं, गूढशब्दार्थहीनं,
जनपदसुखबोध्यं, युक्तिमन्नृत्ययोज्यम् ।
बहुकृतरसमार्गं, सन्धिसन्धानयुक्तं,
स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षणानाम् ॥ नाट्यशास्त्र १६.११८

२. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् । —भामह काव्यालंकार १.१६

३. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ॥ —भा० काव्यालंकार १.११

४. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ॥ —भा० काव्यालंकार १.१३

यह भी मानते हैं कि 'काव्य को लौकिक स्वाभाविकता और रस इन दोनों से भी युक्त होना चाहिए।'[1]

सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भामह के अनुसार 'काव्य शब्द और अर्थ की एक विशिष्ट समष्टि है, इसमें दोषों का पूर्णतः अभाव तो होना ही चाहिए साथ ही इसे स्वाभाविकता और रस से युक्त होना चाहिए तथा अलंकारों का होना भी इसमें परम आवश्यक है।

भामह के इस काव्य लक्षण में जहां निर्दोष पदों के प्रयोग पर बल दे कर शब्द और अर्थ आश्रित बहिरंग दोषों से बचने की ओर संकेत है, वहीं 'युक्तं लोकस्वभावेन' अर्थात् स्वाभाविकता से युक्त कहते हुए उन रस दोषों से भी बचने का संकेत कर दिया गया है, नाट्य शास्त्र के टीकाकार अभिनव गुप्त ने रस प्रतीति में विघ्न के रूप में जिनका संकेत किया है।[2]

दण्डी

भामह के अनन्तर दण्डी ने काव्य स्वरूप पर विचार किया है। इन्होंने शब्द और अर्थ के सम्मिलित रूप को काव्य न कहकर 'अभिलषित अर्थ से पूर्ण पदसमूह को काव्य का शरीर कहा है।'[3] साथ ही भामह के समान इन्होंने भी शरीरभूत उस पदावली का पूर्णतः निर्दोष होना आवश्यक माना है, उनका कहना है कि काव्य में दोष की उपेक्षा

---

१. युक्तं लोकस्वभावेन दोषैश्च सकलैः पृथक् ॥ —भा० काव्यालंकार १.२१

२. अभिनव गुप्त ने रस प्रतीति के प्रसंग में सात विघ्न माने हैं जिनमें सर्वप्रथम है, प्रतिपत्ति में अयोग्यता अर्थात् सम्भावना का अभाव। (विघ्नाश्चास्यां सप्त प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावनाविरहो नाम) इस विघ्न की निवृत्ति के लिए उन्होंने 'लोक सामान्य रामादि नायक का ही वर्णन करना' उपाय बताया है। (तदपसारणे हृदयसंवादी लोकसामान्यवस्तुविषयः। अलोकसामान्येषु तु चेष्टितेषु······अखण्डितप्रसिद्धिजनितगाढारूढ़प्रत्यये प्रसरकारी, प्रख्यातरामादिनामधेयपरिग्रहः।—नाट्य शास्त्र अभिनव भारती टीका (रस सूत्र व्याख्या) पृ० ४७४

३. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। —काव्यादर्श १.१०

कभी भी न करनी चाहिए क्योंकि जैसे श्वेत कुष्ठ के एक दाग से ही सुन्दर शरीर भी असुन्दर हो जाता है, इसी भांति एक दोष के भी स्पर्श से काव्य अग्राह्य हो जाता है।[१] दण्डी के अनुसार काव्य शरीर को दोष से बचाते हुए अलंकारों से युक्त करना चाहिए[२] क्योंकि वे समस्त अलंकार अर्थ को सरस बना देते हैं।[३]

इस प्रकार दण्डी के अनुसार 'वह पदावली काव्य है, जो दोषों से पूर्ण निर्मुक्त, अलंकारों से युक्त अतएव सरस होते हुए अभिप्रेत अर्थ को प्रगट कर रही हो।'

दण्डी के इस काव्य लक्षण में रस के लिए साधक होने से अलंकारों को उपादेय कहा गया है, तथा अधिक स्पष्ट कारण का निर्देश किये बिना ही दोषों को पूर्णतः त्याज्य स्वीकार किया गया है और माना गया है कि इन दोषों के कारण इष्टार्थ की प्रतीति में बाधा उपस्थित होती है।[४]

अग्निपुराण

भारतीय संस्कृति के अनन्त और अगम भण्डार पुराणों में से अन्यतम 'अग्निपुराण' में भी काव्य स्वरूप आदि के सम्बन्ध में चर्चा प्राप्त होती है, इसके अनुसार 'स्फुट अलंकारों से युक्त, गुणों से सम्पन्न, दोषों से मुक्त, अभिलषित अर्थ को प्रगट करने वाला संक्षिप्त वाक्य 'काव्य' कहाता है?'[५]

अग्निपुराणकार के इस काव्य लक्षण में दण्डी के काव्य लक्षण से पूर्ण समानता है। दण्डी ने काव्य लक्षण में जिसे पदावली कहा है, यहां उसे ही 'संक्षेप वाक्य' कहा गया है। फलतः दण्डी के समान इनके

---

१. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कदाचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ —काव्यादर्श १.७

२. तैः शरीरञ्च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः॥ —काव्यादर्श १.१०

३. कामं सर्वोप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति॥ —काव्यादर्श १.६२

४. दोषाः विपत्तये तत्र गुणाः सम्पत्तये तथा॥ —काव्यादर्श ४.१

५. संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्॥ —अग्नि पुराण ३३७.६-७

अनुसार भी काव्य को गुण और अलंकारों से युक्त, दोषों से मुक्त तथा इष्ट अर्थात् सरस अर्थ से सम्पन्न होना चाहिए।

वामन

दण्डी के अनन्तर काव्य शास्त्र के इतिहास में रीति सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य वामन का उदय होता है। वामन के अनुसार 'गुण और अलंकारों से संस्कृत शब्दार्थ को काव्य कहते हैं।'[1] वह काव्य अलंकारों से अलंकृत होकर पाठकों द्वारा ग्राह्य होता है।[2] इसी प्रसंग में अलंकार, सामान्य का परिचय देते हुए उन्होंने कहा है कि 'सौन्दर्य ही अलंकार है, तथा काव्य में यह सौन्दर्य तब आ पाता है जब दोषों का त्याग और गुण तथा अलंकारों का आदान (ग्रहण) किया जाये।[3]

वामन की दृष्टि में उपर्युक्त, दोषरहित एवं गुणालंकार संस्कृत-शब्दार्थरूप 'काव्य शरीर' में आत्मा के समान वैदर्भी, गौडीया, और पांचाली नामक रीतियां विद्यमान रहती हैं।[4] ये रीतियां और कुछ नहीं केवल गुणों (काव्य शोभादायक धर्मों) की समग्रता या न्यूनाधिकता है।[5] तथा दोष है उन्हीं गुणों का वैपरीत्य।[6]

इस प्रकार वामन की दृष्टि में काव्य वह शब्दार्थ समूह है जो

---

१. काव्यशब्दोऽयं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्त्तते। भक्त्या तु शब्दार्थ-मात्र वचनोऽत्र गृह्यते॥ —काव्यालंकार सूत्र वृत्ति १ : १.१

२. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्॥ —काव्यालंकार सूत्र वृत्ति १.१.१

३. सौन्दर्यमलंकारः, स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्। काव्यालंकार सू० वृ० १.१.२.३

४. (क) रीतिरात्मा काव्यस्य। (वृत्तिः) रीतिर्नामियमात्मा काव्यस्य। शरीर-स्येवेति वाक्यशेषः। काव्यालंकार सू० वृ० १.२.६
   (ख) विशिष्टा पदरचना रीतिः, विशेषो गुणात्मा, सा च त्रिधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली च। —वही १.२.७-९

५. (क) समग्रगुणोपेता वैदर्भी। —१.२.११
   (ख) ओजः कान्तिमती गौडीया। —१.२.१२
   (ग) माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली। —१.२.१३
   (घ) काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः। —३.१.१

६. (क) गुणविपर्ययात्मानो दोषाः। —२.१.१

समग्र अथवा असमग्र, न्यून अथवा अधिक गुणों से युक्त, सौन्दर्य सम्पन्न हो तथा गुणों के विरोधी अथवा गुणों से विपरीत स्वरूप वाले दोषों से पूर्ण निर्मल हो।

वामन के अनन्तर संस्कृत अलंकार शास्त्र के क्षेत्र में रुद्रट का उदय होता है। इन्होंने भामह का अनुकरण करते हुए शब्द और अर्थ को काव्य माना है[1] परन्तु साथ ही उनके विवेचन से स्पष्ट है कि वे भी दोषरहित और अलंकार सहित शब्दार्थ को ही काव्य मानते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने काव्य में रस की सत्ता का होना भी परमावश्यक बतलाया है। क्योंकि रस के बिना सभी रचनाएँ विरस हो जाती हैं।[2]

इस प्रकार रुद्रट की दृष्टि में दोष से रहित अलंकारों से अलंकृत तथा सरस शब्दार्थ ही काव्य कहाते हैं।

इन्हीं दिनों नवम शताब्दी में आलोचना जगत् में आचार्य आनन्द वर्द्धन का उदय होता है। इन्होंने काव्य के लिए पूर्व स्वीकृत सभी तत्त्वों को अंग के रूप में स्वीकृति देते हुए मुख्य रूप से ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की, उसी ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनके अनुसार 'जहां शब्द और अर्थ क्रमशः अपने अर्थ और स्वरूप को गौण बनाकर अन्य अर्थ को प्रगट करते हैं, उस काव्य विशेष

---

१. ननु शब्दार्थौ काव्यम्। काव्यालंकार (रुद्रट) २.१ (अत्र ननु शब्दः पृष्टप्रतिवचने। —नमिसाधु)

२. (क) तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
—काव्यालंकार १२.२ पृ० १५०

(ख) अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम्।
तदिति विरचनीयः सम्यगेष प्रयत्नात्
भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम्॥ —वही १४.३८

(ग) एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंसः,
सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं
काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत॥
—वही १५.२१

को ध्वनि कहते हैं।"[1] यह ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।[2]

आनन्द वर्द्धन से पूर्व समस्त आचार्यों ने काव्य के शरीर का ही लक्षण किया था किन्तु इन्होंने आत्मा का साक्षात्कार कर एक नवीन रहस्य का उन्मीलन कर दिया। जो उस काल से आज तक के काव्याचार्यों के लिए आदर्श रूप से ग्राह्य है। किन्तु इस ध्वनि को आनन्दवर्द्धन ने काव्य लक्षण के रूप में कभी व्यवहार नहीं किया है। अपितु पूर्व आचार्यों द्वारा स्थापित काव्य लक्षण सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों का समन्वय करने का ही प्रयत्न किया है। इतना अवश्य है कि उन्होंने लक्षण करते हुए कहीं भी काव्य शरीर को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। उनकी दृष्टि में सहृदय हृदय को आह्लादित करने वाला शब्दार्थमय स्वरूप ही काव्य है।[3]

यद्यपि आनन्दवर्द्धन से उत्तरकालीन आचार्यों में प्रायः सभी ने इनके ध्वनि सिद्धान्त को पूर्णतः ग्राह्य माना है, तथापि कुछ आचार्य ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने ध्वनिवाद की स्थापना के अनन्तर भी नवीनतम काव्य-रहस्य के अनुसन्धान में प्रयत्न शिथिल नहीं किया था। ऐसे आचार्यों में कुन्तक और महिम भट्ट मुख्य हैं। इनमें सर्वप्रथम कुन्तक ने आनन्द वर्द्धन के काव्य-लक्षण पर विचार किया और देखा कि इसमें काव्यत्व का दर्शन पाठक की दृष्टि से किया गया है, यदि सहृदय किसी रचना द्वारा आह्लादित हो जाता है, तो वह काव्य है, अन्यथा अकाव्य। इसमें फिर कवि का क्या गौरव रहा। उसका क्या महत्त्व रहा ? इस प्रकार के काव्य चिन्तन में तो कवि एक प्रकार से पूर्णतः तिरोहित ही हो गया है।[4] अतएव उसने रचनाकार की दृष्टि से काव्य की परिभाषा

---

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः। —ध्वन्यालोक १.१४

२. काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुनः।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ —ध्वन्यालोक १.५

३. सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।
—ध्वन्यालोक १.१ पृ० ६

४. यद्यपि ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि दर्शन की स्थापना में इस बात पर पूरा ध्यान रखा था कि 'काव्य' कवि की दृष्टि से 'रसदृष्टि' है और सहृदय की

पुनः उपस्थित की और कहा कि 'काव्य' और कुछ नहीं केवल 'कवि कर्म है'।[१] कवि कर्म की व्याख्या उपस्थित करते हुए उन्होंने पुनः कहा कि 'जो अलंकार सहित, अवयव रहित समस्त शब्दार्थ समुदाय है वही कवि कर्म अर्थात् काव्य है।[२] इसका तात्पर्य यह हुआ कि :

१. अलंकार सहित शब्द और अर्थ ही काव्य है।

२. अलंकार काव्य का मूलतत्त्व है, बाह्य भूषणमात्र नहीं।

३. काव्यत्व की स्थिति अलंकार और अलंकार्य शब्द और अर्थ के अवयव रहित समस्त समुदाय में ही रहती है।

इसे ही और भी स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने पुनः कहा कि:—'काव्य-मर्मज्ञों को आनन्द देने वाली, सुन्दर (वक्र) कवि व्यापारयुक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर (सहित रूप में) काव्य कहलाते हैं।'[३]

काव्य लक्षण के प्रसंग में उपर्युक्त कारिका की व्याख्या करते हुए कुन्तक ने काव्य का निम्नलिखित स्वरूप स्थापित किया है :—

१. 'काव्य का आधार विशिष्ट शब्द-अर्थ है। विशिष्ट शब्द से तात्पर्य यह है कि अनेक पर्याय रूपों के रहते हुए भी केवल एक शब्द ही विवक्षित अर्थ का अनिवार्यतः वाचक होता है। वाचक का प्रयोग यहां रुढ़ अर्थ में नहीं है, उसमें द्योतक तथा व्यंजक का भी अन्तर्भाव है, विशिष्ट अर्थ से अभिप्राय यह है कि पदार्थ के अनेक धर्मों में से केवल उसी धर्म का ग्रहण किया जाता है, जिसमें अपूर्वता तथा रस पोषण की शक्ति हो।

२. काव्य के लिए इस विशिष्ट शब्द-अर्थ का पूर्ण साहित्य अनिवार्य है। साहित्य का अर्थ है पूर्ण सामंजस्य : शब्द और अर्थ दोनों का

दृष्टि से 'रसानुभूति', किन्तु वक्रोक्तिवाद ने ध्वनिवाद के खण्डन में इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। —काव्यप्रकाश भूमिका-डा० सिंह, पृ० २०

१. कवेः कर्म काव्यम्। —वक्रोक्ति जीवित १.२

२. ···तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता १.६

···अयमत्र परमार्थः सालंकारस्यालंकरणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः काव्यता कविकर्मत्वमिति स्थितिः। —१.६ (वृत्तिः)

३. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनौ।
बन्धेव्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ —वक्रोक्ति जीवित १.७

समान महत्त्व होना। किन्तु यह तो अभावात्मक स्थिति हुई। शब्द अर्थ का यह साहित्य भावात्मक रूप से गुणालंकार सम्पदा से युक्त होना चाहिए। इनमें शब्द सौन्दर्य और अर्थ सौन्दर्य अहमहमिकया एक दूसरे से स्पर्धा करते हैं। अर्थात् काव्य अपने समस्त सौन्दर्य के साथ और अर्थ अपनी समस्त रमणीयता के साथ परस्पर पूर्णतया समंजित रहते हैं।

३. यह सामंजस्य शब्द-अर्थ के बन्ध, अर्थ-रचना या क्रम-बन्धन में व्यक्त होता है। यह रचना सामान्य व्यवहार की वचन रचना से भिन्न वक्रतापूर्ण एवं कवि कौशल युक्त होती है। कुन्तक की शब्दावली में वक्रता अलंकार अथवा कवि कौशल का ही पर्याय है, अत एव वक्रकविव्यापारशाली बन्ध का स्पष्ट अर्थ है कवि कौशल पूर्ण रचना। 'सालंकारस्य काव्यता' में भी उन्होंने प्रकारान्तर से यही बात कही है।

४. यह सम्पूर्ण व्यवस्था—शब्द, अर्थ, उनका साहित्य कवि कौशल तथा रचना—सहृदय आह्लादकारी होती है।[1]

काव्य के उपर्युक्त स्वरूप में 'विशिष्ट शब्द' और 'अर्थ' का ग्रहण प्रकारान्तर से दोषरहित और गुणयुक्त शब्दार्थ की ओर ही संकेत करता है, तथा 'वक्र-कवि-व्यापार' शब्द अलंकार का ही प्रकारान्तर से कथन करता है। इस प्रकार कुन्तक के काव्यलक्षण में भी पूर्व आचार्यों द्वारा स्वीकृत गुण अलंकार से विशिष्ट शब्दार्थ को ही प्रकारान्तर से काव्य कहा गया है। इस लक्षण में कुन्तक ने यद्यपि दोषाभाव की ओर स्पष्ट शब्दों में संकेत नहीं किया है, तथापि विशिष्ट शब्दार्थ सदोष होने पर विशिष्ट नहीं कहा जा सकता, अतः प्रकारान्तर से वैशिष्ट्य कथन ही दोषाभाव की अनिवार्यता का सूचक है, यह माना जा सकता है।

भोज

भोज ने यद्यपि सरस्वती कण्ठाभरण में काव्यशास्त्र के विविध अंगों का विवेचन करते हुए भी काव्य स्वरूप के विषय में स्पष्टतया कुछ नहीं लिखा है, किन्तु अन्य प्रसंग (काव्य-प्रयोजन या काव्य करने

---

१. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित-भूमिका—नगेन्द्र, —पृ० १८

का फल लिखने के प्रसंग) में काव्य का स्पष्ट स्वरूप चित्रित कर दिया है। उन्होंने लिखा है कि :—

'दोष रहित, गुण युक्त, अलंकारों से अलंकृत तथा रस युक्त काव्य का निर्माण करता हुआ कवि प्रीति और कीर्ति दोनों ही प्राप्त करता है।'[1]

भोज राज ने इस प्रसंग में काव्य का जो स्वरूप स्वीकार किया है उसमें दोषाभाव को सर्वप्रथम स्थान देकर दोषों के त्याग को अनिवार्य और कवि का प्रथम कर्त्तव्य मान लिया है।

काव्य लक्षण के प्रसंग में इस काल तक के प्रायः सभी आचार्यों ने (ध्वनिकार को छोड़कर) दोष रहित गुण युक्त और अलंकारों से युक्त सरस रचना को काव्य कहा था।

मम्मट

आचार्य मम्मट ने उस परम्परा को तोड़ते हुए क्रान्तिकारी पग उठाया, इन्होंने काव्य लक्षण में दोषों का अभाव और गुणों की सत्ता को तो आवश्यक माना किन्तु अलंकारों का होना अनिवार्य नहीं माना। उनका कहना है कि यदि कहीं अलंकार न भी हों तो भी वह काव्य रहता ही है।[2]

परवर्त्ती आचार्यों में हेमचन्द, विद्यानाथ आदि ने विशेष विवेचन न करते हुए भी पूर्व परम्पराओं का ही अनुसरण किया है।[3] वाग्भट्ट प्रथम ने अपने से पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के स्वीकृत काव्य तत्त्वों का

---

१. निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्प्रीतिं कीर्तिं च विन्दति॥
—सरस्वती कण्ठाभरण, १-२, पृ० ३

२. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि। —काव्यप्रकाश १.३
(ख) क्वचित् स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। —वही १.३

३. (क) अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।
—काव्यानुशासन १., अध्याय-पृ० १६
(ख) गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम्।
—प्रतापरुद्रयशोभूषण

समावेश करने का प्रयत्न किया है।[१] वाग्भट्ट द्वितीय ने अविकल रूप से काव्य लक्षण के प्रसंग में मम्मट का ही अनुसरण किया है।[२]

चन्द्रालोक के प्रणेता पीयूष वर्ष जयदेव ने 'दोषरहित, लक्षण, रीति, गुण, अलंकार, रस तथा अनेक वृत्तियों से युक्त वाणी को काव्य कहा है।'[३] मम्मट द्वारा स्वीकृत अलंकारों के अभाव में भी काव्यत्व के सिद्धान्त का जयदेव ने स्पष्ट शब्दों में विरोध किया है। वे कहते हैं कि 'यदि कोई अलंकारों से रहित रचना को काव्य मानता है तो वह उष्णता से रहित द्रव्य को भी अग्नि क्यों नहीं मानता।'[४] उनके कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे उष्णता रहित अग्नि नहीं हो सकती, उसी प्रकार अलंकार रहित रचना काव्य नहीं हो सकती।

विश्वनाथ

चौदवीं शती के साहित्यालोचक पण्डित विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में प्रसिद्ध प्राचीन आचार्यों के परम्परा प्राप्त समस्त काव्य लक्षणों की उपेक्षा करके एक नवीन लक्षण की रचना की जो संक्षिप्त होते हुए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है।'[५]

काव्य के लक्षण के रूप में एक मात्र रसात्मकता को स्वीकार करते हुए भी विश्वनाथ ने रसहीन रचना को भी यथाकथमपि मान्यता दी है और स्वीकार किया है कि 'गुणों की व्यंजक वर्ण संघटना अथवा अलंकारों के होने पर रसहीन रचना को भी सरस काव्य बन्ध के साम्य

---

१. साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालंकारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्त्तये ।। —वाग्भटालंकार १.२, पृ० ४

२. शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम् । काव्यानुशासन पृ० १४

३. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिगुणभूषिता ।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक् । —चन्द्रालोक १.७

४. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती । —चन्द्रालोक १.८

५. वाक्यं रसात्मकं काव्यम् । —साहित्य दर्पण १.३

के कारण गौण रूप से काव्य मान लिया जाता है।"[1]

काव्यत्व की दृष्टि से दोष का क्या स्थान है, इस सम्बन्ध में विश्वनाथ के उपर्युक्त काव्य लक्षण से कुछ पता नहीं चलता, किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट कृत काव्य लक्षण की आलोचना करते हुए लक्षण गत 'अदोषौ' पद के प्रयोग पर जो आक्षेप किया है[2] उसे देखते हुए हम कह सकते हैं कि विश्वनाथ दोष की सत्ता रहते हुए भी काव्यत्व को स्वीकार करते हैं।

महापण्डित विश्वनाथ ने उपर्युक्त काव्य लक्षण के लिए सम्भवतः शौद्धोदनि नामक आचार्य से प्रेरणा ली होगी। किन्तु शौद्धोदनि ने अपने काव्य लक्षण में 'रसादि से युक्त वाक्य को काव्य कहा था'[3] जिसमें आदि पद से अलंकारों का भी ग्रहण हो सकता था किन्तु विश्वनाथ ने आदि पद हटाकर केवल रसमय वाक्य को ही काव्यत्व का अधिकारी माना है।

---

१. यत्तु नीरसेऽपि गुणाभिव्यञ्जकवर्णसद्भावाद् दोषाभावादलङ्कारसद्भावाच्च काव्यव्यवहारः स रसादिमत्काव्यवन्धसाम्याद्गौण एव ॥

—साहित्य दर्पण प्रथम परिच्छेद

२. कश्चिदाह तददौषौ······इत्यादि इति तच्चिन्त्यम्।

तथाहि यदि दोषरहितस्यैव काव्यत्वं तदा 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे इत्यादि श्लोकस्य विधेयाविमर्शदोषदुष्टतया काव्यत्वं न स्यात्। प्रत्युतध्वनिकृतोत्तमकाव्यतास्याङ्गीकृता। तस्मादव्याप्तिर्लक्षण दोषः।······न च कंचिदेवांशं काव्यस्य दूषयन्तः श्रुतिदुष्टादयो दोषाः, किन्तर्हि सर्वमेवकाव्यम्। तथाहि काव्यात्मभूतस्य रसस्यानपकर्षकत्वे तेषां दोषत्वमपि नांगीक्रियते अन्यथा नित्यानित्यत्व व्यवस्थापि न स्यात्।

नन्वीषदर्थे नञः प्रयोग इति चेत्तर्हि ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्युक्ते निर्दोषयोः काव्यत्वं न स्यात्। सति सम्भवे ईषद्दोषौ चेत् एतदपि काव्यलक्षणे वाच्यम्। रत्नादिलक्षणे कीटानुवेधादि परिहारवत्। नहि कीटानुवेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः किन्तूपादेयतातारतम्यमेव कर्त्तुम्। तद्वदत्र श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य। उक्तञ्चः—

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः। इति

—साहित्यदर्पण पृ० १५, शालिग्राम शास्त्रीं सम्पादित। १९६१ सं०

३. काव्यं रसादिमद् वाक्यम्। अलंकार शेखर १.१

विश्वनाथ के अनन्तर संस्कृत साहित्य शास्त्र के अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने वाक्य अथवा शब्द और अर्थ दोनों को काव्य न मानकर 'रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाले शब्द को काव्य माना है।'[1] उनके अनुसार जिस अर्थ के ज्ञान से लोकोत्तर आनन्द प्राप्त होता है उस अर्थ को रमणीय अर्थ कहा जाता है।[2] आचार्य अभिनव गुप्त तथा मम्मट आदि की रस परिभाषा सम्बन्धी शब्दावली में रस को भी अलौकिक चमत्कारकारी कहा गया है,[3] तथा पण्डितराज ने भी साक्षात् अथवा वस्तुमात्र अथवा अलंकार की व्यंजना द्वारा जहां रस प्रधानतया व्यंग्य है उसे उत्तमोत्तम काव्य माना है।[4] उसे देखते हुए हम कह सकते हैं कि यहां लोकोत्तर आह्लाद से पण्डितराज का तात्पर्य मुख्यतः रस से ही है। यद्यपि वे वस्तु अलंकार प्रधान रचनाओं को अथवा चमत्कारपूर्ण वाच्यार्थ प्रधान रचना को अथवा वाच्यार्थ चमत्कार सहित शब्द चमत्कार प्रधान रचना को भी काव्य मानते हैं।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पण्डितराज ने चमत्कारपूर्ण शब्द रचना को ही काव्य माना है, अतएव उसमें चमत्कार को उत्पन्न करने वाले

---

१. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। —रस गङ्गाधर, पृ० ६

२. रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता ॥ —वही पृ० १०

३. (क) लोकोत्तरचमत्कारकारी श्रृंगारादिको रसः। नाट्य शास्त्र अभिनव भारती।

(ख) ...ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी श्रृंगारादिको रसः। —काव्य प्रकाश, पृ० ७७

४. शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यमर्थमभिव्यङ्क्तस्तदायम्। —रस गङ्गाधर, ३३

५. (क) यत्तु साहित्यदर्पणे निर्णीतं 'रसवदेव काव्यम्, तन्न वस्त्वलंकारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः महाकवि सम्प्रदायस्याकुलीभावात्। —वही पृ० २३-२४

(ख) यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारसमानाधिकरणेन वाच्यचमत्कारस्तत्तृत्तीयम्। —वही पृ० ७०

(ग) यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं, तदधमं चतुर्थम्। —वही, पृ० ७२

रस, गुण अलंकार आदि का उपादान तथा चमत्कार में व्याघात करने वाले अनौचित्य पूर्ण प्रयोगों, अर्थात् साक्षात् या परम्परया चमत्कार की प्रतीति में बाधा पहुंचाने वाले प्रयोगों (दोषों) का त्याग स्वतः विवक्षित समझना ही होगा।

महिम भट्ट :—

आचार्य महिम भट्ट ने काव्य शास्त्र के समस्त अंगों से पूर्ण किसी ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य लेकर व्यक्तिविवेक की रचना नहीं की थी, अपितु उनका एकमात्र उद्देश्य आचार्य आनन्द वर्द्धन के ध्वनि सिद्धान्त की परीक्षा करना था, अतएव काव्य के विविध अंगों का वर्णन लक्षण और उदाहरण के रूप में न होकर प्रासंगिक रूप से ही व्यक्तिविवेक में प्राप्त होता है।

महिम भट्ट के ग्रन्थ व्यक्ति विवेक में काव्य स्वरूप के सम्बन्ध में ग्यारह बार चर्चा प्राप्त होती है, प्रत्येक स्थल पर उन्होंने काव्य का जो स्वरूप चित्रित किया है वह भिन्न-भिन्न शब्दावली में होते हुए भी पूर्णतः समान है।

उनका कहना है कि 'विभाव आदि की योजना रूप कवि का व्यापार काव्य है किन्तु उस व्यापार में रस की अनिवार्यतः अभिव्यक्ति होनी चाहिए, वह कवि व्यापार अभिनय के योग्य भी हो सकता है और नहीं भी।'[१]

उपर्युक्त कथन के समर्थन के रूप में उन्होंने अज्ञात नामा किसी आचार्य की कारिका को उद्धृत किया है, वह उद्धरण भी उनके अभिमत काव्य स्वरूप का चित्र ही उपस्थित करता है। उस कारिका में कहा गया है, कि 'अनुभाव विभाव की सहायता से वर्णन करना काव्य है तथा गायन आदि से युक्त उसका प्रयोग नाट्य है।'[२]

---

१. 'कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी काव्यमुच्यते। तच्चाभिनेयानभिनेयार्थत्वेन द्विविधम्।'—व्यक्ति विवेक, पृ० ९६

२. यदाहुः—अनुभावविभावाभ्यां वर्णना काव्यमुच्यते।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरञ्जितम्॥
— व्यक्ति विवेक, पृ० ९६

एक तीसरे प्रसंग में उन्होंने लिखा है कि 'प्रधान रूप से हो अथवा अप्रधान रूप से जहां पर वाच्य शक्ति से प्रतीत होता हुआ अनुमेय अर्थ स्फुटतया प्रतीत हो उसे काव्य कहते हैं।'[१]

एक अन्य प्रसंग में उनका पुनः कथन है कि 'वाच्य और प्रतीयमान अर्थ के बीच जहां गम्यगमकभाव का संस्पर्श हो, वह काव्य है।'[२]

महिमभट्ट कृत उपर्युक्त काव्य लक्षणों को देखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि :—

१. काव्यत्व के प्रसंग में महिमभट्ट सहृदय की अपेक्षा कवि को महत्त्व देते हैं।
२. काव्यत्व के प्रसंग में वे रस योजना को ही सर्वाधिक महत्त्व देते हैं, अलंकार आदि योजना को नहीं।
३. काव्य नाट्यांग नहीं है, जैसी कि भरत की मान्यता थी, अपितु नाट्य ही काव्य का एक विशेष प्रकार है।
४. प्रतीयमान रस के अतिरिक्त प्रतीयमान वस्तुमात्र अथवा प्रतीयमान अलंकार भी किसी रचना को काव्यत्व प्रदान करते हैं।
५. स्फुटतया प्रतीयमान वस्तु अलंकार अथवा रस प्रधान हों अथवा अप्रधान काव्य के चारुत्व में कोई अन्तर नहीं आता।

आचार्य आनन्द वर्द्धन के काव्य लक्षण के प्रसंग में हमने देखा था कि उनके काव्य लक्षण में सहृदय पाठक को ही अधिक महत्त्व दिया गया था, कवि कर्म को नहीं, किन्तु महिम भट्ट ने कुन्तककी भांति कवि को ही अधिक महत्त्व दिया है। वे कहते हैं कि यदि कवि ऐसी योजना करता है कि 'उससे अनिवार्य रूप से रस की प्रतीति हो तो वह काव्य है।'[३] रस प्रतीति के अभाव में किसी रचना को काव्य कहना सम्भव नहीं है।

---

१. तस्मात्स्फुटतया यत्र प्राधान्येनान्यथापि वा।
वाच्यशक्त्यानुमेयोऽर्थो भाति तत्काव्यमुच्यते ॥—व्यक्तिविवेक, पृ० १०६

२. यत्र वाच्यप्रतीयमानयोर्गम्यगमकभावसंस्पर्शस्तत्काव्यम्।
व्यक्तिविवेक, पृ० १३६

३. कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी काव्य-मुच्यते। तच्चाभिनेयानभिनेयार्थत्वेन द्विविधम्। पृ० ९८

एक अन्य स्थल पर उनका कथन है कि 'अन्वय व्यतिरेक द्वारा परीक्षा करने पर हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि अनुमेयार्थ (प्रतीयमानार्थ) का स्पर्शमात्र ही काव्य सौन्दर्य को बढ़ाने वाला है, वह चाहे वस्तुमात्र हो अथवा अलंकार अथवा रस रूप।[1] इतना ही नहीं यह प्रतीयमान अर्थ अप्रधान हो तो भी काव्य के सौन्दर्य में कोई अन्तर नहीं आता।[2] इत्यादि।

साधारण रूप से उपर्युक्त बातें परस्पर विरोधी प्रतीत होती हैं किन्तु विचार करने पर इसका समाधान यह है कि जहां कहीं भी प्रधान अथवा अप्रधान रूप से चाहे वस्तुमात्र अर्थ प्रतीयमान हो अथवा अलंकार रूप अर्थ दोनों ही अन्ततः रस की प्रतीति कराने में ही पर्यवसित हो जाते हैं।[3] यही मान्यता ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य आनन्द वर्धन की रही है।[4] अतः दोनों ही आचार्यों का काव्य के आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में एक ही (अभिन्न) मत है, वह यह कि 'प्रतीयमान अर्थ काव्य का आत्मतत्त्व है'।

---

१. अनुमेयार्थसंस्पर्शमात्रं चान्वयव्यतिरेकाभ्यां काव्यस्य चारुत्वहेतुरिति-निश्चितम्। ......तदेवं प्रकारत्रयेप्यनुमेयार्थसंस्पर्श एव काव्यचारुत्व-हेतुरित्यवगन्तव्यम्। —व्यक्ति विवेक, पृ० १३६

२. नत्वस्य प्राधान्याप्राधान्यकृतो विशेषः तयोस्सामान्यविशेषयोस्त्रिष्वपि वस्तुमात्रादिष्वनुमेयेषु चेतनचमत्कारकारी कश्चिद्विशेषोऽवगम्यते। —व्यक्ति विवेक, पृ० १३६

३. न च रसात्मनः काव्यस्य वस्तुमात्रादिभिः विशेषः शक्य आधातुमेतेषां विभावादिरूपतया रसाभिव्यक्तिहेतुत्वोपगमात्। व्यक्ति विवेक, पृ० ९६

४. (क) वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन। चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः। न च तदस्ति वस्तु किञ्चिद् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति। तदनुत्पादने वा काव्यविषयतैव न स्यात्। —ध्वन्यालोक पृ० ४२०

(ख) तस्मान्नास्त्येव वस्तु यत्सर्वात्मना रसतात्पर्यवतः कवेस्तदिच्छया तदभिमतरसाङ्गतां न धत्ते, तथोपनिबध्यमानं वा न चारुत्वातिशयं पुष्णाति। —ध्वन्यालोक, पृ० ४२३

दोनों ही आचार्य कारण के सम्बन्ध में एकमत हैं कि चूंकि प्रत्येक वस्तु अन्ततः किसी न किसी रस अथवा भाव के अंग के रूप में विभावादि के रूप में पर्यवसित हो जाती है, अतएव वस्तुमात्र और अलंकार भी प्रधानतया प्रतीत होते हुए काव्य शरीर के अंग होकर काव्य की आत्मा रस की प्रतीति में सहायक होते ही हैं। फलतः वस्तुमात्र हो अथवा अलंकार उनको प्रतीति होने पर भी रचना विशेष में काव्यत्व रहता ही है।

आचार्य महिम भट्ट ने केवल गुण और अलंकारों से संस्कृत रचना को काव्य मानना उचित नहीं समझा है। उनका कहना है कि ऐसी रचनाएँ मुख्य वृत्ति से काव्य नहीं कही जा सकती।[1] यदि कभी उन्हें काव्य कहा भी जाता है, तो काव्य का अंग होने अथवा काव्य सदृश होने के कारण केवल लाक्षणिक रूप से ही कहा जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य आनन्द वर्धन एवं महिम भट्ट दोनों ने ही मुख्यतः काव्य उसी रचना को माना है, जहाँ वाच्यार्थ की योजना प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिए ही की गयी हो। प्रतीयमान अर्थ ही वह तत्त्व है जो काव्य में सौन्दर्य का आधान करते हुए काव्य में जीवन प्रदान करता है। इस प्रकार प्रतीयमान अर्थ ही काव्य में सर्वतोभावेन प्रधान है। इसका संस्पर्श मात्र किसी शब्दार्थ समूह को काव्य बना देता है, फिर उस रचना में गुणों और अलंकारों की सत्ता हो अथवा नहीं। उस प्रतीयमान अर्थ के अभाव में विविध गुणों से विभूषित और अलंकारों से अलंकृत रचना भी काव्य कहलाने की अधिकारी नहीं हो पाती। यह दूसरी बात है कि कभी-कभी अप्रधान रूप से उसे भी काव्य कह दिया जाए।

इस प्रकार काव्य लक्षण के प्रसंग में हम कह सकते हैं महिम भट्ट प्राचीन आलंकारिकों की परम्परा के अनुयायी न होकर ध्वनिकार आनन्द वर्द्धन के अनुयायी हैं। आनन्द वर्द्धन ने जिस प्रकार गुण, अलंकार संघटना आदि काव्य के विविध तत्त्वों को स्वीकार किया है किन्तु काव्य से उनका सम्बन्ध अंग रूप से ही माना है, और स्वीकार किया है

---

१. न गुणालंकारसंस्कृतशब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्।......तस्य रसात्मताभावे मुख्यवृत्त्या काव्यव्यपदेश एव न स्यात्। व्यक्ति विवेक, पृ० ६८

कि काव्य के ये सभी तत्त्व प्रधानतया प्रतीयमान अर्थ, रस की अनुकूलता होने पर काव्य में सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं, एवं रस की प्रतीति में व्याघात (असुविधा) जनक होने पर वे काव्य के शोभादायक तत्त्व न रह कर शोभाविघातक तत्त्व बन जाते हैं और उस स्थिति में वे ही दोष कहे जाते हैं (जिनका विवेचन अग्रिम अध्याय में किया जायेगा) उसी प्रकार महिम भट्ट भी गुण, अलंकार आदि को काव्य का अंग ही मानते हैं, ये सभी तत्त्व रसादि के अनुकूल होने पर शोभाधायक हैं, तथा प्रतिकूल होने पर शोभा विघातक। अतएव रसादि की अनुकूलता की स्थिति में उन्हें गुण अलंकार आदि संज्ञा दी जायेगी एवं प्रतिकूलता की स्थिति में उन्हें दोष कहा जाएगा।

काव्य के भेद

आनन्द वर्द्धन : महिम भट्ट

रस ध्वनि को सर्वोत्तम मानते हुए भी आनन्द वर्द्धन जिस प्रकार व्यंग्य वस्तुमात्र और व्यंग्य अलंकार की सत्ता में ध्वनि काव्यत्व मानते ही हैं, उसी प्रकार महिम भट्ट भी वस्तुमात्र अथवा अलंकार के प्रधानतया प्रतीयमान होने पर उसे काव्य स्वीकार करते हैं। इस स्थल पर दोनों ही आचार्य सहमत हैं। दोनों में मौलिक मतभेद वहां हैं, जहां प्रतीयमान वस्तुमात्र अलंकार और रस रूप अर्थ अप्रधान है। आचार्य आनन्द वर्द्धन तथा उनके अनुयायी ऐसी रचना को ध्वनि काव्य अथवा उत्तम काव्य नहीं मानते, जहां प्रतीयमान अर्थ किसी भी प्रकार अप्रधान हो जाता है। उनकी मान्यता है कि उस स्थिति में वह काव्य मध्यम काव्य अथवा गुणीभूत व्यंग्य काव्य कहा जायेगा।[1]

---

१. (क) प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः॥
......यस्मिन्काव्ये प्रधानतयाऽन्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयः ते रसादेरलंकारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः। तद्यथा चाटुषु प्रेयोऽलंकारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते।
—ध्वन्यालोक २.५, पृ० ११९

जबकि महिम भट्ट की मान्यता है कि प्रतीयमान अर्थ चाहे प्रधान हो अथवा अप्रधान, काव्य सौन्दर्य में कोई अन्तर नहीं आता। प्रतीयमान अर्थ का संस्पर्श मात्र ही किसी रचना में सौन्दर्य के आधान के लिए पर्याप्त है।[1]

काव्य स्वरूप के प्रसंग में महिम भट्ट का आनन्द वर्द्धन से एक और मौलिक मतभेद है वह यह कि :—

आनन्द वर्द्धन की मान्यता है कि वाक्य अथवा व्यंग्य वस्तुमात्र से वस्तुमात्र, अथवा अलंकार की या अलंकार से वस्तुमात्र या अलंकारान्तर की प्रतीति हो रही हो तथा वह प्रतीयमान अर्थ अपने सौन्दर्य के कारण प्रधानतया प्रतीत हो रहा हो तो उसे भी ध्वनि का उदाहरण

(ख) यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टत्वेन भासते।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः॥

—वही १.३१, पृ० २०६

(ग) एवं ध्वनौ निर्णीते गुणीभूतव्यङ्ग्य प्रभेदानाहः—
अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्धयङ्गमस्फुटम्।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्।
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः।

—काव्यप्रकाश ५.१,२

१. (क) गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपि काव्ये चारुत्वप्रकर्षदर्शनात्।

व्यक्ति विवेक, पृ० १२

(ख) तस्मात्स्फुटतया यत्र प्राधान्येनान्यथापि वा।
वाच्यशक्त्यानुमेयोऽर्थो भाति तत्काव्यमुच्यते॥

—व्यक्ति विवेक पृ० १००

(ग) यत्र वाच्यप्रतीयमानयोर्गम्यगमकभावसंस्पर्शस्तत्काव्यम्॥

—वही, पृ० १३६

(घ) अनुमेयार्थ संस्पर्शमात्रं चान्वयव्यतिरेकाभ्यां काव्यस्य चारुत्व हेतुरिति निश्चितम्। ······नत्वस्य प्राधान्याप्राधान्यकृतो विशेषः। नहि तयोः सामान्यविशेषयोस्त्रिष्वपि वस्तुमात्रादिष्वनुमेयेषु चेतनचमत्कारकारी कश्चिद्विशेषोऽवगम्यते। —पृ० १३८

माना जायेगा।[1]

आचार्य महिम भट्ट इस से सहमत नहीं है उनका कथन है कि जहां वाच्य वस्तु या अलंकार से वस्तुमात्र अथवा अलंकारान्तर की प्रतीति हो रही हो वहां प्रतीयमान अर्थ निस्सन्देह काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि करता है, किन्तु प्रतीयमान अर्थ से अर्थान्तर की प्रतीति होने पर वहीं काव्यत्व (काव्य सौन्दर्य) मानना चाहिए, जहां प्रतीयमान अर्थ से व्यभिचारिभाव, अथवा प्रतीयमान अलंकार अर्थ की प्रतीति हो रही है। इसके विपरीत जहां प्रतीयमान वस्तु से परम्परया अन्य वस्तु रूप अर्थ की प्रतीति हो रही है, वह रचना तो आकर्षक (आह्लादक) न होकर पहेली मात्र बन जाती है।[2] अतः उसे काव्य मानना उचित नहीं है।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते है कि महिम भट्ट की दृष्टि से मुख्यवृत्ति से वही रचना काव्य कही जायेगी, जहां वाच्य अथवा वाच्य से अनुमित अर्थ प्रधानतया अथवा अप्रधानतया विद्यमान है, किन्तु परवर्ती (अन्तिम) अर्थ की प्रतोति कराने वाला पूर्व अर्थ यदि वाच्य न होकर प्रतीयमान हो तो उसे अवश्य ही अलंकार अथवा व्यभिचारि भाव आदि के रूप में होना चाहिए, वस्तुमात्र नहीं।

महिम भट्ट की दृष्टि से काव्यत्व के आदर्श निदर्शन निम्नलिखित

---

१. (क) अलंकारान्तरव्यङ्ग्यभावे ध्वन्यङ्गता पुनः।
चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्या प्राधान्यं यदि लक्ष्यते॥
—ध्वनिकारिका २-३०, पृ० २०५

(ख) तदेवमर्थमात्रेण अलंकारविशेषरूपेण वार्थेन अर्थान्तरस्यालंकारस्य वा प्रकाशने चारुत्वोत्कर्षनिबन्धने सति प्राधान्येऽर्थशक्त्युद्भवानुरणन-रूपव्यङ्ग्यो ध्वनिरवगन्तव्यः॥
—ध्वन्यालोक, वृ० २-३०, पृ० २०५

२. यत्र वाच्यार्थाद् वस्तुमात्रेणैकेन द्वित्रैर्वान्तरिता वस्तुमात्रस्यैव प्रतीतिः तत्रापि ध्वनित्वापत्तेः, न च तत्रेष्यते चारुतातिवृत्तेः व्यभिचारिभावालङ्कारान्तरिताया एव तस्या ध्वनिविषयभावाभ्युपगमात् अन्यत्र तु तद्विपर्ययात्। चारुत्वाचारुत्वनिश्चये च काव्यतत्त्वविदः प्रमाणम्।
—व्यक्ति विवेक, पृ. ८३

हो सकते हैं :—

प्रतीयमान वस्तु की प्रधानता में चारुत्व

वज्ज महच्चिय एक्काए होन्तु णीसास रोइदव्वाइम् ।
मा तुज्झवि तिए विण दक्खिण्ण हअस्स जाअन्दु ।।
[व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निश्वास रोदितव्यानि ।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत् ।[१]]

उपपत्नी के पास जाने को उद्यत, किन्तु दाक्षिण्य दिखाने में रत नायक के प्रति खण्डिता नायिका[२] की यह उक्ति है :—

अर्थ :—(तुम) जाओ, मैं अकेली ही निश्वास और रोने को भोगूं (यह अच्छा है)। कहीं दाक्षिण्य[३] प्रदर्शन के चक्कर में पड़ कर उसके बिना तुमको भी यह सब न भोगना पड़े।

इस पद्य में खण्डिता नायिका का अत्यन्त बढ़ा हुआ रोष अनुमेय है तथा वही वाच्य 'जाओ' (व्रज) रूप अर्थ की अपेक्षा प्रधान भी है। इस प्रकार यहां अनुमेय नायिका का रोष प्रधान है एवं इसी कारण वही चारुत्व विशिष्ट भी है।

प्रतीयमान वस्तुमात्र की अप्रधानता में भी चारुत्व

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ।।[४]

नदी के किनारे स्नानार्थ आई हुई किसी तरुणी को देखकर किसी रसिकजन की यह उक्ति है : इसमें युवती को स्वयं नदी रूप में वर्णित

---

१. उद्धृत—गाथा सप्तशती से ध्वन्यालोक पृ. २३, व्यक्ति विवेक, पृ. १३७

२. अन्य नायिका के सम्भोग चिह्न से युक्त नायक जिस नायिका के समीप प्राप्त हो, उसे खण्डिता नायिका कहते हैं :—
पार्श्वमेति प्रियो यस्याः अन्यसम्भोगचिह्नितः ।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता ।। —साहित्य दर्पण ३, ११७

३. अनेकमहिलासमं समरागोदक्षिणः कथितः ।
अर्थात् अनेक महिलाओं के प्रति समान अनुराग रखने वाला नायक दक्षिण नायक कहाता है। उसका भाव ही दाक्षिण्य है।

४. ध्वन्यालोक ३९०, —व्यक्ति विवेक, पृ. १३७

किया गया है :—

अर्थ :—यहां (नदी तट पर) यह नई कौन-सी लावण्य की नदी आ गयी है, जिसमें चन्द्रमा के साथ कमल तैरते हैं। जिसमें हाथी की गण्डस्थली उभर रही है और साथ ही कदली काण्ड (केले के थम्म) तथा कमल नाल दिखाई दे रहे हैं।

यहां सिन्धु शब्द से परिपूर्णता, उत्पल शब्द से कटाक्षच्छदा, शशि शब्द से मुख, द्विरदकुम्भतटी शब्द से स्तनयुगल, कदली काण्ड से दोनों जघन तथा मृणालदण्ड (कमल नाल) शब्द से भुजा रूप अर्थ प्रगट होता है। इन सब शब्दों का मुख्यार्थ यहां सर्वथा अनुपपन्न होने से तिरस्कृत होकर अन्य उपर्युक्त अनुमेयार्थ प्रतीति में हेतु बन जाता है, इसलिए यहां अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यार्थ से वस्तुमात्र अनुमेयार्थ की प्रतीति होती है। किन्तु वह वस्तुमात्र अनुमेयार्थ 'लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र' "यह कौन नई लावण्य की नदी है।" इस वाच्य अंश की शोभा-वृद्धि में ही सहायक होता है। इस प्रकार अप्रधान होने पर भी अनुमेयार्थ के सौन्दर्य में कोई अन्तर नहीं आता।

प्रतीयमान वस्तुमात्र की अप्रधानता में भी चारुत्व

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः।
अहो देवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः॥

अर्थ :—सन्ध्या नामक समय या सन्ध्या रूपिणी नायिका अनुराग अर्थात् सन्ध्याकालीन लालिमा अथवा प्रेम से युक्त है और दिवस नामक समय या दिवसरूप नायक उसके सामने स्थित ही नहीं बढ़ रहा है अर्थात् सामने आ रहा है, ओह दैवगति कैसी विचित्र है कि फिर भी उनका समागम नहीं हो पाता।

उपर्युक्त पद्य में नायक नायिका व्यवहार, जो कि वस्तुमात्र है, अनुमेय है, किन्तु वाच्य में उस अनुमेय अर्थ की अपेक्षा चारुत्व अधिक है। अतः अनुमेय अर्थ अप्रधान हो गया है, किन्तु इससे काव्य सौन्दर्य में कोई अन्तर नहीं आता।

---

१. वक्रोक्ति जीवित ४६०, ध्वन्यालोक ६०, काव्य प्रकाश ३८२, व्यक्ति विवेक १३८

प्रतीयमान अलंकार की अप्रधानता में चारुत्व

वीराणं रमइ घुसृणारुणम्मि ण तहा पिआ थणुच्छङ्गे।
दिट्ठी रिउगअकुम्भत्थलम्मि जह बहल सिन्दूरे।
[वीराणां रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे।
दृष्टी रिपुगजकुम्भस्थले यथा वहलसिन्दूरे।[1]]

अर्थ :—वीरों की दृष्टि प्रियतमा के कुंकुम रंजित उरोजों में उतनी नहीं रमती, जितनी कि सिन्दूर से पुते हुए शत्रु के हाथियों के कुम्भ स्थलों पर रमती है।

यहां पर वीरों की दृष्टि के प्रिया के स्तनोत्संग में रमण की अपेक्षा रिपुगजों के कुम्भस्थल में रमण करने में अतिशय प्रतिपादन से स्वतः सम्भवी व्यतिरेकालंकार से गजकुम्भस्थल में प्रिया के कुचों के सादृश्य रूप उपमा अलंकार अनुमेय है। उसके कारण उन कुम्भस्थलों के मर्दन में वीरों को अधिक आनन्द आता है' इस प्रकार अनुमेय अर्थ उपमा-मूलक वीरतातिशय के चमत्कारजनक होने से यह स्वतः सम्भवी अलंकार से अनुमेय उपमालंकार की अप्रधानता का उदाहरण है।

प्रतीयमान अलंकार की प्रधानता में चारुत्व

तं ताण सिरिसहोअर रअणाहरणम्मि हिअअमेकरसम्।
बिम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुम बाणेन।
[तत्तेषां श्री सहोदर रत्नाहरणे हृदयमेकरसम्।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमवाणेन॥[2]]

आनन्द वर्धन विरचित विषमबाणलीला नामक काव्य में त्रैलोक्य विजयी असुरों के प्रति कामदेव के पराक्रम के वर्णन के प्रसंग में यह पद्य कहा गया है। इस पद्य में अनुमेय उपमा अलंकार है।[1]

अर्थ :—लक्ष्मी के सहोदर अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट रत्न के आहरण में तत्पर उन असुरों के उस (सदैव युद्धोद्यत) हृदय को कामदेव ने प्रियाओं के अधर बिम्ब के रसास्वाद में तत्पर बना दिया।

---

१. ध्वन्यालोक पृ. १९५, व्यक्ति विवेक १३८

२. काव्य प्रकाश पृ. ४१२, विषमवाणलीला-आनन्द वर्धन-ध्वन्यालोक १९६ व्यक्ति विवेक पृ. १३८

यहां अतिशयोक्ति वाच्य अलंकार है और उससे 'प्रिया का अधर बिम्ब सकलरत्नसाररूप कौस्तुभ मणि के समान है' यह उपमालंकार अनुमेय है। इस प्रकार कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से अनुमित उपमा अलंकार का चारुत्व यहां काव्य शोभा का हेतु है।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने इस पद्य को पर्याय अलंकार के उदाहरण के रूप उपस्थित किया है (उदाहरण क्रमांक ५१५)। तथा उनके टीकाकारों ने पर्यायोक्त के प्रसंग में निम्नलिखित अर्थ किया है।

राक्षसों का वह मन जो पहले लक्ष्मी के सहोदर रत्न कौस्तुभ मणि को धारण करने वाले विष्णु के प्रति लगा था, अन्त में लगा दिया गया मोहिनी के बिम्बाधर में।

यहां कामदेव के द्वारा एक हृदय रूप वस्तु की कौस्तुभ और मोहिनी के ओष्ठ में जो स्थिति व्यवस्था वर्णित है उसमें पर्याय स्पष्ट है।

प्रतीयमान अलंकार की अप्रधानता में भी चारुत्व

चन्दमऊएहि णिसा णलिणी कमलेहि कुसुमगुच्छेहि लआ।
हंसेहि सारअ सोहा कव्वकहा करइ गुरुई।[2]

[चन्द्रमयूखैः निशा नलिनी कमलैः कुसुमगुच्छैः लता।
हंसैः शारदशोभा काव्यकथा क्रियते गुर्वी।]

अर्थ :—चन्द्रमा की किरणों से रात्रि का, कमल पुष्पों से नलिनी (गृह दीर्घिका) का, फूलों के गुच्छों से लताओं का, हंसों से शरद के सौन्दर्य का और सहृदयों से काव्य-चर्चा का गौरव बढ़ता है।

इस पद्य में 'क्रियते गुर्वी' पद निशा, नलिनी, लता, शारद शोभा और काव्य कथा से सम्बद्ध होकर 'देहली दीपक' न्याय से निशा आदि की क्रियाओं का बोधक हो रहा है। इस प्रकार से यहां दीपक अलंकार है। इसके अतिरिक्त निशा आदि अनेक पदार्थ 'गुरुकरण' रूप एक धर्म से सम्बद्ध हैं, इस प्रकार यहां उपमा अलंकार अनुमेय हो सकता है, किन्तु वह उपमा अनुमेय होने पर भी चूंकि दीपक के साधन के रूप में है अतः

---

१. यथा ममैव विषमबाणलीलायामसुरपराक्रमे कामदेवस्य-तं ताण'''।
—ध्वन्यालोक, पृ. १९८

२. वक्रोक्ति जीवित ३९९, ध्वन्यालोक १९२

अप्रधान है, फिर भी इस काव्य के सौन्दर्य में कोई अन्तर नहीं आता।

आचार्य महिम भट्ट ने यहां अनुमेय उपमा अलंकार की अप्रधानता में भी काव्य सौन्दर्य को स्वीकार कर प्रधानता और अप्रधानता के महत्त्व को अस्वीकार किया है। किन्तु वस्तुतः यहां काव्य में सौन्दर्य अप्रधान उपमा अलंकार के कारण न होकर प्रधान दीपक अलंकार के कारण है[1] अतः 'अनुमेय के अप्रधान होने पर भी सौन्दर्य में अन्तर नहीं आता' इस पक्ष को मान्यता नहीं दी जा सकती।

प्रतीयमान रस आदि की प्रधानता में काव्य चारुत्व

हरस्तु किञ्चित् परिलुप्त धैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥[2]

वासन्ती पुष्पाभरणों से सुभूषित पार्वती पूजा हेतु शंकर के निकट पहुंचती है, प्रणाम करती है, प्रत्यभिवादन के रूप में अभिलषित पति प्राप्त करने के लिए आशीर्वाद भी प्राप्त करती है, इसके अनन्तर पार्वती सूर्य के ताप में कमल बीजों को सुखाकर उनसे बनाई हुई माला को शंकरके कण्ठ में डालने को प्रस्तुत होती है एवं भक्तों के प्रति प्रेम करने वाले शंकर उसे स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत होते हैं। अवसर की प्रतीक्षा में वहीं निकट छिपा हुआ कामदेव उपयुक्त अवसर जान कर सम्मोहनास्त्र का प्रयोग कर देता है, उस समय :—

अर्थ :—चन्द्रोदय के आरम्भ में अम्बुराशि के समान महादेव भी कुछ कुछ धैर्य खोने लगे और उमा के बिम्बाधर सुन्दर-मुख पर अपनी आंखों को घुमाते फिराते दीख पड़ने लगे।

प्रस्तुत पद्य में नेत्र चेष्टा और धैर्य च्युति रूप अनुभावों से चुम्बन में औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भावों की प्रतीति होकर शिवनिष्ठ पार्वतीविषयक रतिभाव की चर्वणा होती है। इस प्रकार यहां प्रतीयमान श्रृंगार रस अपने प्राधान्य से काव्य को चमत्कृत कर रहा है।

---

१. चन्दमऊएहि···इत्यादिषूपमा गर्भत्वेऽपि सति वाच्यालंकारखेमुनैव चारुत्वं व्यवतिष्ठते न व्यंग्यालंकार तात्पर्येण। —ध्वन्यालोक, पृ. १६२ गौतम बुक डिपो, दिल्ली

२. कुमार सम्भव ३.६७

प्रतीयमान रस की प्रधानता में चारुत्व

> विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
> साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥[1]

वासन्ती पुष्पाभरणों से विभूषित पार्वती शंकर को प्रणाम कर मनोवांछित पतिलाभ का आशीर्वाद प्राप्त कर लेती है। एवं पुनः अपनी मनोभावनाओं के प्रतिरूप मन्दाकिनी के पुष्कर बीजों की माला अर्पित करती है, अवसर की प्रतीक्षा में विद्यमान कामदेव भी ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में था, उसने सम्मोहनास्त्र का प्रयोग किया, जिससे कुछ काल के लिए शंकर का धैर्य भी विलीन हो गया, और इधर पार्वती :—

अर्थ :—बाल कदम्ब सम स्फुरित अंगों द्वारा प्रकट होते हुए भाव को कुछ छिपाती हुई-सी, जड़ होते हुए नेत्रों से युक्त सुन्दर मुख मण्डल से स्थिर-सी हो गयी।

यहां बाल कदम्ब सदृश अंगों के स्फुरण तथा नेत्रों के विस्फारण रूप अनुभाव द्वारा साथ ही 'तस्थौ' पद द्वारा प्रतीत 'जड़ता' रूप व्यभिचारि भाव की प्रतीति होकर पार्वतीनिष्ठ शंकरविषयक रति भाव की चर्वणा होती है। इस प्रकार यहां भी प्रतीयमान शृंगार रस अपने प्राधान्य से काव्य को चमत्कृत कर रहा है।

प्रतीयमान शुद्ध रस का अन्य एक शुद्ध रस के साथ अंगभाव होने पर प्रथम रस की अप्रधानता होने पर भी काव्य में चारुत्व

> किं हास्येन न मे प्रयास्यासि पुनः प्राप्तश्चिराद् दर्शनम् ।
> केयं निष्करुण प्रवासरुचिता केनासि दूरीकृतः ।
> स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो ।
> बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्री जनः ॥[2]

इस पद्य में किसी राजा की स्तुति की गयी है, उसका भाव यह है कि तुमने अपने शत्रुओं का नाश कर डाला है। उनकी स्त्रियां रात्रि में

---

१. कुमार सम्भव ३. ६८
२. वक्रोक्ति जीवित ३६, ध्वन्यालोक १२०, व्यक्ति विवेक पृ. १३६

स्वप्न में अपनेपति को देखती हैं और गले में हाथ डाल कर कहती हैं:—

अर्थ :—इस हंसी करने से क्या लाभ है ? बड़े दिन बाद दर्शन हुए हैं, अब मैं जाने नहीं दूंगी, हे निष्ठुर ! बताओ तुम्हारी प्रवास में (बाहर रहने की) रुचि क्यों हो गयी है ? तुमको किसने मुझसे अलग कर दिया है ? स्वप्न में, पति के कण्ठ का आलिंगन कर इस प्रकार कहने वाली तुम्हारी रिपु स्त्रियां जग जाती है और जब देखती हैं कि प्रियतम के कण्ठग्रहण के लिए जो अपने बाहु का वलय उन्होंने बना रहा था वह तो रिक्त है तो तारस्वर से रोने लगती हैं।

इस पद्य में अन्य रसों अथवा अलंकारान्तरों से असंकीर्ण करुण रस राजा विषयक प्रीति (भाव) रूप अनुमेयार्थ का अंग है। इस प्रकार अन्य अनुमेयार्थ के प्रति एक अनुमेयार्थ के अंग होने पर भी चारुत्व में कोई अन्तर नहीं आता।

संकीर्ण रसादि की अप्रधानता में काव्य चारुत्व

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तम्,
गृह्णन्केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
आलिङ्गन्योवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिस्साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराद्धः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥[1]

यहां संकीर्ण रसादि भी अंगरूप में निबद्ध है फिर भी उसके चमत्कार में अन्तर नहीं आता।

अर्थ :—त्रिपुर दाह के समय शम्भु के बाण से समुद्भूत, त्रिपुर की युवतियों द्वारा आर्द्रापराध (तत्काल पर स्त्री उपभोगादि अपराधयुक्त) कामी के समान, हाथ छूने पर झटक दिया गया, जोर से ताड़ित होने पर भी वस्त्र के कोने को पकड़ता हुआ, जोर से पीटा गया, केशों को छूते समय हटाया गया, पैरों में पड़ा हुआ भी सम्भ्रम (क्रोध और घबराहट) के कारण न देखा गया, और आलिंगन करने (का प्रयत्न

---

१. वक्रोक्ति जीवितः ३५८, अमरुकशतकम्, ध्वन्यालोक पृ. १२१, व्यक्तिविवेक पृ. १४०, काव्यप्रकाश ३४०

करने) पर आँसुओं से परिपूर्ण नेत्रकमलो वाली (कामी पक्ष में ईर्ष्या के कारण और अग्नि पक्ष में बचाव की आशा से रहित होने के कारण) रोती हुई त्रिपुर सुन्दरियों द्वारा तिरस्कृत (कामी पक्ष में प्रत्यालिगन द्वारा स्वीकृत न करके और अग्नि पक्ष में सारे शरीर को झटक कर फेंका गया) शम्भु का शराग्नि तुम्हारे दुःखों को दूर करे।

इस पद्य में त्रिपुरारि के प्रभावातिशय के मुख्य वाक्यार्थ होने पर करुण के संश्लेष से युक्त ईर्ष्या विवलम्भ उसका अंग है, इसलिए यहां संकीर्ण रसादि अंग है, तथापि चारुत्व में कोई अन्तर नहीं है।

काव्य के सम्बन्ध में महिम भट्ट के उपर्युक्त सिद्धान्त और उदाहरण देखने के अनन्तर हम कह सकते हैं कि उनके अनुसार प्रतीयमान अर्थ वह चाहे रसादि रूप हो चाहे अलंकार रूप, तथा प्रतीयमान अर्थ से प्रतीत होने वाला अर्थ चाहे प्रधान हो अथवा अप्रधान प्रत्येक स्थिति में वह काव्य को रमणीय ही बनाता है। जहां प्रतीयमान अर्थ रसादि रूप या अलंकार रूप है और उससे पुनः वस्तुरूप अर्थ की प्रतीति होती है वहां भी वह उस रचना को आस्वाद्य बनाता है। किन्तु यदि वस्तु रूप अर्थ से पुनः वस्तु रूप अर्थ की प्रतीति होती है, तो वहां विशेष सौन्दर्य का अनुभव नहीं होता।

गुण और अलंकार काव्य में यदि कुछ रमणीयता लाते हैं, तो इस प्रतीयमान अर्थ की अनुकूलता के कारण ही लाते हैं, अन्यथा नहीं। इसी कारण प्राचीन आचार्यों ने भले ही काव्य लक्षण में अलंकारों और गुणों को काव्य के अनिवार्य उपादान तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है किन्तु महिमभट्ट ने इनकी (गुणों और अलंकारों की) सत्ता को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। इसके विपरीत जो तत्त्व प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति में, अथवा उसकी प्रधानतया प्रतीति में, किसी भी कारण व्याघात उत्पन्न करते हैं, वे काव्यार्थ के व्याघातक होते हैं और इसीलिए वे दोष कहे जाते हैं। काव्य में दोषों की दोषता और महिम भट्ट की दृष्टि में काव्य में उसकी स्थिति पर विचार अग्रिम अध्याय में किया जाएगा।

—०—

द्वितीय अध्याय

दोष : काव्यत्व

इससे पूर्व प्रकरण में हमने देखा है कि संस्कृत साहित्य शास्त्र के प्राय: सभी आचार्यों ने काव्य में दोषों को हेय माना है। किन्तु यदि कदाचित् किसी रचना में दोष आ जाते हैं तो क्या उस रचना को काव्य न कहा जायेगा एवं वह रचना सर्वथा उपेक्षणीय और त्याज्य हो जायेगी अथवा उस में दोष के कारण कुछ हीनता आने पर भी उसकी उपादेयता में कोई अन्तर नहीं आता, प्रस्तुत प्रकरण में हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

काव्य शास्त्र के प्रथम आचार्य भामह ने अपने काव्यालंकार में स्पष्ट शब्दों में दोषों की हेयता के सम्बन्ध में लिखा था कि काव्य में एक भी ऐसा पद व्यवहार में न आना चाहिए जो दोषपूर्ण हो।[1] दण्डी ने भी इसी प्रकार काव्य को दोष से सर्वथा निर्मुक्त रखने के लिए कहा था। साथ ही यह भी स्वीकार किया था कि जैसे एक कुष्ठ से ही सुन्दर शरीर भी अस्पृश्य या हेय हो जाता है उसी प्रकार काव्य भी दोष के रहने पर प्रशंसनीय नहीं रह जाता।[2] रुद्रट ने भी उत्तम और मध्यम काव्य के लिए निर्दोषता को आवश्यक माना था।[3] वामन की दृष्टि में भी काव्य ग्राह्य तभी हो पाता है जब वह दोष रहित हो।[4] आनन्दवर्द्धन ने भी काव्य में रस विरोधी तत्त्वों का परित्याग कर रस निष्पत्ति के लिए प्रयत्नशील रहने को संकेत किया था।[5] अभिनवगुप्त ने तो रस लक्षण के प्रसंग में सर्वथा विघ्नों के अभाव में ही रस प्रतीति हो पाती है[6] कहते हुए रसमय काव्य में विघ्न रूप दोषों का अभाव

---

१. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्। —काव्यालंकार १।११

२. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ —काव्यादर्श १।१७

३. यत्पुनरनलंकारं निर्दोषं चेति तन्मध्यमम्। —रुद्रट काव्यालंकार ६।४०

४. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। स खलु दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्।
—काव्यालंकार सूत्र १।१।१।३

५. ध्वन्यालोक ३।१८।१९ तथा २।११

६. सर्वथा वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो रसः। —अभिनव भारती रससूत्र व्याख्या

नितराम् आवश्यक माना है। आनन्द वर्धन और अभिनवगुप्त ने जिन रस विरोधी तत्त्वों अथवा रस प्रतीति में विघ्नों के परिहार की चर्चा की है वे साक्षात् रस के विरोधी हैं, जिन्हें अन्तरंग दोषों के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। इन्होंने भामह आदि द्वारा वर्णित दोषों के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की है। अतः बहिरंग दोषों की हेयता अथवा अहेयता के सम्बन्ध में हमें इनके विचारों से कोई विशेष सहायता नहीं प्राप्त हो पाती।

सरस्वती कण्ठाभरण के रचयिता भोज ने काव्य लक्षण में ही निर्दोषता का समावेश कर अपना निश्चित मत प्रकट कर दिया है कि वे दोष युक्त रचना को काव्य मानने को प्रस्तुत नहीं, उनका अभिमत है कि निर्दोष रचना करने वाला कवि ही आनन्द और यश का भागी होता है।[1] प्रस्तुत प्रसंग में भोज निश्चित रूप से पद दोष आदि बहिरंग दोषों की हेयता की ही चर्चा कर रहें हैं। क्योंकि उन्होंने उन साक्षात् रस विरोधी तत्त्वों की चर्चा दोष नाम से अपने ग्रन्थ में नहीं की है। उनके अनुसार दोष किसी परिस्थिति विशेष में दोष रहते हैं एवं अन्य परिस्थिति विशेष में वही गुण के रूप में परिवर्त्तित होकर काव्य की शोभा के हेतु बन जाते हैं।[2]

काव्य मीमांसा के रचयिता राजशेखर ने काव्य में दोषों के सम्बन्ध में प्रायः मौनावलम्बन ही रखा है, हां इतना अवश्य कहा है कि कवि (प्रतिभावान् कवि) पुरानी परम्पराओं को छोड़ कर भो चले तो भी उनके विचित्र कथन प्रकार से वह परम्पराओं का उल्लंघन भी भूषण बन जाता है।[3] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर उन्होंने कहा है कि यदि कवि अनुसन्धान शून्य है, तो अलंकार भी दोष बन जाते हैं और यदि

---

१. निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्प्रीतिंकीर्त्तिं च विन्दति ॥
—सरस्वती कण्ठाभरण १।२।१०

२. विरोधः सकलोप्येष कदाचित्कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥
—सरस्वती कण्ठाभरण १।१५६

३. न च व्युत्क्रमदोषोस्ति कवेरपथस्पृशः।
तथा कथा कापि भवेत् व्युत्क्रमो भूषणं यथा। —काव्यमीमांसा

कवि सावधान है तो दूषण भी भूषण बन जाते हैं।[1]

ध्वनिवाद के प्रबल समर्थक आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में काव्य का लक्षण करते हुए दोष त्याग को अनिवार्य माना है। इस प्रसंग में 'अदोषौ' पद से मम्मट का अभिप्राय श्रुतिदुष्ट आदि बहिरंग दोषों तथा साक्षात् रसापकर्षक अन्तरंग दोष दोनों से ही है। श्रुतिदुष्ट आदि दोषों की एक सामान्य परिभाषा करते हुए मम्मट ने कहा भी है कि वे मुख्यार्थ के विघातक हैं।[3] अतएव अभिप्रेत भाव के उन्मीलन के लिए उद्यत कवि मुख्यार्थ विघातक दोषों की उपेक्षा न करे यह मम्मट क्यों कर स्वीकार करते? उनकी मान्यता के अनुसार कुछ दोष नित्य हैं और कुछ अनित्य[4] तथा कुछ साक्षात् रस के अपकर्षक है और कुछ परम्परया।[5] किन्तु कोई भी दोष नित्य हो या अनित्य, साक्षात् रस का अपकर्षक हो अथवा परम्परया, दोष के रूप में विद्यमान रहने पर वह त्याज्य ही है।

काव्य प्रकाश के प्रमुख टीकाकार गोविन्द ठक्कुर चूँकि चमत्कार-पूर्ण नीरस रचना को भी काव्य मानते हैं। अतएव उनके अनुसार कभी-कभी रस के अभाव में अन्य वाच्यार्थ की प्रतीति अथवा चमत्कार में व्याघात अथवा प्रतीति में विलम्ब के कारण होने वाले तत्त्वों को भी दोष मानना चाहिए।

'मुख्यार्थ की हानि को अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि दोष के रहने पर कभी-कभी तो रस की प्रतीति ही नहीं हो पाती, कहीं प्रतीति होने पर भी रस का अपकर्ष होने लगता है, और कभी रस प्रतीति में विलम्ब होता है। इसी प्रकार नीरस काव्य में भी कभी तो

---

१. अनुसन्धानशून्यस्य भूषणं दूषणायते।
सावधानस्य च कवेः दूषणं भूषणायते॥ —काव्य मीमांसा उपान्त्य श्लोक।

२. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। —काव्य प्रकाश १।२

३. मुख्यार्थहति र्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः। —का. प्र. ७।४९

४. तत्र नित्यत्वानित्यत्वरूपेण द्विविधो…अयं दोषः। —का०प्र० पृ. १.२६५

५. (वाक्यार्थबोधात्प्राक्प्रतीयमानाः शब्दगाः।) ततः परं प्रतीयमानाः परम्परया रसापकर्षकाः अर्थगाः। साक्षाद् रसापकर्षकाः रसगाः।
—काव्य प्रकाश वृत्ति पूना संस्करण (झलकीकार), पृ. २६५

मुख्यार्थ की प्रतीति नहीं हो पाती, कभी विलम्ब से अर्थ प्रतीति होती है और कभी दोष के कारण चमत्कार ही नष्ट होने लगता है। जैसे रस दोष साक्षात् रस विघातक हैं, तो शब्द या अर्थ दोष परम्परया रस प्रतीति में बाधा उपस्थित करते हैं। उनमें भी असमर्थत्व आदि दोष अर्थ की प्रतीति में विघ्न उपस्थित करते हैं जबकि क्लिष्टत्वादि ऐसे दोष हैं जो प्रतीति में विलम्ब के हेतु बन जाते हैं। तथा निरर्थकत्व आदि सहृदय पाठक के हृदय में ही विरसता उत्पन्न करके चमत्कार का अनुभव नहीं करने देते।[1] इस प्रकार उनका भी विचार है काव्य में दोष का पूर्ण अभाव होना चाहिए।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने चूंकि काव्य लक्षण में रस को ही जीवातु माना था,[2] अतएव दोष लक्षण प्रसंग में स्वाभाविक था कि वे इन्हें (दोषों को) भी रस से सम्बद्ध करते और किया भी यही उन्होंने। दोष सामान्य की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा है कि 'रस का अपकर्ष करने वाले तत्त्व दोष कहाते हैं।''[3] यहां साहित्यदर्पणकार का अपकर्ष से क्या तात्पर्य है इसे स्पष्ट करते हुए गुरुनाथ विद्यानिधि भट्टाचार्य ने लिखा है—'अपकर्ष से तात्पर्य है उद्देश्य प्रतीति में व्याघात। उद्देश्य प्रतीति भी तीन प्रकार की हो सकती है :—

१. बिना विलम्ब के रस प्रतीति।
२. उत्कर्षपूर्ण रस प्रतीति।

---

१. दुष्टेषु क्वचिद्रसस्याप्रतीतिरेव, क्वचित्प्रतीयमानस्यापकर्षः, क्वचित्तु विलम्बः, एवं नीरसे क्वचिदर्थस्य मुख्यभूतस्याप्रतीतिरेव, क्वचिद्विलम्वेन प्रतीतिः, क्वचिदचमत्कारितेत्यनुभवसिद्धम्। इत्युद्देश्य प्रतीत्यनुत्पादो व्यक्त एव। तद्विघातकता कस्यचित्स्यात्। यथा रसदोषाणाम् कस्यचित्परम्परया तथा शब्दादिदोषाणां तेष्वपि कस्यचिदर्थोपस्थितेरभावात्, यथा असमर्थत्वादेः। कस्यचिद्विलम्बात्, यथा क्लिष्टत्वादेः। कस्यचित्सहृदयवैमुख्यव्यग्रतापादनेन, यथा निरर्थकत्वादेः। इत्यादि

—काव्य प्रदीप दोषत्र सूत्र व्याख्या ७।४९

२. रसात्मकं वाक्यं काव्यम्॥ साहित्यदर्पण

३. (क) दोषास्तस्यापकर्षकाः॥ साहित्यदर्पण १।४

(ख) रसापकर्षकाः दोषाः॥ साहित्यदर्पण ७।१

३. नीरस स्थलों में बिना विलम्ब के चमत्कार की प्रतीति।

इनमें व्याघात ही अपकर्ष हैं। इस प्रकार जिन तत्त्वों के होने से 'रस की प्रतीति नहीं होती, अथवा रस प्रतीति होने पर भी प्रतीति में उत्कर्ष नहीं रहता अथवा विलम्ब से रस प्रतीति होती है अथवा नीरस स्थलों में मुख्य अर्थ की प्रतीति नहीं होती अथवा विलम्ब से होती है अथवा होने पर भी चमत्कारहीन होती है, वे सभी तत्त्व रस के अपकर्षक हैं, अतएव दोष हैं। वे रसापकर्षक तत्त्व भी दो प्रकार के हो सकते हैं:—प्रथम वे जो कानापन लंगड़ापन आदि की भांति देह का अपकर्ष करते हुए काव्यार्थ का (रस का) अपकर्ष करते हैं, इस प्रकार के दोष श्रुति दुष्टत्व आदि हैं, तथा कुछ मूर्खता आदि की भांति साक्षात् रस का अपकर्ष करते हैं। विश्वनाथ के अनुसार ये दोनों प्रकार के ही दोष काव्यार्थ की प्रतीति में विलम्ब कर सकते हैं, उसे अचमत्कृत कर सकते हैं, इस प्रकार वे उत्कर्ष के विनाशक अथवा कम करने वाले हैं, किन्तु प्रतीति को विघटित नहीं करते हैं, अतः काव्यत्व के विघातक नहीं कहे जा सकते। इसीलिए विश्वनाथ ने दोष लक्षण में उन्हें रस प्रतीति में अपकर्षक ही माना था,[१] विघातक नहीं। इस प्रकार विश्वनाथ के मत में दोष रहते हुए भी कोई रचना काव्य कही जा सकती है, भले ही वह अधिक उच्चकोटि की न मानी जाये।

विश्वनाथ के उत्तरवर्त्ती संस्कृत साहित्य के प्रमुख आचार्य पण्डित राज जगन्नाथ ने दोषों के सम्वन्ध में विशिष्ट विवेचन नहीं किया है,

---

१. अपकर्षश्च—उद्देश्यप्रतीतिविघातः, उद्देश्या च प्रतीतिः द्विधा रसवत्यविलम्बिता, अनःकृष्टरसविषया च। नीरसे तु अविलम्बिता चमत्कारिणी चार्थ विषया। शब्दार्थदोषत्वेन तथा च तादृशप्रतीतिविघातकत्वं सर्वेषां अविशिष्टम्। यतो दुष्टेषु क्वचिद् रसस्याप्रतीतिरस्त्येवं क्वचित्पुनः प्रतीयमानस्यापितस्यापकर्षः। एवं नीरसे पुनः क्वचिदर्थस्य मुख्यस्याप्रतीतिः, क्वचिच्च तस्य प्रतीयमानस्यापकर्षः। क्वचिद्विलम्वेन प्रतीतिः, क्वचिदचमत्कारित्वम् इत्यनुभवसिद्धमुद्देश्यप्रतीतिविघातकत्वम्। श्री गुरुनाथ विद्यानिधि भट्टाचार्य कृता टिप्पणी साहित्यदर्पण ७.१

२. इदानीं तद्गुणव्यञ्जनक्षमायाः निर्मितेः परिचयाय सामान्यतो विशेषतश्च वर्जनीयं किञ्चिन्निरूप्यते॥ रसगङ्गाधर पृ. २३९

किन्तु प्रसंगवश कुछ विशिष्ट वर्णों प्रत्ययों अथवा सन्धियों के प्रयोग को स्थल विशेष में त्याज्य माना है।[1] उनमें भी कुछ प्रयोगों को उन्होंने सामान्यतः त्याज्य कहते हुए उन्हें अश्रव्य कहा है।[2] ये अश्रव्य (दोष) काव्य को उसी प्रकार असुन्दर बना देते हैं, जिस प्रकार पंगुत्व आदि दोष मनुष्य को।[3] इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी दोष हैं, जो विशेषतः त्याज्य हैं, किन्तु वे भी किसी काव्य विशेष में ही; स्थल विशेष में वही तत्त्व गुण भी बन जाते हैं। वे तत्त्व भी जिन परिस्थितियों में विशेषतः त्याज्य हैं, वहां भी काव्यत्व के विनाशक नहीं हैं; अपितु रसजन्य चमत्कार को न्यून बनाने वाले हैं।[4] फलतः वह काव्य रस-परिपाक के भंग के कारण उत्तम काव्य की कोटि में भले ही न रह सकेगा, किन्तु काव्य तो रहेगा ही। निदान हम कह सकते हैं कि पण्डित राज जगन्नाथ के मत में भी दोषों के रहने पर भी कोई रचना काव्य कही जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि आचार्य अभिनवगुप्त और मम्मट को छोड़कर किसी भी आचार्य ने दोष के कारण काव्यत्व की हानि को नहीं माना था, सबने ही काव्य के उत्कर्ष की ही हानि स्वीकार की थी। अभिनवगुप्त ने केवल रस प्रतीति में साक्षात् असुविधा उत्पन्न करने वाले तत्त्वों की ही चर्चा की थी और उन्हें सर्वथा हेय माना था। परम्परा प्राप्त दोषों के सम्बन्ध में वे सर्वथा मौन रहे हैं। इस प्रकार मम्मट ही एकमात्र ऐसे आचार्य रह

---

१. इदानीं तद्गुण व्यञ्जनक्षमायाः निर्मितेः परिचयाय सामान्यतो विशेषतश्च वर्जनीयं किञ्चिन्निरूप्यते। —रसगङ्गाधर पृ. २३९

२. वर्णानां स्वानन्तर्यं सकृदेव पदगतत्वे किञ्चिदश्रव्यम्……एवमिमे सर्वेऽप्यश्रव्यभेदाः काव्यसामान्ये वर्जनीयाः।

—रसगङ्गाधर पृ. २३९-२४९

३. इदं चाश्रव्यत्वं काव्यस्य पङ्गुत्वमिव प्रतीयते॥

—रसगङ्गाधर, पृ. २४७

४. इत्थमेते प्रसङ्गतो मधुररसाभिव्यंजिकायां रचनायां संक्षेपेण निरूपिताः दोषाः……अस्याश्च रीतेः निर्माणे कविना, नितरां हितेन भाव्यम्, अन्यथा तु परिपाकभङ्गः स्यात्॥ —रसगङ्गाधर पृ. २६१

जाते हैं जिन्होंने काव्य में दोषों को सर्वथा हेय कहा था।[1] इसका कारण मम्मट की दोष परिभाषा रही है। चूंकि उन्होंने दोष सामान्य की परिभाषा देते हुए 'मुख्य अर्थ के विघातक को दोष कहते हैं'[2] लिखा था, दोष सामान्य की इस परिभाषा को ध्यान में रखकर ही मम्मट को काव्य लक्षण में दोष का अभाव कहना पड़ा होगा। क्योंकि जो तत्त्व मुख्यार्थ का नाश कर रहे हैं, उनके रहने पर मुख्यार्थ तो नष्ट हो ही जाएगा, अतः काव्यत्व रहा ही कहां? यह उनकी सामान्य भावना रही है। किन्तु वास्तव में दोष प्रकरण में मम्मट द्वारा वर्णित 'श्रुतिकटु' आदि दोष काव्य सौन्दर्य को क्षीण करते हैं, वे मुख्यार्थ की प्रतीति में कथमपि बाधक हो जाते हैं, उसके सर्वथा विघातक अर्थात् मुख्यार्थ के विनाशक नहीं होते। इसलिए इस प्रकार के दोष के रहने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती। आचार्य मम्मट भी इस पक्ष से असहमत नहीं थे, ऐसा हम कह सकते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अनेक पद्यों को दोष विशेष के उदाहरण में उद्धृत करते हुए भी अन्य प्रसंग में उन्हें उत्तम काव्य के रूप में उद्धृत किया है। उदाहरणार्थ—

'तथाभूतान्दृष्ट्वा नृपसदसि पांचालतनयाम्' इत्यादि पद्य में उन्होंने एक ओर न्यून पदता दोष को माना है, दूसरी ओर काकु वैशिष्ट्य से व्यङ्ग्यार्थ की प्रख्यापकता के उदाहरण के रूप में उद्धृत करते हुए उसे उत्तम काव्य के रूप में भी स्वीकार किया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि काव्य लक्षण में दोष का पूर्ण अभाव कहकर भी मम्मट दोष विशेष की सत्ता में भी काव्यत्व को स्वीकार करते हैं।

काव्य में दोष की सत्ता कहां तक उपेक्षणीय है? अथवा दोष विशेष के रहते हुए भी किसी रचना को काव्य कहा जाये या नहीं, यह विषय पूर्वाचार्यों में काफी समय तक विचारणीय बना रहा है। यही कारण है आचार्यों के अतिरिक्त कवियों ने भी इस विवाद का उल्लेख करते हुए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपना अभिमत प्रगट किया

---

१. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ॥
काव्य प्रकाश १।२

२. मुख्यार्थ हतिर्दोषः ॥ काव्य प्रकाश, ७।१

है। महर्षि व्यासकृत महाभारत के शान्ति पर्व में जनक और सुलभा के वार्त्तालाप के प्रसंग में प्रासंगिक रूप से प्राकरणिक वक्तव्य की प्रशंसा करते हुए उसे निर्दोष सिद्ध किया गया है। उसे देखकर हमारा अनुमान है कि महाभारतकार की दृष्टि से किसी वाक्य में (काव्य वाक्य में) १७ दोष हो सकते हैं,[१] एवं उन दोषों से रहित होने पर ही कोई वाक्य (अथवा काव्य वाक्य) ग्राह्य हो पाता है। यद्यपि महाभारत काव्य ग्रन्थ है, काव्यशास्त्र नहीं; तथापि संस्कृत साहित्य के इतिहास में महाभारत का जो रचना काल माना जाता है उसके अनुसार दोषों से सम्बन्धित महाभारत के उपर्युक्त वचन को एक प्राचीन परम्परा की ओर संकेत करने वाला माना जा सकता है, यह दूसरी बात है कि उपर्युक्त परम्परा अधिक विकसित प्रतीत नहीं होती। महाभारत के उपर्युक्त वचनों के आधार पर हमारा विचार है कि उक्त परम्परा में किसी वाक्य में दोष या गुण तीन कारणों से माना जाता था।

१. वाक्य के उच्चारण में वक्ता को कष्ट या आनन्द का अनुभव कहां तक होता है?
२. वाक्य के सुनने में श्रोता को कष्ट या आनन्द का अनुभव कहां तक होता है?
३. अर्थ की प्रतीति और उसकी प्रामाणिकता में वाक्य कहां तक बाधक या सहायक होता है?

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि महाभारतकालीन उक्त परम्परा में वक्ता अथवा श्रोता दोनों की अनुभूति और अभिव्यक्ति की ओर ध्यान रखते हुए दोष और गुणों पर विचार किया जाता था।

---

१. अपेतार्थमभिन्नार्थं न्यायवृत्तं न चाधिकम्।
नाश्लक्ष्णं न च सन्दिग्धं वक्ष्यामि परमं ततः॥
न गुर्वक्षरसंयुक्तं पराङ्मुखसुखं न च।
नावृतं न त्रिवर्गेण, विरुद्धं नाप्यसंस्कृतम्।
न न्यूनं कष्टशब्दं वा, निक्रमाभिहितं न च।
न शेषमनुकल्पेन निष्कारणमहेतुकम्॥
शलभाजनक संवाद, शान्ति पर्व, महाभारत, पृ. ६५९-६०
रामचन्द्र शास्त्रि सम्पादित, प्रथम संस्करण (१९३२)

महाकवि भारवि ने—

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं
विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः ॥"[1]

इत्यादि वाक्य में इस परम्परा प्राप्त विवाद को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है, इतना ही नहीं उन्होंने पक्ष विशेष में अपना मन्तव्य भी प्रगट किया है।

उदाहरणार्थ अभिज्ञान शाकुन्तलम् में विदूषक का यह वचन :—

'दृष्ट दोषाऽपि स्वामिनि मृगया केवलं गुणाय संवृता' ।[2]

(अर्थात्—दोषपूर्ण भी मृगया स्वामी के लिए केवल गुणमयी ही हो गयी।)

कालिदास का यह अभिमत यह सिद्ध करने में समर्थ है कि परिस्थिति विशेष में दोष दोष न रहकर गुण भी बन जाते हैं। तात्पर्य यह है कि काव्य में दोष रह सकते हैं एवं वे कभी-कभी गुण के रूप में भी बदल जाते हैं। एक अन्य स्थल पर स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा है :—

'गुण समूह में एकाध दोष उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं, जैसे इन्दु की किरणों में कलंक 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः ॥'[3]

महाकवि भारवि ने कालिदास से अभिन्न शब्दों में ही उपर्युक्त विवाद का एकत्र उल्लेख कर[4] अन्यत्र स्पष्ट शब्दों में स्वाभिमत काव्य का स्वरूप स्पष्ट किया है कि :—

'प्रसाद माधुर्य तथा ओज से युक्त अर्थात् गुण से सम्पन्न, गौरव अर्थात् अर्थ गौरव से युक्त, साथ ही क्लिष्टत्वादि से विमुक्त होने के कारण लाघव से युक्त, सुगठित पद रचना से युक्त अथवा अवाच्यवचन आदि दोषों से मुक्त (साकांक्ष), अनुपस्कार अर्थात् कृत्रिमता से मुक्त

---

१. किरातार्जुनीय १५.५
२. अभिज्ञान शाकुन्तलम् अं. २. श्लोक ४ से पूर्व।
३. कुमार सम्भव १. ३
४. किरातार्जुनीय १५.५।

विष्वग् अर्थात् भावोक्ति से सम्पन्न, निराकुल अर्थात् अन्य अनेक दोषों से भी रहित वाक्य प्रशस्त होता है ।[1] अपने उपर्युक्त (वाक्य) अभिमत काव्य स्वरूप को प्रकट करने के अनन्तर एक अन्य स्थल पर भारवि ने यह भी माना है कि 'यदि कहीं एकाध दोष आ भी जायें तो वे अन्य गुणों की शोभा को पूर्णतः नष्ट नहीं कर पाते ।[2]

उपर्युक्त भारवि के मन्तव्यों के आधार पर यह स्वीकार करना अनुचित न होगा कि भारवि निर्दोष काव्य को प्रशस्त मानते हैं। किन्तु साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि यदि एकाध दोष आ भी जायें तो उससे काव्यत्व का विनाश नहीं होता ।

महाकवि बाण ने हर्ष चरितम् की प्रस्तावना में पूर्ववर्ती कवियों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में अत्यन्त मूल्यवान् विचार प्रस्तुत किये हैं और इसी प्रसंग में उन्होंने स्पष्टतः यह स्वीकार किया है कि कोई भी काव्य निर्दोष होने की स्थिति में अत्यधिक प्रशस्य हो जाता है। उनका कथन है कि :—

नवीन अर्थों से युक्त, ग्राम्य आदि दोषों से रहित रीति, क्लिष्टत्व आदि दोषों से रहित श्लेष, अप्रयुक्तत्व आदि दोषों से रहित पदों के द्वारा विभावादि की योजना से स्फुट रस तथा विकटाक्षरों की योजना ये सभी एकत्र दुर्लभ है, अर्थात् महाकवियों की रचनाओं में ही प्राप्य हैं ।[3]

इस स्थल पर बाण ने स्पष्टतः ग्राम्यत्व क्लिष्टत्व आदि दोष तथा रस प्रतीति को तिरोहित करने वाले रस दोषों का निषेध किया है। इसी प्रकार भट्टारहरि चन्द्र की प्रशंसा में बाण ने कहा है :—

'उज्ज्वल और मनोहरपदबन्ध सुन्दर क्रम से युक्त वर्ण योजना के

---

१. प्रसाद रम्यमोजस्वि गरीयो लाघवान्वितम् ।
साकांक्षमनुपस्कारं विष्वगितिनिराकुलम् ॥ —किरात. ११. ३८

२. नाल्पीयान्बहुषु कृतं हिनस्ति दोषः ॥ —किरात. ७. १५

३. नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः ।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥
—हर्ष चरितम् १.८

कारण भट्टारहरिश्चन्द्र का गद्यबन्ध नृपवत् सर्वश्रेष्ठ हो रहा है।'

यहां भी कवि ने उज्ज्वलता तथा सुकर्म को आदर देकर दोषाभाव पर ही बल दिया है।

इसी प्रकार अपनी आख्यायिका की प्रशंसा में भी बाण का कथन है :—

'सुख प्रबोध के कारण ललित' तथा सुवर्ण घटना वश उज्ज्वल' शब्दों से आख्यायिका सुशोभित होती है।'[२]

'यहां भी 'सुख प्रबोध के कारण ललित 'सुवर्ण घटनावश उज्ज्वल विशेषण द्वारा क्लिष्टत्व दोष के निराकरण की ओर कवि ने विशेष बल दिया है।

तात्पर्य यह है बाण जहाँ रस योजना पर बल देते हैं, वहीं क्लिष्टत्व ग्राम्यत्व आदि के निषेध पर भी। इन दोषों के अभाव में काव्य श्रेष्ठ होकर सम्मानित होता है। उनके इन वचन को देखकर हम सोच सकते हैं कि वे दोष रहने पर भी काव्यत्व स्वीकार करते हैं। किन्तु सदोष काव्य अधिक आदरणीय नहीं होता यह उनका अभिमत है।

प्रस्तुत विषय काव्य शास्त्र का है काव्य का नहीं। काव्यों में यदि कहीं इसकी कुछ चर्चा प्राप्त होती है तो वह गौण रूप से ही उन कवियों की काव्य विषयक मान्यताओं का संकेत मात्र है। उन काव्यों के निर्माता कालिदास आदि का उद्दिष्ट भी दोष गुण आदि के विवाद में पड़ना न था, अतएव उनकी रचना में इस प्रकार के सिद्धान्तों के अनुसन्धान को यहीं समाप्त करना अनुचित न होगा।

---

१. पदबन्धोज्वलो हारि कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धोनृपायते ॥ —हर्ष चरितम् १. १२

२. सुखप्रबोधललिता सुवर्णघटनोज्वलैः।
शब्दैराख्यायिका भाति .... ॥ —हर्ष चरितम् १. २०

तृतीय अध्याय

महिम भट्ट से पूर्ववर्ती अलंकार शास्त्र में दोष समीक्षा

जैसा कि हमने पूर्व प्रकरण में देखा है आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक प्रायः सभी ने काव्य में दोषों से बचने की ओर संकेत किया है। वे दोष क्या हैं ? अथवा उनका मूलाधार क्या है, इनके सम्बन्ध में सभी आचार्यों ने अपने अपने दृष्टिकोण से विचार किया है।

आचार्य भरत ने यद्यपि दोष का कोई सामान्य लक्षण नहीं दिया है तथापि गुणों को दोषों का विपर्यय कहकर उनका भावनात्मक स्वरूप स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त गूढार्थ आदि भरत स्वीकृत दश दोषों के[1] स्वरूप को देखकर भी हम कह सकते हैं कि उनके मत में अभिमत अर्थ की प्रतीति में असुविधा उत्पन्न करने वाले हेतुओं को दोष कहा जाता है। उनके मत में यह अभिमत अर्थ क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में हम कह सकते हैं कि मुख्यतः वाच्यार्थ है, क्योंकि भरत स्वीकृत अर्थान्तर, अर्थहीन एवं गूढार्थ नामक दोषों का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से ही वाच्यार्थ से है।[2]

इसके साथ ही आचार्य भरत के मत में किसी रचना में आये हुए वे तत्त्व भी दोष कहे जाने चाहिए, जिनके द्वारा वाच्यार्थ की वास्तविकता

---

१. गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम् ।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धिशब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः ॥
—ना. शा. १६. ८८

२. अर्थान्तर :—अवर्ण्यं वर्ण्यते यत्र तदर्थान्तरमिष्यते ।
अर्थहीन :—अर्थहीनं त्वसम्बद्धं सावशेषार्थमेव च ।
गूढार्थ :—पर्यायशब्दाभिहितं गूढार्थमिति संज्ञितम् ॥
—ना. शा. १६. ८९-९

में सन्देह हो सकता हो, अर्थात् जिन तत्त्वों से अभिधेय अर्थ की सत्यता अथवा विश्वसनीयता में बाधा उपस्थित होती हो, वे तत्त्व भी काव्य में दोष हैं। भरत स्वीकृत 'न्यायादपेत' नामक दोष इसी बात की ओर संकेत करता है। क्योंकि भरत ने प्रमाणहीन अथवा प्रमाण विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादन को 'न्यायादपेत' नामक दोष कहा है[1] एवं प्रमाण विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादन होने पर अर्थ की प्रतीति में बाधा न होकर उस अर्थ की विश्वसनीयता में ही व्याघात होता है। फलतः इस दोष की मान्यता का अर्थ हुआ कि 'जहाँ अर्थ की प्रतीति में बाधक तत्त्व त्याज्य हैं, वहीं उसकी विश्वसनीयता में व्याघात पहुँचाने वाले तत्त्व भी हेय हैं।

भरत के विसन्धि विषम नामक दोष अर्थ से सम्बद्ध न होकर शब्द से सम्बद्ध हैं[2] एवं उनके द्वारा हमें पता चलता है कि काव्यत्व के प्रसंग में भरत का ध्यान प्रतिपाद्य के साथ-साथ प्रतिपादक की ओर भी रहा है एवं वे प्रतिपाद्य की प्रतीति में बाधक तत्त्वों के साथ ही प्रतिपादक के सामर्थ्य और सौन्दर्य में व्याघात पहुंचाने वाले तत्त्वों को भी दोष मानते रहे हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वाचक के सौन्दर्य में और वाच्य की प्रतीति में व्याघात पहुंचाने वाले तत्त्व दोष हैं एवं वे काव्य में पूर्णतः हेय हैं यह भरत की मान्यता रही है। वाच्य अर्थ के अतिरिक्त भावों अर्थात् प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति की ओर भरत का विशेष ध्यान नहीं था। तथापि यह कहा जा सकता है कि भरत ने इस ओर सर्वथा ध्यान नहीं दिया है। भरत स्वीकृत दोषों में 'भिन्नार्थ' वाच्य अर्थ के साथ ही प्रतीयमान भावों के औचित्य की ओर भी संकेत करता है,[3] भिन्नार्थ दोष में असभ्य अथवा ग्राम्य पदों के प्रयोग के निषेध का उद्देश्य भी यही है।

---

१. न्यायादपेतं विज्ञेयं प्रमाणपरिवर्जितम्। —ना. शा. १६. ६३

२. अनुपश्लिष्टशब्दं यत्तद्विसन्धीति कीर्त्तितम्। —ना. शा. १६. ६४

३. भिन्नार्थमभिविज्ञेयमसभ्यं ग्राम्यमेव च।
विवक्षितोऽन्यस्वार्थो यत्रान्यार्थेन भिद्यते।
भिन्नार्थं तदपि प्राहुः काव्यं काव्यविचक्षणाः॥ —ना. शा. १६. ६०-६१

भरत के अनन्तर हमें भामह कृत काव्यालंकार में विस्तारपूर्वक दोष विवेचन मिलता है,[१] किन्तु दोष सामान्य की परिभाषा के प्रसंग में हम भामह को भी मौन पाते हैं। अतः भामह की दृष्टि में दोष क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में भी हमें कल्पना (तर्क) का ही आश्रय लेना होगा। भामह ने दो स्थानों पर दोष विवेचन किया है। सर्वप्रथम प्रथम अध्याय में वक्रोक्ति पर विचार करने के अनन्तर उन्होंने नेयार्थ आदि दश दोषों का विवेचन किया है। अतः इन्हें प्रसंग के अनुसार काव्य दोष न कह कर वक्रोक्ति दोष कहना चाहिए, तथा उन्हीं के अनुसार वक्रोक्ति वह साधन है जिसके द्वारा काव्यार्थ सुशोभित होता है।[२] इस का तात्पर्य यह हुआ कि नेयार्थ आदि दोष वे तत्त्व हैं जिनके द्वारा काव्यार्थ के विभाजन में (प्रतीति में) अन्तराय उपस्थित होता है। यदि अर्थ की विभावना का तात्पर्य वही माना जाये जो भरत अथवा परवर्त्ती आचार्यों का विभाव आदि द्वारा अर्थ प्रतीति से है, तब तो अर्थ विभावना में बाधक होने से इन दोषों का तात्पर्य भी काव्यार्थ प्रतीति में विघातक तत्त्वों से ही भामह का रहा होगा यह भी कहा जा सकता है। किन्तु चूंकि भामह विभाव आदि से प्रतीत होने वाले रस की काव्य में स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते, अतः इन दोषों से भामह का तात्पर्य रस विरोधी तत्त्वों के संकलन से नहीं रहा होगा। किन्तु इतना तो निश्चित की है कि भामह काव्य सौन्दर्य के लिए जिसे सर्वाधिक महत्त्व देते हैं, उस (वक्रोक्ति) को प्रतीति में बाधक तत्त्व ही भामह के मत से दोष है।

इन वक्रोक्ति दोषों के रहने पर अर्थ प्रतीति नहीं हो पाती, विलम्ब से होती है अथवा पूर्ण रूप से नहीं होती, यही कारण है भामह ने इन दोषों का स्पर्श भी काव्य के लिए अनुचित माना है।[३]

इन वक्रोक्ति दोषों के अतिरिक्त भामह ने अपार्थ व्यर्थ आदि

---

१. काव्यालंकार अध्याय प्रथम तथा चतुर्थ।

२. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना। —का० लं० २.८५

३. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ॥ —काव्यालंकार १.११

ग्यारह अन्य दोष भी माने हैं[1] जो कि न्यूनाधिक रूप में बाह्य प्रकृति से सम्बन्धित हैं।

भामह के दोनों प्रकार के दोष विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि उनकी दृष्टि में काव्यार्थ की प्रतीति में बाधा अथवा विलम्ब उपस्थित करने वाले, अथवा काव्य के बाह्य रूप को कलंकित करने वाले तत्त्व ही दोष हैं। चूँकि भामह ने काव्य की आत्मा के रूप में रस या ध्वनि का साक्षात्कार नहीं किया था, इसलिए परवर्त्ती आचार्यों की शब्दावली से भामह की शब्दावली में साम्य भले ही न हो सके। किन्तु उनकी दृष्टि से 'काव्य में जो भी सर्वाधिक महत्त्वशील तत्त्व है उनके विघातक तत्त्व दोष कहाते हैं'। निदान भामह की दृष्टि में भी काव्यार्थ अथवा मुख्यार्थ के व्याघातक तत्त्व दोष हैं, यह ही भामह का अभिमत है। दोष सामान्य के इसी रहस्य को मम्मट ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि मुख्यार्थ के विघातक दोष हैं।[2]

भामह ने दोषों का बहुत कुछ प्रतिपाद्य की प्रतिकूलता के आधार पर मूल्यांकन किया था, जो दोष प्रतिपाद्य की प्रतीति में साक्षात् व्याघात पहुंचाते हैं तथा प्रायः प्रत्येक परिस्थिति में वे व्याघातक ही रहते हैं, वे वक्रोक्ति प्रकरण में बताये गये नेयार्थ आदि दोष हैं, ये किसी परिस्थिति विशेष में दोषत्व का त्याग कर भी दें, तो भी गुण नहीं बन पाते, इनके विपरीत 'एकार्थ' आदि कुछ दोष ऐसे हैं जो कतिपय विशेष अवस्थाओं में काव्यात्मक प्रभाव को अपकर्ष की ओर न ले जाकर उत्कर्ष की ओर ले जाते हैं, वे अन्य दोष हैं। उदाहरणार्थ हम देख सकते हैं कि एकार्थक पदों का प्रयोग प्रायः काव्यार्थ का अपकारक माना जाता है, अतः दोष है। किन्तु वही एकार्थक पद प्रयोग भय, शोक, असूया, हर्ष, विस्मय आदि के समय दोष के रूप में नहीं माना जाता। इसी प्रकार जाओ-जाओ इत्यादि पद प्रयोग में पुनरुक्ति का

---

१. अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धि च।
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते॥ —काव्यालंकार ४.१,२

२. मुख्यार्थहति दोंषः। —काव्य प्रकाश ७.१

अनुभव भी नहीं होता।[1] इस प्रकार इनमें प्रथम प्रकार के दोष नित्य और अन्तरंग हैं जबकि दूसरे प्रकार के अनित्य और बहिरंग। भामह का उपर्युक्त दोषों का वर्गीकरण यद्यपि मौलिकता से पूर्ण है, तथापि बहुत स्पष्ट नहीं है, फिर भी परवर्त्ती आचार्यों ने इनके आधार पर ही दोषों का मूल्यांकन किया है अथवा उनके नित्यत्व और अनित्यत्व की चिन्तना की है।

भामह के अनन्तर हम दण्डीकृत दोष विवेचन प्राप्त करते हैं। दण्डी ने भी अपने काव्यादर्श में दोष का विस्तृत विवेचन[2] करते हुए भी दोष सामान्य की कोई परिभाषा नहीं दी है। अतः दोष सामान्य के सम्बन्ध में दण्डी की विचार परम्परा के लिए भी हमें कल्पना (तर्क) का आश्रय लेना पड़ता है। दोष सामान्य विषयक कल्पना के लिए हमारे पास दण्डी के केवल दो वचन हैं :—

१. दोष काव्य में विपत्ति के हेतु हैं तथा गुण सम्पत्ति के हेतु।[3]

२. विद्वानों को चाहिए कि इन दस दोषों से वे सदा बचते रहें।[4]

जैसा कि हमने पूर्व परिच्छेद में देखा है, दण्डी इष्ट अर्थ से युक्त

---

१. भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः॥ —काव्यालंकार ४.२४

२. अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तविसन्धिकम्।
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
इति दोषा दशैवैते वर्ज्या काव्येषु सूरिभि॥
—काव्यादर्श ३.१२५-२६।

द्रष्टव्य—सम्पूर्ण-दोष विवेचन काव्यादर्श परिच्छेद ३.१२७ से १८७ तक।

३. (क) दोषाः विपत्तये तत्र गुणाः सम्पत्तये तथा॥ —४.१
(ख) गुणास्तु (१) शब्दालंकारस्वभावाः गुणाः।
—रत्न श्री ज्ञानकृत काव्यादर्श टीका पृ० ५
(२) गुणाः वस्तुतः पुरुषार्थमया एव। —वही पृ० ६
(३) दोषास्तु तदाभासास्तत्संभविनो हेयाः। —वही पृ० ६

४. इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः॥ —३.१२६

पदावली को काव्य मानते हैं।[1] अब इस काव्य में विपत्ति और सम्पत्ति का क्या अर्थ हुआ ? इष्टार्थ की प्रतीति में व्याघात और सौकर्य का होना। फलतः दण्डी का तात्पर्य यही होना चाहिए कि इष्ट अर्थ की प्रतीति में बाधक को दोष तथा सौकर्य विधायक तत्त्व को गुण कहते हैं। दण्डी द्वारा प्रतिपादित अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ आदि दोषों का स्वरूप भी[2] यही सिद्ध करता है, ये दोष अर्थ से सम्बन्धित तथा उसकी प्रतीति में बाधा स्वरूप हैं। इसी प्रकार इष्टार्थ के प्रतिपादन में संलग्न कवि के लिए ग्राह्य और त्याज्य (अर्थात् गुण और दोष) और क्या हो सकता है ? जो उसके उद्देश्य में सहायक हों उन्हें ग्राह्य और जो बाधक हो उन्हें ही त्याज्य होना चाहिए, अर्थात् जो उद्देश्य सिद्धि में अथवा इष्टार्थ प्रतिपादन में बाधक है, वही त्याज्य है। इसका यह अर्थ हुआ कि दण्डी ने जिन दोषों को काव्य में त्याज्य कहा है, वे दोष काव्य के इष्टार्थ व्यवच्छेद में बाधक ही हुए।

इस प्रकार दोष सामान्य के सम्बन्ध में दण्डी का अभिमत यही हुआ कि 'इष्टार्थ की प्रतीति में बाधक को दोष कहते हैं।'

दोष सामान्य का सर्वप्रथम स्पष्ट शब्दों में लक्षण अग्नि पुराणकार ने किया है। उनका कहना है 'जो उद्वेग जनक है वही दोष है।[3] यहाँ उद्वेगजनक से अग्निपुराणकार का अभिमत सम्भवतः सहृदय

---

१. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥ —काव्यादर्श १.१०

२. (क) समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थमितीष्यते।
उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति ॥ —काव्यादर्श ३-१२८

(ख) एकवाक्ये प्रबन्धे वा पूर्वापरपराहतम्।
विरुद्धार्थयता व्यर्थमिति दोषेषु पठ्यते ॥ —काव्यादर्श ३.१३१

(किन्तु दण्डी के अनुसार ही वक्तृ विशेष की स्थिति में यह दोष गुण भी बन जाता है।)

अस्ति काचिदवस्था सा साभिषङ्गस्य चेतसः।
यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थाऽपि भारती ॥—काव्यादर्श ३.१३३

(ग) अविशेषेण पूर्वोक्तं यदि भूयोऽपि कीर्त्यते।
अर्थतः शब्दतो वापि तदेकार्थं मतं यथा ॥ —काव्यादर्श ३.१३५

३. उद्वेगजनको दोषः। —अग्नि पुराण ३.४७

पाठक की मानसिक तन्मयता को भंग करने वाले तत्त्वों से है, अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति में उद्वेगजनक तत्त्वों से नहीं। क्योंकि उद्वेग के हेतुओं में अग्नि पुराणकार ने कभी तो कवि की सन्देहयुक्तता, अविनय, मूर्खता को कारण माना है और कभी वाचक पद तथा वाक्यों में असाधुत्व अप्रयुक्तत्व आदि को। उनके अनुसार क्योंकि कभी-कभी पदार्थ अथवा वाक्यार्थ में इष्ट व्याघातकारित्व आदि ग्यारह दोष आ जाते हैं इनसे भी उद्वेग हो सकता है, अतः ये भी त्याज्य है।[1] इन वाच्य दोषों में इष्ट व्याघातकारित्व को स्वतन्त्र रूप से स्थान देने का तात्पर्य है कि वे दोष सामान्य में इष्टार्थ व्याघात (अभिप्रेत अर्थ के बोध में बाधा) को आवश्यक नहीं मानते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अग्नि पुराणकार के अनुसार सहृदय पाठक की मानसिक तन्मयता को भंग करने वाले जो तत्त्व हैं, वे दोष हैं।

दोष सामान्य की परिभाषा कवि की दृष्टि से सर्वप्रथम काव्यालंकार सूत्रवृत्तिकार आचार्य वामन ने की है। उनके अनुसार दोष काव्य सौन्दर्य के आक्षेप अर्थात् विनाश करने वाले तत्त्व हैं।[2] दोष के लक्षण और स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि 'गुणों के विपरीत स्वभाव वाले दोष होते हैं।'[3] अर्थात् दोष वे तत्व हैं जिनका स्वरूप गुणों के प्रतिकूल है। इसी को वृत्ति में और अधिक स्पष्ट करते हुए वे पुनः कहते है कि 'वक्ष्यमाण गुणों के विपरीत स्वरूप वाले जो हैं वे

---

१. वाच्यमर्थ्यमानत्वात्तद्विधा पदवाक्ययोः।
व्युत्पादितपूर्ववाच्यं व्युत्पाद्यं चेति भिद्यते।
इष्टव्याघातकारित्वं हेतोः स्यादसमर्थता।
असिद्धत्वं विरुद्धत्वमनैकान्तिकता तथा।
एवं सत्प्रतिपक्षत्वं कालातीतत्वसंकरः।
पक्षे सपक्षे नास्तित्वं विपक्षेस्तित्वमेव तत्।—अग्निपुराण ३४७.२१-२३

२. काव्यशरीरे स्थापिते काव्यसौन्दर्याक्षेपहेतवस्त्यागाय विज्ञातव्या इति दोषदर्शनं नामाधिकरणमारभ्यते।
—काव्यालंकार सूत्र वृत्ति २.१ की प्रस्तावना (वृत्ति)

३. गुणविपर्ययात्मनो दोषाः। —वही २.१

दोष हैं।[1] यहाँ पर गुणों के विपर्यय से अभाव का अर्थ भी अभिप्रेत हो सकता है। अभावरूप अर्थ की दशा में गुणाभाव से दोष के अर्थ की प्रतीति होने पर दोष अभाव रूप होंगे। परन्तु वामन ने दोषों को अभाव रूप न मान कर गुणों के विपरीत स्वरूप वाले माना है।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विपर्यय से वामन का तात्पर्य वैपरीत्य से ही है, अभाव से नहीं। उनके दोष गुणाभाव के द्योतक नहीं, प्रत्युत काव्यसौन्दर्य रूप गुण के विघातक हैं। अतएव वामन के अनुसार काव्य सौन्दर्य की हानि के कारण रूप दोषों की स्थिति विलोम रूप से भावात्मक है। वामन ने चूंकि काव्य सौन्दर्य को वस्तुगत माना है, अतः उनके अनुसार दोष भी वस्तुगत हुए। इस प्रकार वामन के मत में दोष बाह्य रूप से लक्षित होने वाले विकार मात्र है, जिनका हृदय पर (किसी प्रकार का) उद्वेग जनक प्रभाव पड़ता है।

वामन के उत्तरवर्त्ती आचार्य रुद्रट ने दोष का विस्तृत विवेचन करते[3] हुए भी पूर्ववर्त्ती आचार्यों की भांति ही दोष सामान्य का स्पष्ट लक्षण नहीं किया है किन्तु दोष के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उससे इतना तो स्पष्ट ही है, कि वे वामन के दोष सिद्धान्त के समर्थक न होकर भरत के ही अनुयायी हैं तथा भरत के समान हो दोषों को भावात्मक मानते हैं तथा वाच्यार्थ की प्रतीति में व्याघात उत्पन्न करने वाले तत्त्वों को ही दोष संज्ञा प्रदान करते हैं।

९वीं शताब्दी से पूर्व काव्य शास्त्र के प्रायः सभी आचार्यो ने काव्य के वस्तुगत रूप का ही साक्षात्कार किया था वे शब्द और अर्थ को काव्य मानते हुए शब्द और अर्थ की कुछ विशेषताएँ मान कर अलंकार गुण रीति या वृतियों को ही काव्य सर्वस्व मानते थे, इसी प्रकार वे शब्दगत अर्थगत अथवा वाक्यगत उस अनौचित्य को दोष मानते थे

---

१. गुणानां वक्ष्यमाणानां ये विपर्ययास्तदात्मानो दोषाः।

—वही २.११.१ की वृत्ति।

२. त एव आत्मानो येषां ते विपर्ययात्मनो विपरीतस्वरूपाः, नत्वभावरूपाः इत्यर्थः। अनेन गुणविपरीत स्वरूपत्वं दोष सामान्य लक्षणमुक्तं भवति। वही २.१.१.१ की कामधेनु व्याख्या

३. रुद्रटकृत काव्यालंकार अध्याय ६; ७, और ११

जिसके द्वारा अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति में अथवा अर्थ की विश्वसनीयता में बाधा होती है।

नवम शताब्दी में आचार्य आनन्द वर्धन के अवतरण के अनन्तर काव्य सम्बन्धी मान्यताएँ बदल गयीं। अब अलंकारों, रीतियों अथवा वृत्तियों का काव्य पर प्रभुत्व न रह गया, प्रत्युत उन के स्थान पर ध्वनि का उदय हुआ तथा ध्वनि के विविध भेदों में भी असंलक्ष्य क्रम ध्वनि अर्थात् रस ध्वनि की प्रधानता स्थापित हुई, क्योंकि ध्वनि के प्रायः सभी भेद 'रसादि' ध्वनि के ही पोषक होते हैं। अतः अलंकार गुण आदि भी उस रस ध्वनि की अनुकूलता होने पर ही काव्य में सौन्दर्याधायक होने वाले तत्त्वों की भांति ही सौन्दर्य विघातक तत्त्व दोष भी रस से ही सम्बद्ध हो गये।

आनन्द वर्धन चूँकि काव्य के विविध उपादान तत्त्वों के विवेचन में कभी प्रवृत्त न हुए, अतः उन विविध तत्त्वों के लक्षण अथवा स्वरूप प्रतिपादक वाक्य उनके ग्रन्थ ध्वन्यालोक में प्राप्त नहीं होते और न उनकी वहाँ खोज करना उचित ही है। फिर भी उन विविध तत्त्वों के सम्बन्ध में उनके (आनन्द वर्धन) विचार अत्यन्त स्पष्ट हैं।

उन्होंने दोष नाम से किसी निषेध्य तत्त्व का वर्णन अपने ग्रन्थ में नहीं किया है, किन्तु काव्य की आत्मा रस ध्वनि की व्यंजना में बाधा पहुँचाने वाले या विलम्ब के कारणों की उन्होंने विस्तृत रूप से विवेचना की है तथा बताया है कि किस रूप में उनसे बचा जा सकता है।[1]

---

१. (क) विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्।
अकाण्ड एव विच्छित्तिः अकाण्डे च प्रकाशनम्।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपौन्येन दीपनम्।
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च॥
—ध्वन्यालोक ३. १८-१९

(ख) व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः।
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अंगस्याप्यति विस्तृतिः।
अंगिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषास्स्युरीदृशाः॥

उन्होंने यह भी बताया कि श्रुतिदुष्ट आदि जो दोष काव्य में बताये गये हैं वे भी रस की दृष्टि से ही बताये गये हैं, उनका त्याग मुख्यतः असंलक्ष्यक्रमध्वनि अर्थात् रसादि ध्वनि में और उसमें भी शृंगार रस में आवश्यक है।[1] इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा है कि काव्य के जितने भी तत्त्व हैं—चाहे वह रस हो अथवा विभाव आदि अथवा ओज माधुर्य आदि गुण अथवा संघटना आदि सभी तत्त्व औचित्य के साथ प्रयुक्त होने पर काव्य में शोभा के हेतु होते हैं एवं अनुचित रूप से प्रयुक्त होने पर रसभंग के हेतु होते हैं। इस प्रकार अन्ततः अनौचित्य ही सब से बड़ा विघ्न अथवा दोष है।[2]

आनन्द वर्धन से परवर्त्ती प्रायः सभी आचार्यों ने काव्य के विविध तत्त्वों को रस की अनुकूलता से देखना प्रारम्भ किया। फलस्वरूप दोष की परिभाषाएँ भी रसोन्मुखी हो गयीं। इतना ही नहीं ध्वनि-सिद्धान्त के प्रभाव स्वरूप रस प्रतीति में अन्तराय उपस्थित करने वाले इन दोषों के अभाव को अत्यधिक आवश्यक भी माना जाने लगा। अलंकारों का परम्परा प्राप्त गौरव प्रायः तिरोहित होने लगा और तभी मम्मट ने दोषरहित शब्दार्थमयी किसी रचना को स्फुट अलंकारों के अभाव में भी काव्य मानने में संकोच नहीं किया।[3] मम्मट के अतिरिक्त अलंकार शेखर के रचयिता केशव मिश्र ने स्वीकार किया कि दोषाभाव ही महान्गुण हैं;[4] अतः कवि का यह सर्वमुख्य कर्त्तव्य है कि वह दोषों से बचने का पूर्ण प्रयत्न करें।

आनन्द वर्द्धन से पूर्व भी यद्यपि भामह ने वक्रोक्ति दोष और काव्य दोष नामक दोषों का द्विधा वर्गीकरण किया था, किन्तु उस वर्गीकरण

---

१. श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मभूते शृंगारे ते हेया इत्युदाहृताः॥ —ध्वन्यालोक २.११

२. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥ —ध्वन्यालोक पृ. २५६

३. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि॥ —काव्यप्रकाश १.१
(वृत्तिः) क्वचित्स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः॥ —वही १.१

४. दोषः सर्वात्मना त्याज्यो रसहानिकरो हि सः।
अन्यो गुणोऽस्तु वा मास्तु महान्निर्दोषता गुणः॥ —अलंकार शेखर पृ० १४

का कोई विशिष्ट मौलिक आधार न था। आनन्दवर्द्धन के अनन्तर पुनः दोषों का वर्गीकरण हुआ। इस वर्गीकरण का आधार था कि वह दोष रस का साक्षात् अपकारक है अथवा परम्परया। किसी रस की प्रतीति में साक्षात् बाधा पहुंचाने वाले तत्त्व काव्य के अन्तरंग दोष कहे गये, और परम्परया बाधा पहुंचाने वाले तत्त्वों को बहिरंग दोष की संज्ञा दी गयी। अन्तरंग दोषों का अर्थात् रस प्रतीति में साक्षात् बाधा उपस्थित करने वाले तत्त्वों की चर्चा आनन्द वर्द्धन ने ध्वन्यालोक में स्वयं विस्तारपूर्वक कर दी थी। परवर्त्ती आलंकारिकों में से कोई भी उनके अतिरिक्त अन्य अन्तरंग दोषों का अनुसन्धान न कर सका। हां अभिनव गुप्त ने अवश्य ही नाट्य शास्त्र में रस सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः' की व्याख्या करते हुए रस प्रतीति के प्रसंग में उपस्थित होने वाले सात विघ्नों की चर्चा की है।[1] शेष आलंकारिकों ने बहिरंग दोषों का ही विवेचन किया है।

इतना सब होने पर भी आनन्द वर्द्धन या अभिनव गुप्त ने कहीं भी दोष की सामान्य परिभाषा प्रस्तुत नहीं की है। अतः दोष का सामान्य स्वरूप अस्पष्ट ही रहा है।

यह कार्य सर्वप्रथम आचार्य महिम भट्ट ने किया है। चूंकि आचार्य महिम भट्ट ने काव्य की परिभाषा में प्रतीयमान अर्थ के संस्पर्श को अथवा यों कहा जाये रस की सत्ता को काव्य में अनिवार्य माना था, अतः उन्होंने दोष की परिभाषा करते हुए भी रस प्रतीति को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है, उनके अनुसार 'विवक्षित रसादि प्रतीति में विघ्न विधायक तत्त्वों को ही दोष कहते हैं।[2] तथा ये दोष कवि की असाव-

---

१. विघ्नाश्चास्यां सप्त, (१) प्रतीतावयोग्यता संभावना विरहो नाम, (२) स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशः, (३) निजसुखादि विवशीभावः, (४) प्रतीत्युपायवैकल्यम्, (५) स्फुटत्वाभावः, (६) अप्रधानता, (७) संशययोगश्च।

नाट्य शास्त्र अभिनव भारती टीका, पृ० ४६४

२. एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्'।

—व्यक्ति विवेक, पृ. १५२ १-४

धानतावश रचना में आ जाते हैं एवं रसभंग के हेतु बन जाते हैं।[1] आचार्य महिम भट्ट का कहना है कि ये दोष साक्षात् अथवा परम्परया रस प्रतीति में व्यवधान उपस्थित करते हैं। इसी आधार पर इन दोषों को दो भागों में बांट दिया जाता है, जो दोष साक्षात् रस के अपकर्षक हैं, वे अन्तरंग दोष तथा जो परम्परया अपकर्षक हैं वे बहिरंग दोष कहे जाते हैं।[2]

आचार्य महिमभट्टकृत दोषों की यह परिभाषा अथवा वर्गीकरण सर्वात्मनापूर्ण कही जा सकती है या नहीं, यह निर्णय विद्वानों पर ही छोड़कर मैं केवल इतना ही कहना चाहूंगा कि इनकी दोष परिभाषा और वर्गीकरण पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की अपेक्षा अत्यन्त व्यवस्थित है एवं परवर्ती सभी आचार्यों ने इसी मौलिक परिभाषा को स्वीकार किया है। साथ ही उन्होंने महिमभट्ट के अनुसार बहिरंग दोषों को ही अपनी विवेचना का विषय बनाया है। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि वे अपनी इस परिभाषा एवं वर्गीकरण के मूल काव्यार्थरूप ध्वनि अथवा रस को काव्य की आतमा के रूप में प्रतिष्ठा करने वाले आचार्य आनन्द वर्द्धन तथा अभिनव गुप्त के ऋणी हैं।

महिम भट्ट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने यद्यपि विस्तारपूर्वक दोषों का विवेचन किया था, किन्तु मौलिक आधार की अस्पष्टता के कारण न तो वे दोष की कोई अधिक व्यवस्थित परिभाषा दे सके थे और न ही कोई अधिक व्यवस्थित वर्गीकरण ही कर सके। किसी ने दोषों को गुणों से विपरीत कह दिया तो दूसरे ने गुणों की परिभाषा के लिए दोषों को आधार बना लिया। वर्गीकरण के प्रसंग में भी वे या तो मौन रहे अथवा पद पदार्थ वाक्य और वाक्यार्थ में आश्रित होने के कारण उन दोषों का इन्हीं के आधार पर वर्गीकरण कर दिया।) वामन ने दोषों

---

१. पारम्पर्येण साक्षाच्च यदेतत्प्रतिपद्यते ।
कवेरजागरूकस्य रसभङ्गनिमित्तताम् ।
....
तस्य प्रकमभेदाद्याः दोषाः पञ्चैव योनयः ।। —व्यक्ति विवेक, पृ॰ १३५

२. अन्तरंगबहिरंगभावश्चानयोः साक्षात्पारम्पर्येण च रसभङ्गहेतुत्वापदिष्टः ।। —व्यक्ति विवेक, पृ॰ १५२

को काव्य सौन्दर्य के आक्षेप के हेतु बताते हुए[1] जो एक सामान्य लक्षण दिया था उसे हम अधिक उचित इसलिए नहीं कह कह सकते कि वहां सौन्दर्य की परिभाषा कुछ स्पष्ट नहीं थी, क्योंकि वामन ने एक ओर दोष को सौन्दर्य का विघातक (आक्षेप हेतु) कहा और दूसरी ओर सौन्दर्य, दोष के त्याग और गुणों के आधान से प्राप्त होता है[2] कहते हुए दोष और सौन्दर्य दोनों के ज्ञान को अन्योन्याश्रित कर दिया था। उन्होंने सौन्दर्य की एक स्वतन्त्र परिभाषा 'सौन्दर्य अलंकार है'[3] कहते हुए यदि दी भी, तो वह भी दोष प्रकरण में संगत नहीं होती। क्योंकि यहां यदि अलंकार का अर्थ उपमा आदि लिया जाये, जो अलंकार प्रकरण का विषय है, तो वामन वर्णित असाधुत्व कष्टत्व आदि पद दोष, अन्यार्थ नेयार्थ आदि पदार्थ दोष, भिन्नवृत्त यतिभ्रष्ट आदि वाक्य दोष अथवा व्यर्थ एकार्थ आदि वाक्यार्थ दोष उपमा अलंकारों के प्रतियोगी के रूप से किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं कहे जा सकते। दूसरी ओर वामन ने काव्य की आत्मा रीति को स्वीकार किया था, किन्तु उपर्युक्त दोषों को किसी रीति विशेष अथवा सभी रीतियों का विरोधी भी नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत चूंकि वे रीतियाँ ही एक दूसरे से प्रत्यक्ष विरोधी हैं अत: यदि किसी एक रीति विशेष का कोई दोष विशेष विरोधी भी हुआ तो वह अन्य का अनुयोगी हो जाता हैं। अतः उसे काव्य की आत्मा रीति का विरोधी नहीं कहा जा सकता। यही बात वर्गीकरण के संबन्ध में है, वहां दोष की दोषात्मकता को मौलिक आधार न मानकर उन दोषों के आश्रय पद पदार्थ वाक्य वाक्यार्थ आदि माने गये थे तथा वर्गों के नाम भी आश्रयों के आधार पर ही रखे गये।

आचार्य महिम भट्ट के दोष लक्षण में अथवा वर्गीकरण में ऐसा कोई दोष नहीं मिल पाता। उन्होंने दो स्थलों पर दोष की परिभाषा दी है।[4] दोनों ही स्थानों पर उन्होंने रस प्रतीति में बाधा पहुचाना ही

---

१. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः। —काव्यालंकार सूत्र वृत्ति ३.१.१.
गुणविपर्यात्मनो दोषाः॥ —वही २.१.१.
२. स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्। —वही १.१.३
३. सौन्दर्यमलंकारः। —वही १.१.२
४. (क) पारम्पर्येण साक्षाच्च यदेतत्प्रतिपद्यते।
कवेरजागरूकस्य रसभङ्गनिमित्ततााम्॥ —व्यक्तिविवेक पृ. १३५

दोषत्व का आधार माना है जो प्रत्येक स्थिति में उचित ही है। वर्गीकरण के प्रसंग में भी महिम भट्ट ने दोषों के जो दो वर्ग स्थापित किये वे रस के आधार पर ही, अर्थात् रस के साक्षात् अपकर्षक तत्त्वों को अन्तरंग दोष और परम्परया अपकर्षक तत्त्वों को बहिरंग दोष नाम देते हुए भी एक मौलिक आधार ही रखा।

(ख) एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविघातकत्वं नाम सामान्यलक्षणम्। —पृ. १५२

चतुर्थ अध्याय

महिम भट्ट की काव्यदोष मीमांसा दृष्टिकोण और वर्गीकरण

संस्कृत काव्य शास्त्र के क्षेत्र में आचार्य आनन्द वर्द्धन के अवतरण से काव्य की परिभाषा में एक नवीन क्रान्ति का उदय हुआ। फलतः काव्य की आत्मा के (काव्य के सौन्दर्य के मूल के) सम्बन्ध में स्वीकृत प्राचीन समस्त मान्यताएं समाप्त हो गयीं, अब तक जिन अलंकार गुण वृत्ति या रीतियों को सर्वाधिक महत्त्वशील माना जाता था,[1] वे सभी पोषक अथवा अंग के रूप में ही रह गये उनके स्थान पर ध्वनि की, उसमें भी मुख्यतः रस ध्वनि की आत्मा के रूप में स्थापना हुई।[2] आचार्य आनन्द वर्द्धन ने वस्तु अलंकार तथा रस को भी काव्यार्थभूत रस की व्यंजना में सहायक सिद्ध किया। उनके अनुसार वाक्य पद और पदार्थ तो काव्यार्थ के व्यंजक तो स्वीकृत हुए ही, साथ ही सुप्तिङ् कृत् तद्धित आदि प्रत्यय, वचन, कारक तथा समास आदि भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति में सहायक माने गये।[3]

---

१. (क) काव्यशोभाकर्तारो धर्माः गुणाः । तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ॥
—का० सू० ३.१.१,२

(ख) रीतिरात्मा काव्यस्य।
—का० सू० १,२,६

२. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥
काव्यस्यात्मा स एवार्थः।
—ध्वनिकारिका १.४-५

३. सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैः तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥
—ध्वनिकारिका ३.१५

आचार्य आनन्दवर्द्धन की उपर्युक्त मान्ताएँ एक क्रान्तिकारी स्थापना थीं। जिसके द्वारा प्राचीन समस्त काव्य सिद्धान्तों का उन्मूलन हो रहा था, उस स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि प्राचीन परम्परा के पोषक उनके सिद्धान्तों का विरोध करते और किया भी यही उन्होंने।

इन्हीं दिनों (इसी संक्रमण काल में) आचार्य महिमभट्ट का उदय होता है। उन्होंने (स्पष्ट शब्दों में) आचार्य आनन्दवर्द्धन की उपर्युक्त काव्यार्थ सम्बन्धी मान्यताओं को ही माना है और व्यंजना का विवेचन करते हुए अपने ग्रन्थ व्यक्तिविवेक में स्वीकार किया कि गुण और अलंकारों से संस्कृत शब्दार्थ शरीर काव्य हो ऐसी बात नहीं है।[1] अपितु उस शरीर में विद्यमान रसात्मकता ही काव्यत्व का हेतु है।[2] किसी रचना में यदि यह रसात्मकता नहीं है, तो उस रचना को मुख्य रूप में काव्य ही नहीं कह सकते।[3] उसे काव्य तो तभी कहा जा सकेगा जब वह रचना रसात्मक हो।[4] इसीलिए कवि गण रसादि की व्यंजना में कारणभूत विभावादि की योजना में ही प्रवृत्त होते हैं, अन्यथा नहीं।[5] इस प्रसंग में उन्होंने किसी अज्ञात नामा आचार्य (सम्भवत: भट्ट नायक) का वचन भी उद्धृत किया है, जिसका तात्पर्य है कि 'अनुभाव और विभाव के द्वारा किये गये वर्णन को ही काव्य कहते हैं, तथा यदि वह वर्णन प्रयोगात्मक हो तो उसे नाट्य कह दिया जाता है।[6] ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना अनुभूति को केन्द्र बिन्दु मानकर हुई थी। आचार्य

---

१. न गुणालंकारसंस्कृतशब्दार्थमात्रशरीरं तावत्काव्यम्…। तस्य रसात्मताऽभावे मुख्यवृत्त्या काव्यव्यपदेश एव न स्यात्॥ —व्यक्ति विवेक पृ. ९८

२. रसात्मकं च काव्यम्। —व्यक्ति विवेक पृ. १२९

काव्यारम्भस्य साफल्यमिच्छता तत्प्रवृत्तिनिबन्धनभावेन तस्य रसात्मकत्वमवश्यमुपगन्तव्यम्। —वही पृ. ९७

३. तस्य रसात्मताभावे मुख्यवृत्त्या काव्यव्यपदेश एव न स्यात्। —वही पृ. ९८

४. अनुमेयार्थसंस्पर्शमात्रं चान्वयव्यतिरेकाभ्यां काव्यस्य चारुत्वहेतुरिति निश्चितम्। —वही १३९

५. विभावाद्युपनिबन्धन एव कवि व्यापारो नापरः। ते च यथा शास्त्रमुपनिबध्यमाना रसाभिव्यक्तेः निबन्धनभावं भजन्ते नान्यथा। —वही १२९

६. अनुभावविभावाभ्यां वर्णना काव्यमुच्यते।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यगीतादिरञ्जितम्॥ —वही ९६

महिम भट्ट ने तार्किकों की दृष्टि से उसे ग्राह्य बनाने के लिए से नैयायिक समाज में प्रचलित पदकृत्य शैली को अपनाकर आनन्दवर्धन द्वारा उपस्थापित ध्वनि लक्षण की परीक्षा की और उसमें जो दोष प्रतीत हुए उनका निराकरण करने की दृष्टि से लक्षण में परिष्कार और संस्कार प्रस्तुत किया हैं। इस क्रम में उन्होंने ध्वनि के स्थान पर काव्यानुमिति यह नामान्तर भी प्रस्तुत दिया। इस प्रसंग में आनन्दवर्द्धन स्वीकृत जो अंश ध्वनि के (काव्यानुमिति के) लक्षण के क्षेत्र में न आ सके उनको अस्वीकार करने के लिए तथा कुछ नवीन अंशों को उसके क्षेत्र में लेने को वे सदा तैयार रहे। इस प्रकार उन्होंने स्वयं को तटस्थ (ध्वनि के पक्षपाती नहीं हैं, यही) दिखाते हुए भी प्रकारान्तर से आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त को पुष्ट किया है। किन्तु इसे उनका दुर्भाग्य ही मानना चाहिए कि परवर्ती विद्वानों ने उनकी काव्य विषयक मान्यताओं को न देखकर, ध्वनिनाम का खण्डन मात्र देखकर उन्हें ध्वनि सिद्धान्त का विरोधी मान लिया अन्यथा काव्यत्व की दृष्टि से महिमभट्ट सदा ही आनन्दवर्धन का समर्थन ही करते हैं, विरोध नहीं।

आनन्दवर्द्धन ने काव्य में रस को सर्वोत्कृष्ट मानते हुए भी ध्वनि के अनेक भेद स्वीकार किए थे, जिनमें वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि भी थी।[1] आचार्य महिम भट्ट ने भी रसानुमिति के न होने पर भी अन्य

---

१. (क) सहृदयर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलंकारा रसादयश्च···।

ध्वन्यालोक १.४ पृ. २०

(ख) तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ-लौकिकः कविव्यापारगोचरश्च। ···स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते। सोऽपि (कविव्यापारैकगोरश्च) द्विविधः यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थेऽलंकारभावमुपमादिरूपतयान्वभूत्, इदानीं त्वनलंकाररूप एवान्यत्र गुणीभावाभावात्, स पूर्वप्रत्यभिज्ञानबलादलंकारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन। तद् रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुच्यते।···यस्तु···शब्दसमर्प्यमाण-हृदयसंवादि सुन्दर-विभावानुभावसमुचित-प्राग्विनिर्विष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचवर्णव्यापार-रसनीयरूपो रसः स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतया काव्यात्मेति।'

—ध्वन्यालोक लोचन (अभिनवगुप्त) १.४

प्रतीयमान वस्तु अलंकार अर्थ के प्रगट होने पर उस रचना को काव्य कहा है। इस प्रसंग में उनका कहना है कि जहां वाच्य और प्रतीयमान अर्थ के बीच गम्यगमकभाव का संस्पर्श हो वह रचना काव्य है।[1] अन्तर केवल इतना है कि आनन्दवर्धन ने साक्षात् या परम्परा से किसी भी प्रकार वाच्यार्थ से प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होने पर काव्य माना था, वह प्रतीयमान अर्थ चाहे वस्तुमात्र हो चाहे, अलंकाररूप अथवा रसरूप। जबकि महिम भट्ट के अनुसार यदि वाच्यार्थ से साक्षात् प्रतीयमान रस आदि की प्रतीति हो रही है, तब तो वह रचना प्रशस्त है काव्य है, अन्यथा वह प्रहेलिका मात्र है। उदाहरणार्थ—

विवरीअ सुरअ समए बह्माणं दड्ऽण णाहि कमलम्मि।
हरिणो दाहिण णअणं चुम्वह हिलिवा उला लच्छी।।
[विपरीतसुरतसमये ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभि कमले।
हरेर्दक्षिणं नयनं चुम्बति ह्रियाकुला लक्ष्मीः।।[2]]

आनन्दवर्द्धन के अनुसार यहां वाच्यार्थ तथा अन्तिम व्यंग्यार्थ (प्रतीयमान अर्थ) के बीच तीन कोटियां रहने पर भी इसे उत्तम काव्य माना जाएगा। जबकि महिम भट्ट इसे काव्य मानने को प्रस्तुत नहीं। वे इसे पहेली मात्र ही मानते हैं। हां यदि जहाँ परम्परा प्राप्त प्रतीयमान अर्थ रस रूप हो, तो महिमभट्ट उसे काव्य मान सकते हैं।

यह अन्तर क्यों है? इस प्रसंग में आचार्य महिमभट्ट ने केवल इतना ही लिखा है कि 'वस्तुमात्र, अलंकार और रस में कभी समता

---

१. (क) यत्र वाच्यप्रतीयमानयोः गम्यगमकभावसंस्पर्शस्तत्काव्यम्।
—व्यक्ति विवेक पृ. १३६

(ख) अनुमेयार्थसंस्पर्शमात्रं चान्वयव्यतिरेकाभ्यां काव्यस्य चारुत्वहेतुरिति निश्चितम्...तदेवं प्रकारत्रयेप्यनुमेयार्थसंस्पर्श एव काव्यस्य चारुत्वहेतुरित्यवगन्तव्यम्। —वही १३६

२. इस पद्य में हरि के दक्षिण नयन का तात्पर्य है सूर्य, उसके निमीलन का अर्थ हुआ सूर्यास्त, पुनः सूर्यास्त द्वारा कमल का निमीलन एवं कमल निमीलन द्वारा ब्रह्मा का तिरोभाव, तथा उसके फलस्वरूप लक्ष्मी की लज्जा निवृत्ति अर्थ की प्रतीति होती है।

नहीं की जा सकती, क्योंकि वस्तुमात्र अनुमेय रसादि से सर्वथा भिन्न है, जैसे अग्नि से धूम आदि, व्यभिचारिभाव आदि तो अनुमेय रसादि की छाया सदृश होते हैं, एवं उनकी प्रतीति भी रसादि से आलिगित अर्थात् संश्लिष्ट-सी ही होती है, सर्वथा भिन्न नहीं। फलतः उन व्यभिचारिभावों का व्यवधान बाधक प्रतीत नहीं होता। यही बात अलंकारों के सम्बन्ध में भी है, अलंकार भी अलंकार्य से भिन्न (पृथक्) कभी स्थित नहीं रह सकते। इन दोनों में आश्रय आश्रयिभाव सम्बन्ध है, अतः उनका व्यवधान भी बाधक के रूप में प्रतीत नहीं हो सकता, किन्तु वस्तुमात्र के लिए उपर्युक्त बात नहीं कही जा सकती।[1]

तर्क और अनुभूति के मौलिक अन्तर के कारण ही महिम भट्ट और आनन्दवर्द्धन में एक स्थान पर और वैमत्य है। वह है गुणीभूत व्यंग्य की स्वीकृति के प्रसङ्ग में।

आनन्दवर्द्धन के अनुसार जहाँ प्रतीयमानार्थ प्रधान न होकर किसी अन्य अर्थ का पोषक है, अथवा उसकी प्रधानता सन्दिग्ध है, अथवा वह प्रतीयमान अर्थ अस्फुट है, तो उन स्थितियों में वह प्रतीयमान अर्थ गुणीभूत रहता है, एवं उससे युक्त काव्य को उत्तम काव्य न मानकर मध्यम काव्य कहा जाता है।[2] जबकि महिम भट्ट का कथन है कि प्रतीयमान अर्थ चाहे प्रधान हो या अप्रधान उसका संस्पर्शमात्र ही उत्तम काव्यत्व के लिए पर्याप्त है।[3]

---

१. न च व्यवधानाविशेषाद् व्यभिचार्यलंकारव्यवधान पक्षेऽपि एतत् समानमिति मन्तव्यम्, वस्तुमात्रस्य व्यभिचार्यलङ्कारादीनां च भिन्नजातीयत्वात्। वस्तुमात्रं ह्यनुमेयादत्यन्तविलक्षणस्वभावमग्न्यादेरिव धूमादिः। व्यभिचार्यादयस्तु तच्छायानुविधायिनस्तदुपरक्ता इव तदालिंगिता इवोत्पद्यन्ते न ततोत्यन्तविलक्षणा एवेति तद् व्यवधान अन्यदेव वस्तु व्यवधानाद् इत्यसिद्धस्तदविशेषः। अलंकारोप्यलंकार्यान्न पृथगवस्थातुमर्हति, तयोराश्रयाश्रयिभावेनावस्थानात्, इति तद् व्यवधानस्याप्यविशेषो सिद्ध एव इति।
—व्यक्ति-विवेक पृ० ८७-८८

२. प्रकारोन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यंग्यान्तरे काव्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत्। —ध्वन्यालोक पृ० ४०९

३. (क) नचोपसर्जनत्वेन तयो र्युक्तं विशेषणम्।
यतो काव्ये गुणीभूतव्यंग्येपीष्टैव चारुता॥ —व्यक्ति-विवेक २९

महिम भट्ट ने कारण का निर्देश करते हुए यहां भी इतना ही कहा है कि चूँकि अनुमेयार्थ (व्यंग्यार्थ) की सिद्धि में साधन भूत वाच्यार्थ है, अतः अनुमेयार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ कभी भी प्रधान नहीं हो सकता है, जहां कहीं वाच्यार्थ प्रधान कहा जाता है वहां भी वस्तुतः प्राकरणिक अर्थ की अपेक्षा से कहा जाता है, अनुमेयार्थ की अपेक्षा नहीं।[1]

इस पक्ष में दूसरा तर्क यह भी दिया जा सकता है कि अनुमेयार्थ (व्यंग्यार्थ) प्रधान काव्य में जिस चारुत्व के दर्शन होते हैं, वह चारुत्व किसका है ? यदि वह चारुत्व केवल प्राधान्यवश है, तो गुणीभूत व्यंग्य में भी चारुत्व का दर्शन होना चाहिए, क्योंकि वहां भी प्राधान्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अनुमेयार्थ से भिन्न वाच्यार्थ आदि किसी अर्थ का प्राधान्य तो वहां भी है ही।

यदि वह चारुत्व प्राधान्यकृत न होकर अनुमेयार्थ कृत है तो भी गुणीभूत व्यंग्य में चारुत्व का अभाव नहीं कह सकते, क्योंकि चारुत्व-हेतु अनुमेयार्थ के विद्यमान रहने पर, चाहे वह प्रधान हो या अप्रधान, काव्यचारुत्व में अन्तर नहीं आना चाहिए। उदाहरणार्थ राजा का दर्शनीयत्व उसकी प्रधानता और अप्रधानता के कारण परिवर्तित नहीं होता। किसी भृत्य की वर-यात्रा में अप्रधान होकर भी वह उतना ही आकर्षक रहता है।

यही स्थिति अनुमेयार्थ (व्यंग्यार्थ) की है। फलतः उसकी (अनुमेयार्थ) की प्रधानता अथवा अप्रधानता से काव्य चारुत्व में कोई अन्तर

(ख) अनुमेयार्थसंस्पर्शमात्रं चान्वयव्यतिरेकाभ्यां काव्यस्य चारुत्वहेतुरिति निश्चितम्। —वही पृ० १०६

(ग) न चायं प्रधानेतरभावेनोपनिबद्धस्तेषामनुमेयतां प्रतिबध्नाति।
—वही० पृ० १४१

(घ) यदि काव्ये गुणीभूतव्यंग्येऽपीष्टेव चारुता।
प्रकर्षशालिनी तर्हि व्यर्थः स्यादादो ध्वनौ। —वही० पृ० १४२

(ङ) गुणीभूतव्यंग्येऽपि चारुत्वप्रकर्षदर्शनात्। —पृ० १२

१. न ह्यग्न्यादिसिद्धौ धूमादिरुपादीयमानः गुणतामतिवर्त्तते तस्य तन्मात्रलक्षणत्वात्। यत्पुनरस्य क्वचित्समासोक्त्यादौ प्राधान्यमुच्यते तत्प्राकरणिकापेक्षया, न प्रतीयमानापेक्षया। —वही पृ० १०-११

नहीं आता, अनुमेयार्थ का संस्पर्श मात्र काव्य चारुत्व के लिए पर्याप्त है।

इस प्रकार हम सकते हैं कि काव्यत्व के सम्बन्ध में आचार्य आनन्दवर्द्धन और महिम भट्ट में पूर्ण समानता हैं, दोनों ही रसादि की प्रतीति को मुख्यतः काव्यार्थ मानते हैं। अन्तर केवल इतना है कि आनन्द वर्द्धन अनुभूति के पक्षपाती हैं, वं अनुभूति के समर्थन के लिए तर्क को उसी प्रकार आवश्यक नहीं मानते, जैसे कि योगिप्रत्यक्ष की स्वीकृति के लिए इन्द्रियार्थं सन्निकर्ष आवश्यक नहीं होता।

इसके विपरीत जिस प्रकार अन्य लौकिक प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियार्थं सन्निकर्ष को आवश्यक माना जाता है, उसी प्रकार महिमभट्ट रसादि प्रतीति के समर्थन के लिए भी हेतु का अनुसन्धान करते हैं। इसीलिए उन्होंने स्पष्टतः वाच्यार्थ से भिन्न ध्वनिवादियों के मत में लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ कहे जाने वाले अनुमेयार्थ को तर्क संगत सिद्ध करते हुए उसके स्वरूप को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। तभी उन्हें कहना पड़ा कि 'उपचारतः अर्थ प्रतीति के प्रसंग में अव्यवस्था न होने लगे, अतः किसी निमित्त का अनुसरण करना चाहिए, अन्यथा किसी अर्थ विशेष के लिए प्रसिद्ध शब्द अन्य असम्बद्ध अर्थ विशेष का बोध कैसे करा सकेगा? अतः अर्थ विशेष की प्रतीति के लिए किसी हेतु को स्वीकार करना चाहिए, वह हेतु जो भी हो।'[१] इस प्रसङ्ग में आचार्य महिम भट्ट ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है जिसका तात्पर्य है कि शब्द में वाच्यार्थ का बोध कराने वाली अभिधा शक्ति के अतिरिक्त कोई और शक्ति है ही नहीं।[२] क्योंकि शब्द सुनने के अनन्तर प्रकट हुए वाच्यार्थ के बाद लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थों की प्रतीति होती है अतः उन अर्थों को वाच्यार्थ से प्रतीत अर्थ मानना चाहिए, तथा

---

१. किञ्चोपचारवृत्तौ शब्दस्य मा भूदतिप्रसंगः इत्यवश्यं किमपि निमित्तमनुसर्त्तव्यम्। अन्यथान्यत्र प्रसिद्धसम्बन्धः कथमसम्मितमेवार्थान्तिरं प्रत्याययेत्। यच्च निमित्तं तदेवास्माभिरिह लिंगमित्याख्यातम्। युक्तं चैतत्। शब्दस्य तत्र व्यापाराभावात्। व्यापाराभावश्च सम्बन्धाभावात्। लिंगाच्च लिंगिनः प्रतीतिरनुमानमेवेति। —व्यक्ति विवेक पृ० ११५-११६

२. शब्दस्यैकाभिधाशक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गता।
न व्यंजकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम्॥ —वही १.२७

वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के मध्य लिङ्गलिङ्गभाव के अतिरिक्त कोई अन्य सम्बन्ध यहां दिखाई नहीं देता एवं लिङ्ग से लिङ्गी की प्रतीति अनुमान ही है।[१] फलतः लक्ष्यार्थं अथवा व्यङ्ग्यार्थं कहे जाने वाले अर्थ को वाच्यार्थ से प्रतीत तथा अनुमेयार्थं ही मानना चाहिए।

इस समग्र विवेचन के निष्कर्ष के रूप में यह स्वीकार करना अनुचित न होगा कि काव्यार्थं के स्वरूप और काव्य के आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में आचार्यं आनन्दवर्द्धन और आचार्यं महिमभट्ट प्रायः समान विचार रखते हैं,[२] तथा महिमभट्ट आनन्दवर्द्धन के ध्वनि लक्षण तथा एकाध अन्य मान्यताओं का विरोध करते हुए भी मूलतः उनका समर्थन ही करते हैं।

यह पहले प्रकट किया जा चुका है कि महिमभट्ट की मान्यता के अनुसार समस्त वाक्य व्यवहार ही अनुमान रूप है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि अनुमान वाक्य के समान यहां पांच न्यायांगों का प्रयोग नहीं मिलता, फिर सामान्य वाक्य को हम अनुमान कैसे कहें ? इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक न्याय वाक्य में पांच न्यायांगों का प्रयोग आवश्यक नहीं है। सभी का प्रयोग तो केवल उस स्थिति में होता है, जब कि प्रतिपता अर्थात् जिसके लिए अनुमान वाक्य की योजना की जा रही है, वह पामर प्राय हो। विद्वान् विचारशील प्रतिपत्ता के समक्ष तो केवल मुख्य न्यायांगों अर्थात् प्रतिज्ञा हेतु और उदाहरणों, का का प्रयोग ही पर्याप्त होता है। यही कारण है कि मीमांसा शास्त्र में केवल उपर्युक्त तीन ही न्यायांग माने गए हैं।[३] पाश्चात्य तर्क शास्त्र में भी केवल उपर्युक्त तीन (Hypotheis or Enunciation Demonstr-

---

२. वाच्यादर्थान्तरं भिन्नं यदि तल्लिङ्गमस्य सः।
नान्तरीयकतया निबन्धो ह्यस्य लक्षणम्॥ —वही० १.७२

३. काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः।
संज्ञायां सा केवलम् ··· ··· ··· ··· ··· ······ ॥ —वही० १.२६

२. येन वाक्येन यस्यानुमानबुद्धिरुत्पद्यते तत्साधनमित्युच्यते। तच्च पंचतयं केचिद् द्वयमन्ये, वयम् त्रयम्। उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्।···एवं त्वत्यन्तसाकांक्षमेव वाक्यं क्लेशगम्यार्थं भवतीति त्र्यवयवमेव युक्तम्।
—शास्त्रदीपिका १. १. ५. पृ. ६४
निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९१५ ई० संस्करण

ation and Authorities नाम से स्वीकार किए गए हैं।[1] उचित भी यही है, क्योंकि उपनय तो पक्ष में उदाहरण के आधार पर हेतु का संगमन ही है।[2] वह वाक्य द्वारा किया जाए अथवा न किया जाए अनुच्चरित संगमन तो सर्वत्र रहेगा ही, फलतः उपनय शब्द का कथन अनिवार्य नहीं है। यही स्थिति निगमन की है, क्योंकि निगमन में प्रतिज्ञा का ही पुनः वचन उपसंहार रूप से किया जाता है।[3] फलतः पंचावयव न्याय-वाक्य (न्यायांग) में प्रतिज्ञा हेतु और उदाहरण तीन ही मुख्य हैं। इन तीन में भी उदाहरण का प्रयोग भी नितरां अपेक्षित नहीं है, उसका अवश्यंभावेन प्रयोग तभी होना चाहिए जब हेतु और साहचर्य का ज्ञान प्रतिवादी को न हो। यदि हेतु और साध्य का साहचर्य वादी प्रति-वादी दोनों को स्वीकार है, तो उदाहरण की कथमपि आवश्यकता नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रतिज्ञा के अनन्तर केवल हेतु का ही कथन आव-श्यक होता है। कहा भी है—

तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः।[4]

अर्थात् व्याप्ति के अभाव में पक्ष और साध्य का सहभाव उदाहरण में दिया जाता है। विद्वान् वक्ता अथवा प्रतिपता के लिए केवल हेतु का कथन ही पर्याप्त होता है।"

यही कारण है शास्त्र में अथवा लोक व्यवहार में प्रायः प्रतिज्ञा अथवा विचार एवं हेतु का ही प्रयोग होता है, उदाहरण का प्रयोग कभी कभी ही किया जाता है। कविगण भी रस निष्पत्ति के लिए हेतुभूत विभावों अनुभावों एवं व्यभिचारिभावों की योजना करते हैं, उदाहरण की नहीं। इतना ही नहीं, रसादि के प्रसंग में तो केवल हेतु का ही प्रयोग अपेक्षित होता है, एकान्ततः अव्यभिचारि हेतु को देख कर ही

---

१. J. S. Mill : System of logic, Peoples Ed. p. २५६
२. उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्य उपनयः। —न्या. सू. १. २. ३८
३. हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्। —न्या. सू. १. १. ३९
४. व्यक्ति विवेक पृ. ६५

साध्य का ज्ञान (अनुमान) पाठक को अनायास हो जाता है, प्रतिज्ञा के शब्दतः निर्देश की भी अपेक्षा नहीं रह जाती।[1]

इस प्रकार शास्त्र वाक्य अथवा न्याय वाक्य एवं काव्य वाक्य में चारुत्व के अतिरिक्त पूर्णतः साम्य है। न्यायवाक्य में जिस प्रकार न्यायांगों के प्रसंग में शैथिल्य के कारण, अर्थात् साध्य साधन में पूर्णतः सक्षम अव्यभिचरित हेतु के न रहने पर वह हेतु हेतु न रहकर हेत्वाभास हो जाता है तथा साध्य सिद्धि नहीं हो पाती, अथवा प्रतिज्ञा के कथन में दोष होने पर प्रतिज्ञा हानि आदि निग्रह स्थान उपस्थित हो सकते हैं।[2] फलतः साध्यसिद्धि नहीं हो सकती, तथा वादी को असफल या पराजित होना पड़ता है, उसी प्रकार काव्य में भी विधेय का अविमर्श इत्यादि हो जाने से हेत्वाभास अथवा निग्रह स्थानों की उपस्थिति हो जाती है और वही काव्य दोष है।

उदाहरण के रूप में हम काव्य के अन्तरंग दोषों को देखें—शृंगार रस के प्रसंग में शृंगार के विरोधी रौद्र रस से सम्बन्धित विभाव आदि का ग्रहण करने पर विभावादि रूप हेतु क्या शृंगार रस का साधक हो सकता है? नहीं, वह तो रौद्र का साधक होने से शृंगार के अभाव की ही साधना करेगा। परिणामतः साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाला वह हेतु हेतु न रहकर विरुद्ध हेत्वाभास के सदृश कहा जाएगा।[3]

दोष और उसके प्रकार भेद

काव्यार्थ के विघातक तत्त्वों को ही काव्य शास्त्र में दोष कहा गया है।

---

१. इस प्रसंग में स्मरणीय है कि नव्य न्याय में न्याय वाक्यों की पांच संख्या के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से विवेचन किया गया है एवं उन पांचों को अनिवार्य नहीं माना गया है, किन्तु विषयान्तर होने के कारण उन पर विस्तृत विवेचन करना यहां उचित न होगा।

२. प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासन्यासो हेत्वन्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तं अननुभाषणं अज्ञानं अप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्य्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुपयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि॥ —न्या. सू. ५. २. १.

३. साध्याभावसाधको हेतुर्विरुद्धः। तर्क संग्रह।

(ख) सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः।

—न्या. सू. १. २. ६.

आचार्य भरत के अनुसार वे दोष गूढार्थ आदि संख्या में दस हैं।[१]

भामह ने भी नेयार्थ से प्रारम्भ कर कुछ भेद रखते हुए भी दस दोषों को ही मान्यता प्रदान की।[२]

दण्डी ने भी संख्या में कोई वृद्धि न करते हुए अपार्थ आदि दस दोषों को ही स्वीकार किया है।[३]

वामन ने पद पदार्थ वाक्य वाक्यार्थ आदि भेद विस्तार करते हुए इनकी संख्या में वृद्धि की और अब वे बीस हो गए।[४] यही स्थिति रुद्रट की रही, उन्होंने भी वामन के समान ही बीस काव्य दोषों का निरूपण किया।[५] उनके परवर्ती अनुयायियों की यही स्थिति है। किन्तु इन

---

१. गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः।
—ना. शा. १६-८८

२. नेयार्थं क्लिष्टमन्यार्थमवाचकमयुक्तिमत्।
गूढशब्दाभिधानं च कवयो न प्रयुञ्जते। —का. अ. १.३८
श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पना दुष्टमित्यपि।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुः वाचां दोषं चतुर्विधम्॥ —भामह काव्यालंकार १,४७

३. अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धितम्।
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
इति दोषाः दशैवेते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः॥ —काव्यादर्श ३.१२५,१२६

४. दुष्टं पदमसाधु कष्टं ग्राम्यमप्रतीतमनर्थकं च।
अन्यार्थनेयार्थगूढार्थाश्लीलक्लिष्टानि च।
भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टविसन्धीनि च वाक्यानि।
व्यर्थैकार्थसन्दिग्धाप्रयुक्तापक्रमलोकविद्याविरुद्धानि च।
—वामन काव्यालंकार सूत्र २.२.११

५. असमर्थमप्रतीतं विसन्धि विपरीतकल्पनं ग्राम्यम्।
अव्युत्पत्ति च देश्यपदमिति सम्यग्भवेद् दुष्टम्। —काव्यालं. रुद्रट, ६.२
वाक्यं भवति तु दुष्टं संकीर्णगर्भितं गतार्थञ्च।
अपहेतुरप्रतीतो निरागमो बाधयन्नसम्बद्धः।
ग्राम्यो विरसस्तद्वानतिमात्रश्चेति दुष्टोर्थः॥
सामान्यशब्दभेदो वैषम्यमसंभवोऽप्रसिद्धिश्च।
इत्येते चत्वारो दोषाः नासम्यगुपमायाः॥ —वही १.१.२४

समस्त आचार्यों ने दोष का कोई आधारभूत ऐसा लक्षण नहीं किया जिससे यह निर्णय किया जा सके कि ये दोष क्यों उपस्थित होते हैं? इनके द्वारा काव्य की चारुत्वहानि क्यों होती है? जिसके कारण इन्हें त्याज्य कहा जा रहा है। ध्वनिवाद के प्रवर्त्तक आचार्य आनन्दवर्धन ने दोषों के नाम से किन्हीं तत्त्वों का वर्णन नहीं किया है, किन्तु उन्होंने भी कुछ बातों को त्याज्य बताया है, तथा उनकी त्याज्यता के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्टतः कहा है कि ये तत्त्व काव्यार्थभूत रस की हानि करने वाले हैं।[1] तथा एक प्रसंग में उन्होंने पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत श्रुतिदुष्ट आदि दोषों के सम्बन्ध में भी कहा है कि ये अनित्य दोष शृंगार रस ध्वनि की प्रधानता के अवसर पर ही त्याज्य हैं, अन्यत्र नहीं।[2] आचार्य आनन्दवर्धन की उपर्युक्त मान्यता हमें उनकी इस मौलिक उद्भावना को सूचित करती है कि "दोष रसादि की अनुभूति में बाधक हैं तथा यदि किसी परिस्थिति विशेष में वे रस की अनुभूति में अन्तराय उपस्थित नहीं करते, वहां वे दोष नहीं रह जाते।

आचार्य आनन्दवर्द्धन की उपर्युक्त दोष सम्बन्धी उद्भावना को सर्वप्रथम व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने स्वीकार किया और दोष सामान्य का लक्षण करते हुए कहा कि "विवक्षित रसादि प्रतीति में विघ्नविधायी होना ही दोष का सामान्य लक्षण है"।[3] काव्यशास्त्र में दोष सामान्य के लिए दिया गया यह प्रथम लक्षण था, जिसका अनु-

---

१. विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्।
अकाण्ड एव विच्छित्तिः अकाण्डे च प्रकाशनम्।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम्।
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च॥

२. श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृंगारे ते हेया इत्युदाहृताः॥ —ध्वन्यालोक २.११

३. श्रीकन्हैयालाल पोद्दार ने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में 'आचार्य मम्मट ने सर्वप्रथम दोष सामान्य का लक्षण दिया है' ऐसा स्वीकार किया है। जो उचित नहीं है। क्योंकि मम्मट से पूर्व ही आचार्य महिम भट्ट ने दोष सामान्य का लक्षण दिया है, जिसकी चर्चा पूर्व पृष्ठों में की जा चुकी है।

वर्त्तन परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने किया। उदाहरणार्थ—

१. मुख्यार्थ की हानि ही दोष है—मम्मट[१]

२. दोषों के रहने पर कहीं तो रस प्रतीति ही नहीं होती, कहीं प्रतीयमान रस हीन रूप से प्रकट होता है, और कहीं उसकी प्रतीति विलम्ब से होती है[३]—गोविन्द ठक्कुर

३. रसोत्पत्ति में प्रतिबन्धक को दोष कहते हैं।[४]—केशवमिश्र

४. रसोत्पत्ति में प्रतिबन्धक होने से ही दोषों को दोष कहा जाता है।[५] श्रीपाद

५. रस के अपकर्षक ही दोष कहाते हैं।[६]—विश्वनाथ

६. रस के अपकर्ष में हेतुओं को ही दोष कहा जाता है।[७] कृष्ण-कवि

७. दोष रस परिपाक को भंग करते हैं।[८] पंडितराज जगन्नाथ इत्यादि

रसानुभूति में प्रतिबन्ध-प्रक्रिया

उपर्युक्त पंक्तियों से हमें पता चलता है, कि आनन्दवर्द्धन महिम-भट्ट तथा उनके परवर्त्ती प्रायः सभी आचार्यों ने दोषों को रसानुभूति

---

१. विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम (दोष) सामान्यलक्षणम्।
—व्यक्तिविवेक १५२

२. मुख्यार्थहतिः दोषाः।
—काव्य प्रकाश ७.४६

३. दुष्टेषु क्वचिद्रसस्याप्रतीतिरेव, क्वचित्प्रतीयमानस्यापकर्षः, क्वचिद् विलम्बः।
—काव्य प्रदीप ७.४६

४. दोषत्वं रसोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वम्, रसकारणीभूताभावप्रतियोगियथार्थ ज्ञानविषयत्वमिति यावत्।
—अलंकार शेखर २.१ पृ. १४

५. रसोत्पत्तिप्रतिबन्धकतयैव तेषां दोषता।
—श्रीपाद अलंकारशेखर से उद्धृत पृ. १४

६. रसापकर्षकाः दोषाः।
—साहित्य दर्पण .१४

७. रसापकर्ष हेतुत्वं दोषत्वम् परिकीर्तितम्। —मन्दारमरन्दचम्पू पृ० १६६

८. इत्थमेते संक्षेपेण निरूपिताः दोषाः। अस्याश्च रीतेः निर्माणे कविना नितरामवहितेन भाव्यमन्यथा तु परिपाकभंगः स्यात्।
— रसगंगाधर प्रथम आनन

में प्रतिबन्धक माना है। किन्तु अब प्रश्न यह है कि वह प्रक्रिया क्या है? जिसके कारण रसानुभूति में बाधा उपस्थित होती है। इस सम्बन्ध में प्रायः सभी आचार्य मौन रहे हैं। रस को कार्य और ज्ञाप्य से भिन्न व्यंग्य मानने वाले[1] आचार्यों के मत में यह प्रक्रिया क्या होगी इसका उत्तर खोजना अभी शेष है। किन्तु आचार्य महिम भट्ट[2] के पक्ष से यह उत्तर देना उचित होगा कि उनके अनुसार दोषों की स्थिति दो प्रकार की है: अन्तरङ्ग दोष और बहिरङ्ग दोष। अन्तरङ्ग दोष उन्हें कहा जाता है जो काव्यार्थ भूत रस की प्रतीति में विघ्न उत्पन्न करते हैं। ये विघ्न रस की प्रतीति में व्याघात कर कहीं उसके आस्वाद में विरसता उत्पन्न करते हैं और कभी विलम्ब उपस्थित करते हैं। एक तीसरी स्थिति भी हो सकती है जिसके फलस्वरूप रस प्रतीति पूर्णतः बाधित हो। इस तृतीय स्थिति को आचार्य अभिनवगुप्त ने विघ्न माना है। प्रतिपत्ति में अयोग्यता आदि इस प्रकार के सात प्रकार के विघ्न हो सकते है।[2] महिम भट्ट ने इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर दोष सामान्य का लक्षण करते हुए कहा है कि 'विवक्षित रसादि प्रतीति में विघ्न विधायक होना दोष है।[3] ये विघ्न विधायक तत्त्व कभी रस प्रतीति में साक्षात् विघ्न उत्पन्न करते हैं और कभी परम्परया; दोनों ही स्थिति में ये विघ्न कहलाते हैं।[4] महिम भट्ट ने इन्हें विघ्न न कहकर दोष नाम से अभिहित किया है।

महिम भट्ट के अनुसार काव्य में विद्यमान दोषों को दो वर्गों में

---

१. आचार्य आनन्दवर्द्धन तथा उनके अनुयायी आचार्य।

२. विघ्नाश्चास्यां सप्त, संभावनाविरहरूपा प्रतिपत्तावयोग्यता, स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशो, निजसुखादिविवशीभावः, प्रतीत्युपायवैकल्यं स्फुटत्वाभावोऽप्रधानता संशययोगश्च।

—अभिनव भारती रससूत्र व्याख्या पृ० ४७४

३. एतस्य विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायकत्वं नाम सामान्य लक्षणम्।

—व्यक्ति० वि० पृ० १५२

४. पारम्पर्येण साक्षाच्च यदेतत्प्रतिपद्यते।
कवेरजागरूकस्य रसभङ्गनिमित्तताम्। —वही पृ० १३५

विभाजित किया जाता है : अन्तरङ्ग दोष और बहिरङ्ग दोष।[1] आनन्द वर्द्धन स्वीकृत[2] प्रबन्ध में निबद्ध रस के विरोधी रस से सम्बन्धित विभाव आदि का निबन्धन, अन्वित (प्रासङ्गिक) कथावस्तु का भी अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन, प्रकरण प्राप्त और वर्णित किये जा रहे वस्तु अलंकार अथवा रस को असमय ही संक्षिप्त कर देना, किसी वस्तु रसादि का असमय ही निबन्धन प्रारम्भ कर देना, परिपुष्ट रसादि का पुनः-पुनः विभावादि द्वारा दीपन, तथा वृत्तियों की योजना में अनौचित्य[3] इन रस दोषों को महिम भट्ट ने अविकल रूप से अन्तरङ्ग दोषों के रूप में स्वीकार किया है, तथा यह भी कहा है कि क्योंकि इन अन्तरङ्ग दोषों का विवेचन पूर्व आचार्य ने किया है अतः मैं यहाँ उनके विवेचन की अपेक्षा नहीं समझता।[4] [इस प्रसङ्ग में आनन्द वर्धन वर्णित दोषों की ओर संकेत करके उनके द्वारा वर्णित दोषों को अविकल रूप से बिना ननु न च के स्वीकार करना महिम भट्ट की आनन्दवर्धन के प्रति श्रद्धा और सम्मान को सूचित करता है तथा उनके लिए 'आद्य' विशेषण का प्रयोग अन्य समस्त प्राचीन आलंकारिकों की अपेक्षा आनन्द वर्धन के प्रति सर्वातिशायी श्रद्धा की ओर संकेत करता है। यह श्रद्धातिरेक महिम भट्ट द्वारा स्वयं को आनन्द वर्धन के अनन्य

---

१. बहिरङ्गत्वान्तरङ्गत्वभेदात्तद् द्विविधं स्मृतम्।
तत्र शब्दैकविषयं बहिरङ्गं प्रचक्षते।
द्वितीयमर्थविषयं तत्त्वाद्यैरेव दर्शितम्।
तत्स्वरूपमतोऽस्माभिरिहनेह प्रतन्यते ॥ —व्यक्ति० वि० १-९१-९२

२. विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥
अकाण्ड एव विच्छित्तिः अकाण्डे च प्रकाशनम्।
परिपोषं गतस्यापि पौन.पौन्येन दीपनम्।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥ —ध्वन्यालोक ३.१८.१९

३. विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्।
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम् ॥
परिपोषं गतस्यापि पौनःपौन्येन दीपनम्।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥—ध्वनि कारिका ३.१८-१९

४. अन्तरङ्गमाद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते ॥ —व्यक्ति० बि० १४९

अनुयायी होने की भी सूचना देता है ।][1]

इन अन्तरङ्ग दोषों को आनन्द वर्धन ने नित्य दोष माना था। इन अन्तरङ्ग दोषों (नित्य दोषों) के अतिरिक्त दण्डी भामह आदि द्वारा अनेक पद दोष पदार्थ दोष वाक्य दोष और वाक्यार्थ दोष भी स्वीकृत रहे हैं, आचार्य महिम भट्ट ने उन सबको पूर्णतया अस्वीकार करते हुए केवल पांच काव्य दोषों का विवरण व्यक्तिविवेक में निबद्ध किया है, वे हैं: विधेयाविमर्श पौनरुक्त्य, प्रक्रम भेद क्रमभेद तथा वाच्यवचन एवं अवाच्य वचन।[2] महिम भट्ट द्वारा इन पांच दोषों की स्वीकृति अतिशय मनोवैज्ञानिक और पूर्ण है। अन्य अनेक आचार्यों द्वारा उद्भावित अथवा स्वीकृत पद-पदार्थ, वाक्य-वाक्यार्थ आदि सभी दोष इन पांच दोषों के अन्तर्गत ही समाहित हो जाते हैं, क्योंकि वे सभी इन पांच में अन्यतम के उपादान तत्त्व ही बनते हैं, अन्यथा उनकी सत्ता ही नहीं रहती।

महिमभट्ट द्वारा उद्भावित इन पांच दोषों में पूर्व-पूर्व की उपेक्षा उत्तरोत्तर अधिक स्थूल हैं। इन्होंने केवल इन पांच दोषों को ही क्यों स्वीकार किया है ? इन पांच दोषों की दोषता क्यों और कैसे है ? तथा इनके अतिरिक्त अन्य दोषों के मानने की अपेक्षा क्यों नहीं है ? इन प्रश्न

---

१. वस्तुतः आचार्य महिम भट्ट रसवाद अथवा ध्वनि के विरोधी न थे। विरोध केवल यह है कि आनन्दवर्द्धन रसको अनुभूति मूलक मानते हैं और महिमभट्ट उसे ही तर्क द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। तर्क अर्थात् अनुमान का आश्रय वे उसी प्रकार लेते हैं, जैसे माली उपवन की रक्षा हेतु कांटों का उपयोग करता है। ध्वनि का वह भेद ज़ो कि तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता उसे वे ध्वनि क्षेत्र से उसी प्रकार निकाल देने को प्रस्तुत हैं, जैसे चतुर माली अनपेक्षित होने पर फूलों से भरी डाली को भी काट कर अलग कर देता है। तर्क के अनुकूल होने पर वे ध्वनि के क्षेत्र से अन्य भाग को भी ध्वनि मानने में संकोच नहीं करते। इसीलिए हम महिम भट्ट को ध्वनि विरोधी न मानकर तर्काश्रित ध्वनिवादी मानते हैं।

२. पारम्पर्येण साक्षाच्च यदेतत्प्रतिपद्यते।
कवेरजागरूकस्य रसभङ्गनिमित्तताम्॥
यत्त्वेतच्छब्दविषयं बहुधा परिदृश्यते।
तस्य प्रक्रमभेदाद्याः दोषाः पञ्चैव योनयः॥ —व्यक्ति वि० १.९३-९४

का समाधान खोजने पर हमें पता चलता है कि काव्य में रस आदि की निर्बाध प्रतीति तभी होती है, जब वाक्य में जिसे प्रधान प्रतीत होना चाहिए, वह प्रधान प्रतीत हो। जिसे अप्रधान होकर प्रतीत होना चाहिए, वह सदा ही अप्रधान ही प्रतीत हो। वाक्यार्थ में प्रधानतया जिस अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए, यदि किसी कारण वह अर्थ प्रकट तो होता है, किन्तु उसका प्राधान्य प्रतीत नहीं होता, किसी कारण वह अन्य अर्थों के समभाव को प्राप्त हो जाए, अथवा गौण हो जाए तो वक्ता को सामान्य वाक्यार्थ की प्रतीति में भी बाधा होती है। रस प्रतीति के प्रसंग में क्या कहना, वहां विरसता होना तो अनिवार्य ही है। अतः सामान्य अथवा काव्यवाक्य में प्रधान अर्थ की अन्यथा प्रतीति प्रथम महान् दोष मानना चाहिए। आचार्य महिम भट्ट ने इस स्थिति को **विधेयाविमर्श** नाम दिया है। इसे ही मम्मट और उनके उत्तर वर्त्ती सभी आचार्यों ने **अविमृष्टविधेयांश** नाम से एक दोष माना है।

महिमभट्ट द्वारा स्वीकृत द्वितीय दोष **पौनरुक्त्य** है। पुनरुक्त अथवा पौनरुक्त्य की चर्चा पूर्ववर्त्ती सभी काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने की है। रसदोष के प्रसंग में भी आचार्य आनन्द वर्धन ने 'परिपोषं गतस्यापि पौन· पौन्येन दीपनम्' कहते हुए पुनरुक्ति को विरसता के प्रति कारण माना था। शब्द प्रयोग के प्रसंग में पुनरुक्ति की अनेक स्थितियां हो सकती है। अनेक स्थलों पर शब्दों की पुनरुक्ति काव्य में सौन्दर्य का आधान भी करती है। किसी अर्थ पर बल देने के लिए वाक्यों में एक शब्द का दो बार प्रयोग करना लोक में भी प्रचलित है। 'पुनरुक्तवदा-भास एक सुविदित अलंकार है। किन्तु बिना किसी प्रयोजन के ऐसा शब्द पौनरुक्त्त जिसमें कि अर्थ पौनरुक्त्य भी सम्मिलित हो, रसानु-भूति में विरसता लाता है, आह्लाद की अनुभूति में कमी ला देता है।

रसानुभूति में विरसता की अपेक्षा अनुभूति क्रम में बाधा शैली के परिवर्त्तन से होती है। शैली का यह परिवर्त्तन प्रकृति प्रत्यय तिङन्त और कृदन्त प्रत्ययों और विभक्तियों के प्रयोग में अथवा आत्मनेपद परस्मैपद के प्रयोग में भेद, काल भेद, क्रम भेद आदि के द्वारा हो सकता है। प्रत्येक पूर्व प्रक्रान्त शैली अर्थ बोध के प्रसंग में श्रोता या पाठक के मानस में एक प्रक्रिया को जन्म देती है, अचानक प्रक्रान्त शैली में परिवर्त्तन (भंग) हो जाने पर वह प्रक्रिया भी बिखर जाती है

फलतः रसानुभूति का क्रम कुछ काल के लिए टूट जाता है और पुनः नवीन प्रक्रिया का जन्म होने पर अर्थ बोध प्रारम्भ होता है। इस प्रकार रस प्रतीति का क्रम एक बार कुछ काल के लिए टूटता है। यह दोष का तृतीय प्रकार है। आचार्य महिम भट्ट ने इस दोष को **प्रक्रम भेद दोष** नाम दिया है। मम्मट आदि आचार्यों ने **भग्नप्रक्रम** नाम से इसे स्वीकार किया है।

वाक्य के द्वारा अर्थ प्रतीति के प्रसंग में जहां प्रत्येक शब्द विशेष का एक विशेष महत्त्व है; किसी शब्द विशेष के स्थान पर उसके पर्याय-वाची पद का प्रयोग होने पर समग्र रूप से उसी रूप में उस अर्थ विशेष का बोध नहीं होता। अनेक पर्यायवाची पदों में से कोई एक पद ही किसी अर्थ विशेष की प्रतीति कराने के लिए उपयुक्त हो पाता है। कालिदास के कुमारसम्भव में शिव के प्रति पार्वती के प्रेम को अनुचित बताने के उद्देश्य से ब्रह्मचारी वटुवेषधारी शिव के वचन 'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः" (कुमारसंभव ५.७१) में कपालिनः पद में जो उपयुक्तता है, वह शिव के अन्य अभिधान 'पिनाकिनः' का प्रयोग करने पर सर्वथा समाप्त हो जाती है। इसे ही कुन्तक ने पर्याय वक्रता के नाम से काव्य चारुत्व के उपादान के रूप में स्वीकार किया है। अनेक पर्यायों में से किसी एक पद विशेष के प्रयोग में विद्यमान इस उपयुक्तता के समान ही उस पद का वाक्य में प्रयोग किस स्थान पर किया जाए इसका भी एक महत्त्व है। अपने विशिष्ट अपेक्षित स्थान पर पद का प्रयोग न होकर अन्यत्र वाक्य में जहां कहीं उसका प्रयोग वाक्यार्थ की प्रतीति में ही बाधा उत्पन्न करता है। बहुत बार तो सामान्य वाक्य में भी पद के यथास्थान प्रयोग न होने पर अपेक्षित अर्थ की सहज प्रतीति नहीं हो पाती। श्रोता अन्वय करके वास्तविक अर्थ के अनुसन्धान के प्रयत्न में ही भटक जाता है। वाक्य गत पद विशेष के अर्थ की प्रधानता और अप्रधानता में तो निरन्तर व्याघात उपस्थित होता ही है। फिर काव्यवाक्य में जहां सुकोमल रसादि रूप अर्थ की प्रतीति होनी है, वहां क्या स्थिति होगी, इसकी कल्पना सहृदय पाठक ही कर सकता है। आचार्य महिमभट्ट ने पद क्रम से वाक्यार्थ की प्रतीति के व्याघात को **क्रम दोष** की संज्ञा दी है और इसे भी काव्यार्थ प्रतीति में व्याघात मानते हुए दोष माना है।

काव्य वाक्य में कवि जिस विषय वस्तु का वर्णन करना चाहता है अथवा जिस रस की योजना करना चाहता है उसके लिए अपेक्षित वस्तु अथवा विभाव आदि का कथन न हो पाना और अनपेक्षित का कथन होना भी महान दोष है। कवि के द्वारा की गयी वाक्य योजना में जब अपेक्षित वाच्य का कथन नहीं हो सका है, उस स्थिति में भी कवि ने वाक्य योजना तो की ही है, अतः निश्चय ही उस वाक्य योजना में अनपेक्षित का, अवाच्य का वचन हुआ है। अतः सामान्यतः दो दोषों के रूप में प्रतीत होने वाले इस दोष को महिम भट्ट ने दो दोष न मानकर एक दोष ही माना है तथा उसे **वाच्यावचन-अवाच्यवचन** इस संयुक्त नाम से स्मरण किया है। स्मरणीय है कि महिमभट्ट से परवर्त्ती आचार्य विद्याधर ने एकावली में वाच्यावचन एवं अवाच्यवचन को अलग-अलग दो दोषों के रूप में स्वीकार किया है।

काव्य में अन्वित विभावादि वस्तु का भी यदि अत्यन्त विस्तार से वर्णन कर दिया जाए तो वह वर्णित विभावादि स्वयं साध्य के समान प्रतीत होने लगते हैं, फलतः दो विरुद्ध साध्यों की प्रतीति होने से अभीष्ट साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं हो सकती, फलतः वे विभावादि रसभावादि के साधक हेतु न रह कर हेत्वाभास-से हो जाते हैं। काव्य में इन्हें हेत्वाभास न कहकर काव्य दोष कहा जाता है।

विधेयाविमर्श

विधेयाविमर्श बहिरंग दोषों में सूक्ष्मतम है। विधेयाविमर्श का तात्पर्य है कि प्रधानतया अभिमत का प्रधान रूप से प्रतिपादन न होना। अर्थात् कविप्रमाद वश प्रधान का अप्रधान हो जाना। यह अप्रधानता चार प्रकार से हो सकती है। १. समास के कारण, २. क्रम विशेष के कारण ३. यत् तथा तत् शब्द के अपुष्ट प्रयोग के कारण। तथा ४. आख्यात अथवा कृत् प्रत्ययों के अनुचित प्रयोग के कारण।

समासजन्य विधेयाविमर्श

समस्त समासों का एक सामान्य लक्षण कहा जा सकता है कि विशेषण और विशेष्य भाव द्वारा एकरूपता अर्थात् एक शरीर के

रूप में परिणति है।[1] एकरूपता अथवा एक शरीर के रूप में परिणति हम इसलिए कहते हैं कि उसके बिना सामर्थ्य नहीं हो सकता जो कि समास के लिए नितान्त आवश्यक है।[2] उसका परिणाम यह होता है कि समासगत पदों की प्रधानता समाप्त हो जाती है एवं वे केवल सम्बन्ध मात्र का ही बोध करा पाते हैं।[3] यही कारण है कि काव्य में असमास प्रधान वैदर्भी रीति की ही प्रशंसा की गई है।[4] पदों की अप्रधानता की स्थिति में ही समास होता है, इससे वैयाकरण भी पूर्णतः सहमत है। प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि ने नञ् समास के प्रसंग में प्रसज्य प्रतिषेध तथा पर्युदास प्रतिषेध को स्पष्ट करते हुए वाक्यपदीय में लिखा है—१. जहां विधि की अप्राधनता और प्रतिषेध की प्रधानता हो अर्थात् नञ् का प्रयोग क्रिया के साथ किया गया हो, वहां प्रसज्य प्रतिषेध होता है, ऐसी स्थिति में नञ् समास नहीं होता।[5]

२. पर्युदास प्रतिषेध वह है जहां विधि की प्रधानता एवं निषेध की अप्रधानता हो, तथा नञ् का [समास करके] उत्तर पद के साथ प्रयोग किया गया हो।[6]

तात्पर्य यह है कि पर्युदास प्रतिषेध में अर्थात् नञर्थ की अप्रधानता

---

१. सर्वेषामेव समासानां तावत्प्रायेण विशेषणविशेष्याभिधायिपदोपरचित-शरीरत्वं नाम सामान्यलक्षणमाचचक्षिरे विचक्षणाः।
—व्यक्ति विवेक पृ० १८३

२. इतरथा तेषां समर्थतानुपपत्तिः। —वही पृ० १८३

३. सम्बन्धमात्रमर्थानां समासो ह्यवबोधयेत्।
नोत्कर्षमपकर्षं वा वाक्यात्तूभयमप्यदः॥ —वही पृ० २१८

४. अतएव च वैदर्भीरीतिरेकैव शस्यते।
यतः समाससंस्पर्शस्तत्र नैवोपपद्यते॥ —वही पृ० २७८

५. अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्य प्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्॥
—वाक्यपदीय, मीमांसा न्याय प्रकाश पृ० ७१

६. प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोतर पदेन नञ्॥
—वाक्यपदीय, मीमांसा न्याय प्रकाश पृ० ७१ तथा ७७

में ही नञ् समास होता है प्रसज्य में अर्थात् नञर्थ की प्रधान रहने पर नहीं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जिन पदों का अर्थ प्रधानतया विवक्षित है उन पदों का अन्य पदों के साथ समास नहीं होता, दूसरा पद चाहे विशेष्य हो अथवा न हो इसके विचार की आवश्यकता नहीं रहती। व्याकरण शास्त्र में द्वन्द्व समास को यद्यपि उभयपदार्थप्रधान कहा गया है, किन्तु उसका उद्देश्य समासगत वाच्यार्थ की प्रधानता से है, जो कि इससे सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार द्वन्द्व समास अथवा एक शेष भी उस स्थिति में ही होता है, जब तद्गत पदों के अर्थ की अप्रधानता हो, पदों द्वारा वाच्य अर्थ की प्रधानता होने पर द्वन्द्व समास और एक शेष दोनों ही न होंगे। यही कारण है कि—

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननन्तद्
आवृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्याः।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या।[1]

इत्यादि पद्य में अमृत और विष पदों का दिग्ध क्रिया से विशिष्ट सम्वन्ध प्रधानतया विवक्षित है इसी कारण उनका समास नहीं किया गया है।

इसी प्रकार

'पर्याप्तमेतन्ननु मण्डनं ते रूपश्च कान्तिश्च विदग्धता च।'[2]

इस पद्य में रूप कान्ति और विदग्धता पदों का समास नहीं हुआ है।

वेणी संहार के निम्नलिखित प्रसंग में एकशेष का अभाव भी द्रष्टव्य है—

प्राप्तावेकरथारूढौ पृच्छन्तौ त्वामितस्ततः।
(सर्वे)— कश्च कश्च
अर्जुनश्च सकर्णारिः स च क्रूरो वृकोदरः॥[3]

---

१. मालती माधव १.३०

२. वेणी संहार ५.२४

यहां कश्च कश्च (कौन कौन) के स्थान पर एक शेष करके 'कौ' प्रयोग हो सकता था, किन्तु प्राधान्यविवक्षा के कारण एकशेष नहीं हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं, पदार्थ के प्राधान्य की विवक्षा में समास नहीं होना चाहिए; किन्तु यदि कविप्रमादवश प्रधानतया अभिमत अर्थ के वाचक पद समास में डाल दिये जाएं तो वहां **विधेयाविमर्श दोष** होगा, इसी प्रकार क्रमभेद एवं यत् तत् पदों के अपुष्ट प्रयोग से उत्पन्न विधेयाविमर्श के उदाहरण भी देखे जा सकते हैं, जिनका वर्णन विधेया-विमर्श प्रकरण में किया जाएगा।

इस दोष के अवसर पर चूंकि प्रधानतया विवक्षित का अनुमान प्रक्रिया के अनुसार सिद्ध हेतु का, प्रधानतया अर्थात् सिद्ध हेतु के रूप में कथन न होने से वह साध्य का साधक न हो सकेगा, उसके विपरीत साध्य से भिन्न अन्य अर्थ का साधक होगा। इस आधार पर उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहा जा सकता है।[1]

प्रक्रम भेद दोष

विवक्षित अर्थ का जिस प्रकार से जिस प्रक्रान्त शैली में कथन हुआ है, उस प्रक्रान्त शैली का अन्त तक निर्वाह न हो सके, तो **प्रक्रम भेद** दोष माना जाता है।[2] उदाहरणार्थ हम निम्नलिखित पद्य को देख सकते हैं—

> च्युतसुमनसः कुन्दाः पुष्पोद्गमेष्वलसा द्रुमाः
> मलयमरुतः सर्पन्तोमे वियुक्तधृतिच्छिदः।
> अथ च सवितुः शीतोल्लासं लुनन्ति मरीचयो
> न च जरठतामवलम्बन्ते क्लमोदयदायिनीम्॥[3]

यहां कवि ऋतु सन्धि का वर्णन करना चाहता है, उसका आरम्भ भी करता है किन्तु द्वितीय चरण में उसके स्थान पर वसन्त वर्णन

---

१. साध्याभावसाधको हेतुर्विरुद्धः। —तर्कसंग्रह पृ० १२२

२. यश्च यथा प्रक्रान्तोऽभिधातुमर्थस्तथैव तस्य न चेत्।
निर्वाहः, स प्रक्रमभेदो न प्रकरणावसितः॥
—व्यक्ति विवेक पृ० २७८

३. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति पृ० ८८

प्रारम्भ हो गया है इस प्रकार विवक्षित अर्थ का अन्त तक निर्वाह न होने से यहां प्रक्रम भेद दोष उपस्थित हो जाता है।

इस दोष के विविध भेद एवं उनके उदाहरण प्रक्रमभेद प्रकरण में द्रष्टव्य हैं।

विधेयाविमर्श और प्रक्रम भेद में मुख्य अन्तर यह है कि प्रथम में प्रधानतया विवक्षित का उस रूप में (प्रधान रूप में) कथन नहीं होता है, जबकि द्वितीय में कथन प्रारम्भ करके भी उसमें प्रयुक्त शैली आदि का अन्त तक निर्वाह नहीं होता।

क्रमभेद दोष

न्याय वाक्य में न्यायांगों के कथन का एक क्रम अपेक्षित होता है उस क्रम का निर्वाह न होने से न्याय वाक्यार्थ अव्यवस्थित हो जाता है, यही कारण है कि प्रत्येक वादी सर्वप्रथम प्रतिज्ञा की स्थापना करता है, उसके साधन के लिए हेतु का निर्देश करता है, तथा इसके अनन्तर उदाहरण उपस्थित कर हेतु और साध्य का सम्बन्ध उपस्थित कर हेतु की सबलता घोषित करता है। इसके अनन्तर यदि आवश्यक हुआ तो क्रमशः हेतु का साहचर्य बताते हुए प्रतिज्ञा का पुनः कथन एवं अन्त में उपसंहार, उपनय और निगमन नामक न्यायांगों द्वारा किया जाता है।

चूंकि महिम भट्ट की स्थापना है कि चाहे सामान्य वाक्य हो या काव्य वाक्य वह न्याय वाक्य के सदृश होता है। अतएव न्याय वाक्य के समान ही काव्य वाक्यों अथवा सामान्य वाक्यों में भी वाक्यांग भूत पदों का एक विशेषक्रम होना चाहिए। यदि कवि के प्रमादवश उस क्रम का निर्वाह न किया जा सके, तो वहां क्रमभेद दोष माना जाएगा।

इस दोष का आधारन्याय शास्त्र स्वीकृत अप्राप्तकाल निग्रहस्थान है। न्याय वाक्य में यदि न्यायांगों का एक क्रम विशेष से प्रतिपादन न किया जा सके तो उसे अप्राप्तकाल निग्रहस्थान कहा जाता है, जो वादी के पराजय अथवा उसकी असफलता का कारण होता है। इसी प्रकार काव्यवाक्य में क्रम विशेष का निर्वाह न होने से कवि सफलता-पूर्वक रसयोजना में समर्थ नहीं हो सकता।

क्रम दोष के विविध भेद एवं उनके उदाहरण आदि का विशिष्ट विवेचन क्रमदोष प्रकरण में द्रष्टव्य हैं।

पौनरुक्त्य दोष

पौनरुक्त्य का तात्पर्य है, जिस अर्थ का शब्दतः प्रतिपादन एक बार हो चुका है, उसका पुनः कथन अथवा शब्दतः प्रतिपादन के बिना भी जिस अर्थ की प्रतीति हो सकती है, उसका शब्दतः कथन।

जिस प्रकार किसी उत्तम से उत्तम भोजन विशेष के अनन्तर यदि वही भोजन बार बार प्राप्त होता है तो खाने वाले में विरसता उत्पन्न हो जाती है एवं वह उत्तमोत्तम भोजन भी आनन्ददायी नहीं हो पाता, ठीक इसी प्रकार विभाव अनुभाव और व्यभिचारि भाव की व्यवस्थित योजना द्वारा यदि किसी रस का पूर्ण परिपोष हो चुका है, तो पुनः बारम्बार उसी रस का पोषण करना भी पाठकों को रुचिकर प्रतीत नहीं होता, यही कारण है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने किसी भी रस के (प्रकरण विशेष में) पुनः पुनः परिपोष को सर्वथा त्याज्य बताया है।

यही स्थिति शब्द योजना द्वारा विभावादि अर्थों के प्रतिपादन की है, किसी एक ही अर्थ की एकाधिक बार शाब्द या आर्थ प्रतीति भी सहृदयजनों को प्रिय नहीं हो सकती, अतः वह दोष है।

न्याय शास्त्र में भी वाद के प्रसङ्ग में किसी काव्य अथवा न्यायांगों का अनेक बार कथन दोषपूर्ण माना जाता है, तथा उसे पुनवचंन निग्रह स्थान संज्ञा दी गयी है और इसे पराजय अथवा असफलता का कारण माना गया है।

वाच्यावचन-अवाच्यावचन

इष्ट अर्थ से विपरीत का वर्णन करना पांचवा बहिरंग दोष है, इसकी दो स्थितियां हैं : वाच्यावचन तथा अवाच्यवचन। चूंकि काव्य कर्म कवि व्यापार स्वरूप है, अतः उसमें वर्णन तो रहेगा ही, चाहे वह इष्टार्थ रूप हो अथवा अनिष्ट अर्थरूप। यदि वर्णन विवक्षित का ही है और पूर्णतः है तो उस रचना को निर्दुष्ट काव्य कहा जाएगा। किन्तु इसके विपरीत यदि वर्णन अनिष्ट अर्थ का हुआ है, तो वहां दो स्थितियां होंगी अनिष्ट अर्थ का वर्णन अर्थात् अवाच्य अर्थ का वचन तथा साथ ही इष्ट अर्थात् वाच्य अर्थ का अवचन। इस प्रकार एक ही काव्य के एक ही अंश में अवाच्यवचन तथा वाच्यावचन दोष एक साथ ही उपस्थित हो सकते

हैं। यही कारण है कि बाह्यरूप से भिन्न प्रतीत होने वाले इन दोनों ही काव्य दोषों को एक रूप से ही माना गया है। अनिष्टार्थं का वर्णन रूप उस काव्य में चूंकि अनिष्ट अर्थात् अनभिप्रेत अर्थ का प्रतिपादन हुआ है एवं वह अनिष्ट विभाव आदि साध्य रसादि का साधक न होकर या तो बाधन करेगा अथवा बाधक न होने पर भी मार्ग में स्थित शिला की भांति अनुभूति में बाधक बनेगा अर्थात् उससे रसानुभूति में तो बाधा होगी ही। इसीलिए वह भी दोष है, त्याज्य है।

इस प्रकार महिम भट्ट ने काव्यार्थ के विघातक केवल पांच दोष स्वीकार किए हैं, पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत प्रायः सभी दोष इन पांच में हो समाविष्ट हो जाते हैं, उदाहरणार्थ—

भामह दण्डी एवं वामन आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत अपक्रम का अन्तर्भाव क्रमदोष में, एकार्थ का पौनरुक्त्व में, परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत अविमृष्टविधेयांश का विधेयाविमर्श में, वामनाभिमत समता के अभाव का प्रक्रमभेद में, समावेश हो जाता है, शेष में से अधिकांश का वाच्यावचन-अवाच्यवचन में यथा :

भरत प्रतिपादित-गूढार्थ अर्थान्तिर, अर्थहीन, भिन्नार्थ अभिप्लुतार्थ न्यायादपेत, शब्दच्युत वाच्यावचन-अवाच्य वचन में ही आ जाते हैं।

भामह वर्णित नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत्, गूढ़शब्दाभिधान श्रुतिदुष्ट आदि अनिष्टशब्द युक्त पदप्रयोग वाच्यावचन-अवाच्यवचन में निहित है।

दण्डी प्रतिपादित अपार्थ व्यर्थ ससंशय शब्दहीन देशविरुद्ध और कालविरुद्ध भी अनिष्टार्थ वर्णनात्मक होने से वाच्यावचन अवाच्यवचन के अन्तर्गत सिद्ध होते हैं।

वामन वर्णित असाधु कष्ट, ग्राम्य, अप्रतीत, अनर्थक नामक पद-दोष, नेयार्थ गूढार्थ, अश्लील, कष्ट पदार्थ दोष और व्यर्थ सन्दिग्ध, अप्रयुक्त लोकविद्या विरुद्ध नामक वाक्यार्थ दोष इस दोष के अन्तर्गत सिद्ध होते हैं।

इसी भांति रुद्रट प्रतिपादित असमर्थ अप्रतीत, विसन्धि, विपरीत-कल्पना, ग्राम्य, देश्य, संकीर्ण एवं गर्भित इसमें ही समाविष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महिम भट्ट के काव्य दोषों में दोषत्व के लिए मूलधार है काव्यानुमिति में प्रतिबन्धक होना, उस स्थिति में

ही कोई दोष दोष कहा जाता है, अन्यथा नहीं। काव्यानुमिति के प्रतिबन्धक सभी दोष अनुमान के प्रसंग में न्याय शास्त्र में स्वीकृत हेत्वाभास के समान ही विधेयाविमर्श प्रक्रम भेद क्रम भेद पौनरुक्त्य एवं वाच्यावचन अवाच्यवचन में समाहित हो जाते हैं : तभी आचार्य महिम भट्ट का यह कथन है कि—

यत्त्वेतच्छब्दविषयं बहुधा परिदृश्यते
तस्य प्रक्रमभेदाद्याः दोषाः पंचैव योनयः।

अग्रिम प्रकरणों में हम क्रमशः इन्हीं दोषों का विस्तृत विवेचन करेंगे।

पंचम अध्याय

विधेयाविमर्श दोष और उसकी समीक्षा

यह पहले कहा जा चुका है कि आचार्य महिमभट्ट के अनुसार विवक्षित रसादि की प्रतीति में विघ्न विधायक दोष कहाते हैं।[1] वे दो प्रकार के हो सकते हैं—अर्थ विषयक और शब्द विषयक। इनमें अर्थ विषयक दोषों को अन्तरंग तथा शब्दविषयक दोषों को बहिरंगदोष कहा जाता है।[2]

उनके अनुसार रस निष्पत्ति के हेतु विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों की यथावत् योजना न होने से रस निष्पत्ति में बाधा होती है अथवा विलम्ब होता है, अतएव सहृदय जन काव्य में इनकी अयथावत् योजना को दोष के रूप में स्वीकार करते हैं, चूंकि इनको अयथावत् योजना साक्षात् रस निष्पत्ति में बाधा तथा विघ्न उपस्थित करती है अतएव इन्हें अन्तरंग दोष कहा जाता है।

महिम भट्ट ने काव्य के इन अन्तरंग दोषों की विवेचना अपने ग्रंथ में नहीं की है उनका कहना है कि इन अन्तरंग दोषों की विवेचना आदि आचार्यों ने ही पर्याप्त मात्रा में की है। अतएव हम इनका विवेचन न करेंगे।[3]

---

१. विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम (दोष) सामान्य लक्षणम्।
—व्यक्ति विवेक, पृष्ठ १५२

२. बहिरङ्गान्तरङ्गत्वभेदात् तद् द्विविधं मतम्।
तत्र शब्दैकविषयं बहिरङ्गम्प्रचक्षते॥
द्वितीयमर्थविषयं तत् त्वाद्यैरेव कल्पितम्॥
—व्यक्ति विवेक, पृ. १३४

३. तत्र विभावानुभावव्यभिचारिणामयथायथं रसेषु यो विनियोगः तन्मात्रलक्षणमेकमन्तरङ्गमाद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते॥
—व्यक्ति विवेक, पृष्ठ १४९

व्यक्ति विवेक के टीकाकार आचार्य रुय्यक का कहना है कि महिमभट्ट ने यहां ध्वनिकार कृत रस विरोधी तत्वों के परिगणन को ही अन्तरंग दोष के रूप में स्वीकार किया है।[1]

ध्वनिकार के अनुसार रस निष्पत्ति में सबसे बड़ा विघ्न है, व्यापार का अनौचित्य तथा काव्य में प्रसिद्ध औचित्य की योजना ही रस निष्पत्ति का सबसे बड़ा साधन (उपनिषत्) है।[2]

इसके अतिरिक्त रस का विरोध पांच अन्य कारणों से भी होता है।

१. विरोधी रस के विभाव आदि का परिग्रह।

२. प्रस्तुत रस के अनुकूल होने पर भी अन्य (अमुख्य) वस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन करना।

३. रस के अनुकूल वर्णित (या वर्णनीय) वस्तु का अथवा रस का असमय में ही अवसान कर देना। अनवसर में रस विशेष का प्रकाशन करना।

५. परिपोष को प्राप्त रस का भी पुनः पुनः दीपन (अभिव्यक्ति) करना।[3]

इनके स्पष्टीकरण के प्रसंग में आचार्य आनन्दवर्द्धन ने लिखा है कि :[4]

---

१. आद्यैरिति ध्वनिकारप्रभृतिभिः।

—व्यक्ति विवेक व्याख्यान, पृष्ठ १४६

२. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

—ध्वन्यालोक, पृष्ठ २५६

३. विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोन्यस्य वर्णनम्।
अकाण्ड एव विच्छित्तिः अकाण्डे च प्रकाशनम्।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपौन्येन दीपनम्।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च।

४. (१) प्रस्तुतरसापेक्षया विरोधी यो रसस्तस्य सम्बन्धिनां विभावानुभावानां परिग्रहो रसविरोधहेतुरेकः संभावनीयः। तत्र विरोधिरसविभावपरिग्रहो यथा—शान्तरसविभावेषु तद् विभावतयैव निरूपितेषु अनन्तरमेव

१. प्रस्तुत रस की अपेक्षा से विरोधी रस के सम्बन्धी विभाव अनुभाव आदि की योजना करना रस प्रतीति में विघ्न करता है। जैसे शान्त रस के विभाव आदि का शान्त रस की दृष्टि से निरूपण करने के उपरान्त बिना किसी उचित व्यवधान के शृंगार आदि रसों के विभाव आदि का वर्णन करना शान्त के परिपोष में बाधक होने से अनुचित है।

इसी प्रकार विरोधी रस अथवा भाव का उपादान भी रस प्रतीति में बाधक है। जैसे किसी काव्य में शृंगार रस का प्रसंग विद्यमान है, नायिका प्रणय कलहवश कुपित है, नायक उसके अनुयय में संलग्न है, ऐसी स्थिति में अनुनय के लिए पैरों पर गिरना, चाटुकारिता आदि का वर्णन होना चाहिए, किन्तु कवि नायक द्वारा वैराग्य कथाओं की योजना से अथवा यौवन के अनित्यत्व की चर्चा से अनुनय करता है, यह अनुचित है।

इसी प्रकार प्रणय कलह के प्रसंग में ही नायक को अत्यन्त क्रुद्ध दिखाकर रौद्र रस के अनुभावों का वर्णन करना भी रस योजना की दृष्टि से अत्यन्त दोषपूर्ण हैं।

२. रस भंग का दूसरा हेतु है। प्रस्तुत रस की अपेक्षा अन्य वस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन करना। जैसे शृंगार के प्रसंग में उद्दीपन विभाव के रूप में पर्वत नदी आदि का वर्णन असम्बद्ध नहीं है। किन्तु कवि यमक आदि की योजना के प्रति अधिक अभिरुचि-वश पर्वतादि के विस्तारपूर्वक वर्णन में ही लग जाय, तो यह अनुचित है।

३. इसी प्रकार अनवसर में ही रस का विराम कर देना भी महान्

शृंगारादिविभाववर्णने।

विरोधिरसभावपरिग्रहो यथा—प्रियं प्रति प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषु वैराग्यकथाभिरनुनये।

विरोधिरसानुभावपरिग्रहो यथा—प्रणयकुपितायामप्रसीदन्त्यां नायकस्य कोपावेशविवशस्य रौद्रानुभाववर्णने।

(२) अयं चान्यो रसभङ्गहेतुर्यत् प्रस्तुतरसापेक्षया वस्तुनोऽन्यस्य कथञ्चिदन्वितस्यापि विस्तरेण कथनम्। यथा—विप्रलम्भशृंगारे नायकस्य कस्यचिद् वर्णयितुमुपक्रान्ते कवेर्यमकाद्यलङ्कारनिबन्धनरसिकतया महता प्रबन्धेन पर्वतादिवर्णने।

(३) अयं चापरो रसभङ्ग हेतुरवगन्तव्यो यदकाण्ड एव विच्छिती रसस्या-

रस दोष है। जैसे किसी उपयुक्त नायिका के प्रति नायक का अनुराग उत्पन्न होकर परिपुष्ट भी हो चुका, नायिका भी नायक के अनुराग से परिचित होकर अपना अनुराग प्रकट कर चुकी है, ऐसी स्थिति में मिलन के उपाय की चिन्ता होनी चाहिए, किन्तु उसे छोड़कर यदि कवि स्वतन्त्र रूप से अन्य व्यापार का वर्णन प्रारम्भ कर दे, तो रस योजना की दृष्टि से यह अनुचित है।

४. रस का अनवसर में प्रकाशन भी रस भंग का कारण बन जाता है। जैसे :—प्रलयंकर संग्राम प्रवृत्त है। अनेक महान् वीरों का विनाश हो चुका है, ऐसे अवसर पर विप्रलम्भ श्रृंगार का कोई उपक्रम न होने पर भी उसका वर्णन प्रारम्भ कर देना सर्वथा दोषपूर्ण है। (जैसा कि अवतार वर्णन नाटक में किया गया है।) उपर्युक्त अवसरों पर तर्क देते हुए नायक का देव व्यामोहित होना आदि कहकर भले ही समाधान ढूंढा जाये, किन्तु रसानुभूति की दृष्टि से इसे दोष कहा ही जायेगा।

इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कवि काव्य की योजना घटना चक्र का वर्णन करने के लिए ही नहीं करता, उसका उद्दिष्ट तो घटना-क्रम की सहायता से रसानुभूति कराना होता है, अतएव घटनाक्रम की अपेक्षा बिना किये ही कवि को निरन्तर रसानुभूति के लिए उन्मुख रहना चाहिये।

(५) इसके अतिरिक्त रस भंग का एक और कारण यह है :—रस

काण्ड एव च प्रकाशनम्।

तत्रानवसरे विरामो यथा—नायकस्य कस्यचित् स्पृहणीयसमागमया नायिकया कयाचित् परां परिपोषपदवीं प्राप्ते श्रृंगारे, विदिते च परस्परानुरागे, समागमोपायचिन्तोचित्तं व्यवहारमुत्सृज्य स्वतन्त्रतया व्यापारान्तर-वर्णने।

(४) अनवसरे च प्रकाशनं रसस्य यथा प्रवृत्ते प्रवृद्धविविधवीरसंक्षये कल्प-संक्षयकल्पे संग्रामे रामदेवप्रायस्यापि तावन्नायकस्यानुपक्रान्तविप्रलम्भ-श्रृंगारस्य निमित्तमुचितमन्तरेणैव श्रृंगारकथायामवतारवर्णने।

न चैवं विधे विषये देवव्यामोहितत्वं कथापुरुषस्य परिहारो, यतो रस-बन्ध एव कवेः प्राधान्येन प्रवृत्तिनिबन्धनं युक्तम् इतिवृतवर्णनं तदुपाय एव।

(५) पुनश्चायमन्यो रसभङ्गहेतुरवधारणीयो यत्परिपोषं गतस्यापि रसस्य

का पुनः पुनः दीपन। जैसे किसी काव्य विशेष में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भावों के माध्यम से यदि अभिव्यक्त रस का एक बार सहृदय पाठक ने पूर्णतः आस्वादन कर लिया, तो पुनः उसी रस का बार-बार परिपोष, रस उपभोग के कारण मसले हुए फूलों की भांति सहृदय हृदय को आह्लादित नहीं कर पाता।

व्यवहार सम्बन्धी अनौचित्य भी रस भंग का कारण होता है, यह अनौचित्य सबसे बड़ा दोष है। जैसे :—नायक के प्रति नायिका द्वारा अंगभंगिमा का प्रयोग न करके स्पष्ट शब्दों में सम्भोग की अभिलाषा प्रगट करना। अथवा भरत द्वारा वर्णित काव्य वृत्तियों का अनुचित प्रयोग, दोनों ही रस भंग के हेतु हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार की योजना साक्षात् रस की अनुभूति में खेदजनक होने से अन्तरंग दोष के रूप में स्वीकृत है।

महिम भट्ट से पूर्ववर्ती आनन्दवर्धन के टीकाकार अभिनवगुप्त ने भरतकृत नाट्य शास्त्र की टीका करते हुए रस सूत्र 'विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद् रस निष्पत्तिः' की व्याख्या में रस प्रतीति में सात विघ्नों का वर्णन किया है। उनका कहना है कि इन विघ्नों के रहते हुए रस की प्रतीति नहीं हो सकती, अतः वे भी काव्य के अन्तरंग दोष कहे जा सकते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार वे विघ्न निम्नलिखित हैं।

१. असम्भावना, २. स्थायिभावों को स्वगत अथवा परगत मानकर देश विशेष के आवेश से युक्त होना, ३. निज सुख अथवा दुःखों की अधीनता, ४. रस प्रतीति के साधनों की अपूर्णता, ५. अस्फुटता,

---

पौनःपौन्येन दीपनम्। उपभुक्तो हि रसः स्वसामग्रीलब्ध परिपोषः पुनः पुनः परामृश्यमाणः परिम्लानकुसुमकल्पः कल्पते।

(६) तथेतिवृत्तैर्व्यवहारस्य यदनौचित्यं तदपि रसभङ्गहेतुरेव। यथा नायकं प्रतिनायिकायाः कस्याश्चिदुचितां भङ्गिमन्तरेण स्वयं सम्भोगाभिलासकथने। यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालंकारान्तरप्रसिद्धानामुपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यमविषये निबन्धनं तदपि रसभङ्गहेतुः।

—ध्वन्यालोक, पृ. २९२-२९४ डा० नगेन्द्र सम्पादित, प्र. संस्करण

६. अप्रधानता तथा ७. संशय योग।[1]

इस सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि सहृदय जिस भाव को हृदयंगम कर रहा है, उसे यदि वह असम्भव मानता है तो उन भावों से उसका एक रस होना सम्भव नहीं है, फलतः उन भावों में सहृदय हृदय को विश्रान्ति लाभ नहीं होगा, अतएव 'असम्भावना' रस के सम्बन्ध में प्रथम विघ्न है।[2]

इसी प्रकार काव्य या नाट्यगत रत्यादि भावों को स्वगत या परगत मानना द्वितीय विघ्न है। जैसे :—सहृदय पाठक या प्रेक्षक काव्य या नाट्यगत सुख दुखादि को यदि स्वगतः मानकर चलता है, तो कभी उन सुखादि के हटने की सम्भावना से व्यग्र होगा और कभी लौकिक पदार्थों की भांति उनकी रक्षा के लिए ही वह व्याकुल होगा अथवा तत्सदृश वस्तु की प्राप्ति के प्रयत्न में लगना चाहेगा, यदि वह अनुभूयमान भाव दुख सम्बन्धी है, तो उसके छोड़ने की भावना होगी, कभी उन भावों को दूसरों से कहने की भावना होगी कभी उन्हें छिपाने की। इस स्थिति में अन्य भावों के उदय होने से वह पाठक रत्यादि भावों में एकरसता स्थापित न कर सकेगा, फलतः उसे रसानुभूति न हो सकेगी।

इसी भांति उन भावों को परगत मानने पर भी उन्हें देखकर सुख मोह, मध्यस्थता, लज्जा आदि भावों का उदय स्वभावतः होगा ही एवं रस प्रतीति न हो सकेगी। इस प्रकार रत्यादि भावों की स्वगत अथवा परगत प्रतीति भी महान् विघ्न है।[3]

---

१. विघ्नाश्चास्यां सप्त संभावनाविरहरूपा प्रतिपत्तावयोग्यता, स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशो निजसुखादिविवशीभावः प्रतीत्युपायवैकल्यं स्फुटत्वाभावोऽप्रधानता संशययोगश्च।

—अभिनव भारती पृष्ठ ४७४

२. संवेद्यमसम्भावयमानः संवेद्ये संविदं निवेशयितुमेव न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमो विघ्नः। —वही पृष्ठ ४७४

३. स्वैकगतानां च सुखदुखसंविदामास्वादे यथासम्भवं तदपगमभीरुतया वा तत्परिरक्षाव्यग्रतया वा तत्सदृशार्जिजीषया वा तज्जिहासया वा तत्प्रतिष्ठापयिषया तद्गोपनेच्छया वा प्रकारान्तरेण वा संवेदनान्तरसमुदय एव परमो विघ्नः। परगतत्वनियमभाजामपि सुख-दुःखानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदुखमोहमाध्यस्थ्यादिसंविदन्तरोद्गमनसंभावनावश्यंभावी विघ्नः। —वही पृष्ठ ४७५

अभिनवगुप्त के अनुसार रस प्रतीति के प्रसंग में पांचवा विघ्न है स्वयं अपने ही सुखों अथवा दुःखों के अधीन होगा। जैसे :—किसी पात्र में कोई वस्तु तभी रखी जा सकती है, जब उसमें कोई अन्य वस्तु भरी न हो, अन्य वस्तु के भरे रहने पर उसमें किसी दूसरी वस्तु का रखना तब तक सम्भव नहीं हो सकता, जब तक कि पूर्वनिहित वस्तु को उससे पृथक् न कर दिया जाये। इसी भांति हृदय में निज सुख दुःखादि भावों की प्रधानता विद्यमान रहने पर काव्य या नाट्य द्वारा प्रकट होने वाले भाव उस हृदय में कैसे समाविष्ट हो सकेंगे ? निदान अपने सुखों अथवा दुःखों के अधीन होना भी रस प्रतीति के प्रसंग में महान् विघ्न है।[1] लोक में भी हम देखते हैं कि मानसिक अस्वस्थता, अर्थात् शोक, क्रोध अथवा ग्लानि की स्थिति में किये गये हास परिहास, जो सामान्य स्थिति में मनोरंजक अथवा आनन्ददायक होते हैं, कभी भी शान्ति अथवा प्रसन्नता नहीं दे पाते। यही स्थिति काव्य अथवा नाट्य जगत् की है। यहां भी निज सुख अथवा दुख आदि भावों के विद्यमान रहने पर काव्य या नाट्य जगत् से अभिव्यक्त रत्यादि भावों की अनुभूति अथवा उससे प्राप्त होने वाले आनन्द का आस्वाद पाठक या दर्शक को नहीं हो सकता है। फलतः अपने सुखों और दुःखों से विवशता रस प्रतीति के प्रसंग में विघ्न है।

अभिनवगुप्त के अनुसार रस प्रतीति के प्रसंग में चतुर्थ विघ्न है। 'रस प्रतीति के साधनों की अपूर्णता।' इसमें तो कोई दो मत नहीं हो सकते कि जैसे : लोक में साधनों के बिना कार्य सम्भव नहीं है, उसी भांति काव्य में भी रसानुभूति के लिए आवश्यक विभाव अनुभाव तथा संचारिभावों का होना भी अनिवार्य है। रस प्रतीति के उपायों के अभाव में आखिर रस प्रतीति हो ही कैसे सकती है ?[2]

विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त रत्यादि भावों का अस्फुट होना अभिनवगुप्त के अनुसार पांचवां विघ्न है। प्रतीयमान रत्यादि भाव जब तक स्फुट नहीं होंगे पाठक या दर्शक के चित्त को उसमें विश्रान्ति नहीं मिल सकती, अपितु उनके स्पष्ट प्रतीति के लिए प्रत्यक्ष की ओर

---

१. निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्यो संविदं विश्रामयेत् इति।
—वही पृष्ठ ४७६

२. किञ्च प्रतीत्युपायानामभावे कथं प्रतीतिभावः ? —वही, पृ. ४७६

उत्सुकता बनी रहेगी। फलतः रस प्रतीति के प्रसंग में अस्फुटता भी एक महत्त्वपूर्ण विघ्न या दोष है।[1]

रस के रूप में व्यंग्य होकर प्रतीत होने वाले भावों की अप्राधनता भी अभिनवगुप्त के अनुसार रस प्रतीति के प्रसंग में विघ्न है। क्योंकि अप्रधान वस्तु की प्रतीति होने पर भी चित्त में निरन्तर प्रधान की अपेक्षा बनी रहती है। चित्त का यह स्वभाव ही है कि वह अप्रधान की प्रतीति होने पर भी शान्त नहीं होता। चित्त के इस स्वभाव के कारण ही वैयाकरणों ने भी, जो वस्तुतः शब्द प्रधानवादी हैं, गौण और मुख्य में मुख्य को ही कार्य का आश्रय माना है।[2] निदान प्रतीयमान भावों की अप्रधानता रस प्रतीति के प्रसंग में छठा विघ्न है।[3]

इसी भांति रसप्रतीति के प्रसंग में संशय का होना भी एक महान् विघ्न या दोष है। इस सम्बन्ध में संशय की सम्भावना इस प्रकार हो सकती है कि रत्यादि भावों का स्व शब्दतः कथन तो किया नहीं जाता। रति आदि शब्दों द्वारा कथन होने पर भी रस प्रतीति तो होती नहीं है, अपितु विभाव अनुभाव व्यभिचारि भावों से अभिव्यक्त होने पर भी भावों (रसों) के स्व शब्द वाच्य होने पर अरुचि ही उत्पन्न होती है अचारुत्व (भद्दे पन) का हो प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इसलिए काव्य या नाट्य में रति आदि भावों की प्रतीति के लिए विभाव अनुभाव और व्यभिचारि भावों पर ही आश्रित रहना होता है। किन्तु एक ही विभाव आदि अनेक रसों के विभावादि हो सकते हैं, जैसे एकान्त वन प्रदेश जहां श्रृंगार के लिए उद्दीपक विभाव है, वहीं वह एकान्त प्रदेश भय का भी हेतु है। व्याघ्र आदि जहां भयानक रस के

---

१. अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलक्षणसंभवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति स्फुतप्रतीतिरूपप्रत्यक्षोचितप्रत्ययसाकांक्षत्वात्। 'यदाहुः सर्वा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा इति।
—वही, पृ. ४७६

२. गौणमुख्ययोः मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः। —परिभाषेन्दुशेखर

३. अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति। तस्यैवं प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात्। अतोऽप्रधानत्वं जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च संविदात्मन्यपि नियमेनान्यमुखप्रेक्षिणि संभवतीति तदतिरिक्तः स्थाय्येव चर्वणापात्रम्।
—अभिनवभारती, पृष्ठ ४७७

विभाव हैं, वहीं वे स्थल विशेष में वीर रस के आलम्बन विभाव रूप में भी प्रयुक्त होते हैं। साथ ही वे कहीं क्रोध के अभिव्यंजक होने से रौद्र के भी विभाव हो सकते हैं। इसी भांति अश्रुपात आदि अनुभाव जहां शोक के अभिव्यंजक हैं, वहीं कहीं कहीं आनन्द के भी। किसी स्थल विशेष में रोगजन्य होने पर वे ही किसी के भी व्यंजक न होंगे। इसी भांति श्रम चिन्ता आदि व्यभिचारि भाव भी उत्साह भय आदि अनेक भावों के साथ दृष्टिगोचर होते हैं। अतः उन्हें भी नियत नहीं कहा जा सकता।[1] अतएव विभाव अनुभाव और व्यभिचारि भावों में एक अथवा दो के विद्यमान रहने पर भी जब तक निस्सन्दिग्ध रूप से एक भाव की ही प्रतीति न हो तब तक रस प्रतीति नहीं होती, अतः संशय भी रस प्रतीति के प्रसंग में महान् विघ्न है। हां, विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव तीनों के रहने पर संशय नहीं होता, ऐसी स्थिति में निस्सन्दिग्ध रूप से रस प्रतीति होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त आदि ने रस प्रतीति के प्रसंग में कुछ दोषों (विघ्नों) की चर्चा की थी, एवं उनके समाधान का उपाय भी निर्दिष्ट किया था, ये दोष या विघ्न रस प्रतीति के साक्षात् अपकारक हैं। अतएव इन्हें अन्तरंग दोष कहा जाता है।[2] चूंकि इनका विवेचन पूर्वाचार्यों ने स्वयं किया है, अतएव महिमभट्ट ने इनका विवेचन अनावश्यक माना है एवं उन्हें मौन स्वीकृति प्रदान की है।[3]

इसके विपरीत शब्द या अर्थ सम्बन्धी वह योजना जो साक्षात् रस की अपकर्षक न होने पर भी परम्परया रस प्रतीति में बाधक है उसे

---

१. तत्रानुभावानां विभावानां व्यभिचारिणां च पृथक् नियमो नास्ति वाष्पादेरानन्दाक्षिरोगादिजत्वदर्शनात् । व्याघ्रादेश्च क्रोधभयादिहेतुत्वात्। श्रमचिन्तादेरुत्साहभयाद्यनेकसहचरत्वावलोकनात् । सामग्री वा तु न व्यभिचारिणी।
—वही पृष्ठ ४८२-४८३

२. अन्तरंगमिति साक्षात् रसविषयत्वात्।
—व्यक्ति विवेकव्याख्यान, पृ. १४६

३. तत्र विभावानुभावव्यभिचारिणामयथायथं रसेषु यो विनियोगस्तन्मात्रलक्षणमेकमन्तरङ्गमाद्यैरेवोक्तमितिनेह प्रतन्यते। —व्यक्ति विवेक, पृ. १४८

काव्यगत बहिरंग दोष कहा जाता है।[१]

ये बहिरंग दोष अनेक प्रकार के हैं तथा भामह आदि पूर्वाचार्यों ने न केवल इनका भी विस्तृत विवेचन किया है,[२] बल्कि इन्होंने दोषों की एक लम्बी सूची भी प्रस्तुत कर दी है।[३] किन्तु आचार्य महिमभट्ट को सम्भवत: उसे देखकर सन्तोष नहीं हुआ होगा, पूर्वाचार्यों द्वारा कृत दोष विवेचन को देखने पर हम भी इसी निर्णय पर पहुंचते हैं कि उन लोगों का वह विवेचन अपूर्ण तथा एकांगी है।

आचार्य महिमभट्ट की सूक्ष्म दृष्टि ने इस प्रसंग में एक विशेष रहस्य का अन्वेषण किया है। साथ ही उन्होंने इस सूची को अधिक विस्तृत भी नहीं होने दिया है।

आचार्य महिमभट्ट के अनुसार बहिरंग दोष केवल पांच हैं :—

१. विधेयाविमर्श, २. प्रक्रमभेद, ३. क्रमभेद, ४. पौनरुक्त्य, ५. वाच्यावचन-अवाच्यवचन।

अग्रिम पृष्ठों में उनका ही विवेचन किया जा रहा है।

विधेयाविमर्श

महिमभट्ट ने बहिरंग दोषों के विवेचन का प्रारम्भ करते हुए सर्व प्रथम विधेयाविमर्श दोष की विवेचना की है। इनके अनुसार प्रधान रूप से प्रतिपाद्य अर्थ यदि किसी भी कारण अप्रधान होने लगे तो वहां विधेयाविमर्श दोष होगा। यह अप्रधानता चार कारणों से हो सकती है।

१. समास द्वारा।

२. आख्यात अथवा कृत् प्रत्यय के अनुचित प्रयोग द्वारा।

३. यत् तथा तत् इत्यादि पदों के अव्यवस्थित प्रयोग द्वारा।

४. क्रम विशेष द्वारा।

---

१. वहिरंगमितिवाच्यमुखेन रसे पर्यवसानात्।

२. भामहादि के दोषविवेचन के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ४३-४८ द्रष्टव्य हैं।

३. भामहादि परिगणित दोष संख्या—

भरत १०   भामह २४   दण्डी १०   वामन १९

समासकृत विधेयाविमर्श

समास में प्रत्येक पद अन्य पद के साथ संयुक्त रूप से अर्थ का अभिधान करते हैं, एवं उनका स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त या अप्रधान हो जाता है।

वैयाकरणों ने भी इस तथ्य को इसी रूप में स्वीकार किया है, उन्होंने तो इसी प्रधानता और अप्रधानता के आधार पर समासों का वर्गीकरण और उनका परिचय भी स्वीकार किया है।

उदाहरणार्थ बहुब्रीहि समास में समासगत सभो पदों का अर्थ अप्रधान हो जाता है, एवं अन्य पदार्थ की ही प्रधानता रहती है।[1]

तत्पुरुष समास में पूर्व पदार्थ की अप्रधानता अवश्य होती है। पूर्व पदार्थ की यह अप्रधानता ही तत्पुरुष समास को अव्ययीभाव द्वन्द्व और बहुब्रीहि समासों से पृथक् सत्ता प्रधान करती है। इतना ही नहीं अपितु पूर्व पदार्थ की अप्रधानता और उत्तर पदार्थ की प्रधानता रूप वैशिष्ट्य के कारण ही कर्मधारय और द्विगु समास तत्पुरुष के भेद माने जाते हैं, यद्यपि दोनों ही समासों का अपना स्वतन्त्र वैशिष्ट्य है, अलग अस्तित्व है।[2]

समासगत पदों के लिए विशेषण पदों का प्रयोग नहीं होता तथा समास के अभाव में वाक्य में उन्हीं पदों के साथ विशेपणों का प्रयोग होता है, यह मानते हुए महाभाष्यकार पतंजलि ने भी समासगत पदों की अप्रधानता को स्वीकार किया।[3]

व्याकरण शास्त्र के आचार्यों ने समासगत पद विशेष की अप्रधानता को लौकिक व्यवहार के अनुसार ही स्वीकार किया है, क्योंकि

---

१. (क) अन्यपदार्थप्रधानो बहुब्रीहिः।
   (ख) अनेकमन्यपदार्थे। पा० अ० २.२.२४। अर्थात् अन्य पदार्थ की प्रधानता होने पर अनेक (अप्रधान) पद समस्त होते हैं एवं उस समास का नाम बहुब्रीहि होता है।

२. (क) तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः। —वही, २.२.२४
   (ख) संख्यापूर्वो द्विगुः। —वही, २.१.५२

३. उपसर्जनं विशेषणं भवति वाक्ये यथा ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः इति। समासे न भवति, राजपुरुषः इत्येव। —महाभाष्य २.१.१.१, खण्ड २, पृ. ३२२

समासगत वे संज्ञा पद जिन्हें अप्रधान कहा गया है, केवल विशेषण के रूप में ही अपने अर्थ की अभिव्यक्ति कराते हैं इसमें किसी का मत भिन्न नहीं हो सकता।[३]

यह दूसरी बात है कि सामान्य वाक्य में विशेषण और विशेष्य पद समानाधिकरण अर्थात् समान विभक्ति में विद्यमान रहते हैं, जबकि समास में विशेषण पद समानाधिकरण और व्यधिकरण दोनों ही हो सकते हैं। जैसे :—कर्मधारय समास में विशेषण विशेष्य भाव समानाधिकरण पदों में रहता है। किन्तु वह समास जहां अन्य पदार्थ प्रधान होता है, तथा जिसे बहुव्रीहि संज्ञा दी जाती है, विशेषण विशेष्यभाव व्यधिकरण पदों में रहता है।

समानाधिकरण विशेषण विशेष्य भाव के उदाहरणों में कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जहां संख्यापद अथवा प्रतिषेधवाचक पद विशेषण बने होते हैं, ऐसे स्थलों पर क्रमशः द्विगु अथवा नञ् समास होता है।

व्यधिकरण विशेषण विशेष्यभाव वह है जहां विभिन्न कारक अथवा सम्बन्धी[१] पद विशेषण तथा समासगत उत्तर पद ही विशेष्य होते हैं। ऐसे स्थलों पर तत्पुरुष समास हुआ करता है।[२] जो प्रथमादि विभक्तियों पर आधारित हैं।

अव्ययीभाव समास में व्यधिकरण विशेषणविशेष्य भाव रहता है किन्तु इसमें अव्ययरूप पूर्वपद अप्रधान न होकर प्रधान ही रहा करता है।

इस प्रसंग में स्मरणीय है कि यद्यपि सभी समासों में विशेषण विशेष्यभाव का होना अनिवार्य है,[३] तथापि यदि वाक्य में विद्यमान

---

१. हिन्दी भाषा में सम्बन्ध को भी कारक ही मानते हैं उसके अनुसार सम्बन्ध का कारक से पृथक् निर्देश आवश्यक नहीं है।

—हिन्दी व्याकरण कामताप्रसाद गुरु

२. द्वितीयाश्रितातीत० पा० अ० २.१.२४, कर्त्तृकरणे कृता बहुलम्। —वही २.३.३२ षष्ठी। वही, २.२.८।

३. पाणिनि व्याकरण में 'समर्थः पदविधिः' (अष्टाध्यायी २.१.१) सूत्र द्वारा समर्थ पद का अधिकार सम्पूर्ण समास प्रकरण में अनिवार्यतः माना गया है। पदों में सामर्थ्य का अर्थ है समस्यमान पदों की परस्पर संगतार्थता। पदों में यह सामर्थ्य परस्पर एक वाक्यता के द्वारा ही प्राप्त होता है तथा यह एक

विशेषण अर्थ वाक्यार्थ में अतिशय चमत्कार जनक होने के कारण प्रधान हो तथा वही (विशेषण अर्थ ही) प्रधानतया अभिधेय हो एवं अन्य पद अर्थात् विशेष्य पद केवल अनूद्यमान के रूप में विद्यमान होने से अप्रधान रूप से विवक्षित हो ऐसी स्थिति में समास नहीं हुआ करता। क्योंकि समास हो जाने पर विशेषणगत प्राधान्य समाप्त हो जाता है, जैसाकि पूर्व प्रतिपादन किया जा चुका है।

समास के प्रकरण में विशेषण एक है अथवा अनेक यह विचारणीय नहीं होता, विशेषणांश के अप्रधान होने पर विशेषण एक हो या अनेक दोनों स्थिति में ही समास हो जाता है।

इस प्रसंग में यह शंका हो सकती है कि 'चूंकि विशेषण पद विशेष्य पद का वैशिष्ट्य बताने के लिए ही है अतः वे अप्रधान हैं, गौण हैं, तथा

वाक्यता उनमें परस्पर विशेषणविशेष्यभाव के विना नहीं बन सकती, अतएव यह विशेषणविशेष्यभाव समासमात्र का सामान्य लक्षण माना जाता है।

इसी प्रसंग में 'समर्थः पदविधिः' सूत्र पर भाष्यकार का निम्नलिखित वक्तव्य भी द्रष्टव्य है :—

भाष्य :—कस्तर्हि एकार्थीभावकृतो विशेषः ?

इमे तह्येकार्थीभावकृताः विशेषाः—संख्याविशेषः, व्यक्त्यभिधानम्, उपसर्जनविशेषणं च।

न्यपसर्जनं विशेषणं भवति वाक्ये, ऋद्धस्य राज्ञः पुरुष इति, समासे न भवति राजपुरुष इति। —पातंजल महाभाष्य २.१.१.१

इसी प्रसंग में प्रदीपकार कैय्यट के विचार भी अवलोकनीय हैं :—

'राजा स्वार्थादप्रच्युतः पदार्थान्तरार्थमप्रतिपन्नो वाक्ये योग्यत्वाद् विशेषणसम्बन्धमनुभवति। वृत्तौ तूपसर्जनीभूतस्वार्थमर्थान्तरं प्रत्याययतीति, अयोग्यत्वात् विशेषणेन न सम्बद्धयते।

अर्थात् वाक्य में 'राजा' पद अपने अर्थ को छोड़कर अर्थान्तर का बोधक नहीं बनता। अतः योग्यतावशात्, विशेषण पदों से सम्बन्धित हो सकता है। जबकि समास में उपसर्जनीभाव (विशेषण हो जाने) के कारण अर्थान्तर के बोधक होने के कारण वह विशेषण पदों से सम्बन्धित होने योग्य नहीं रह जाता, फलतः समासगत राजा आदि पदों के साथ विशेषण पदों का व्यवहार नहीं हो सकता।

कहीं वही विशेषण विधेय होने से प्रधानतया विवक्षित है, अतः प्रधान है, इस प्रकार परस्पर विरोधी बातों का होना कैसे सम्भव है अर्थात् विशेषण तो स्वतः सदा ही विशेष्य में वैशिष्ट्याधायक होने से अप्रधान है, अतः वह प्रधान कैसे हो सकता है? फिर उस विशेषण की प्रधानता होने पर समास नहीं होता, अन्यत्र होता है यह कथन कैसे उचित होता है?

आचार्य महिम भट्ट ने उपर्युक्त शंका का युक्तियुक्त समाधान इस प्रकार किया है 'विरोध उभयवस्तुनिष्ठ हुआ करता है। जैसे शीत वस्तु और उष्ण वस्तु ये दोनों ही वस्तु होने के कारण ही परस्पर विरोधी हैं। किन्तु यहां विशेषणगत प्राधान्य और अप्राधान्य में से वस्तुत्व तो केवल विशेषणगत अप्राधान्य में ही है, विशेषणगत प्राधान्य तो अवास्तव है, केवल विवक्षामात्र के आधीन है, अतः उनका परस्पर विरोध सम्भव नहीं है। किन्तु इस वास्तविक और वैवक्षिक प्राधान्य तथा अप्राधान्य का परिणाम भेद तो होता ही है।

वास्तविक विशेष्यगत प्राधान्य एवं विशेषणगत अप्राधान्य सर्वविदित है तथा सामान्य वक्ता और श्रोता के वाग् व्यवहार का विषय है, जब कि वैवक्षिक विशेषणगत प्राधान्य एवं विशेष्यगत अप्रधान्य केवल सहृदय हृदय संवेद्य है।

फलतः विशेषण के प्राधान्यवश प्रतीत होने वाले अर्थ की प्रतीति न होने से कर्मधारस समास की स्थिति में विधेय का विमर्श न हो सकेगा, फलतः वहां विधेयाविमर्श दोष उपस्थित होगा।

उदाहरणार्थ हम निम्नलिखित पद्य को देख सकते हैं :—

> उत्तिष्ठन्त्या रतान्ते भरमुरगपतौ पाणिनैकेन कृत्वा
> धृत्वा चान्येन वासो विगलितकवरीभारमंसे वहन्त्याः।
> भूयस्तत्कालकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीतिना शौरिणा वः
> शय्यामालिङ्ग्यनीतं वपुरलसद्बाहु लक्ष्म्याः पुनातु॥[1]

प्रस्तुत पद्य में 'विगलितकवरीभार' अंस का विशेषण एवं अलस-

---

१. वेणीसंहार अंक १ नान्दीश्लोक निर्णयसागर प्रेस बम्बई।

(अप्पाशास्त्रीकृत नोट)

सद्बाहु वपुष् का विशेषण है, दोनों ही विशेषण लक्ष्मी विषयक विष्णुगत रतिभाव के उद्दीपन विभाव के रूप में प्रधानतया विवक्षित होने से वाक्यार्थ में देव विषयक रति भाव की प्रतीति कराते हैं, यहां इनकी प्रधानतया विवक्षा होने से ही कवि ने इन्हें असमस्त रूप में रखा है, अन्यथा समास की स्थिति में इनके गौण हो जाने पर इस प्रतीति का स्थिर रहना सम्भव न था।

इसीप्रकार इस पद्य में 'तत्कालकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीतित्व' रूप विशेषण हेतुभावगर्भ होने से विशेष्य 'शौरि' में प्रस्तुत आचरण में औचित्य का आधायक हो जाता है; अतएव यह विशेषण भी विधेय रूप से प्रधानतया विवक्षित है, फलस्वरूप यहां भी विशेषण 'तत्कालकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीति' तथा विशेष्य 'शौरि' का समास न कर विशेषण की प्राधान्य विवक्षा को सुरक्षित रखा गया है।

इन विशेषणों की प्रधानतया विवक्षा न होने पर ऐसे स्थलों पर कर्मधारय समास होता है।

इस प्रकार महिमभट्ट के अनुसार हम कह सकते हैं कि 'विधेयरूप से विवक्षित पद अन्य (उद्देश्य) से अथवा परस्पर समस्त नहीं होते।

विधेय रूप से प्रधानतया विवक्षित एक विशेषण का उद्देश्य के साथ समास नहीं होता इसका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है, अनेक विशेषणों की असमास स्थिति हम निम्नलिखित पद्य में देख सकते हैं।

अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुः विशालवक्षस्तनुवृत्तमध्यः।
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति ॥[1]

इस पद्य में अवन्तिनाथ के अतिशय प्रतापशालित्व के प्रतिपादनार्थ उसके विशेषण 'उदग्रबाहु' 'विशालवक्ष' तथा 'तनुवृत्तमध्य' विधेयतया (प्रधानतया) विवक्षित हैं। अतः इन्हें विशेष्य के साथ समस्त नहीं किया गया है।

इसी भांति विध्यनुवादभाव के प्रसंग में भी यदि विधि की प्रधानता अर्थात् विधिगत चारुत्व अपेक्षित हो तो विधीयमान एवं अनूद्यमान में समास नहीं होता। जैसे :—

---

१. रघुवंश ६.३२

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्तिकेयोविजेय:
शस्त्रव्यस्त: सदनमुदधि: भूरयं हन्तकार:।
अस्त्यैवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधाम्
बद्धस्स्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहास:।[१]

प्रस्तुत पद्य में 'रेणुकाकण्ठाबधां कृतवता' पदों को असमस्त रूप में प्रयुक्त कर कवि परशुराम के परशु के प्रति रावणगत हीन भाव को प्रकट करना चाहता है, क्योंकि वीरों द्वारा स्त्री वध स्वत: अतिनिन्दित है, उसमें भी परशुधारी राम की माता होने के कारण उसके प्रति वात्सल्य से पूर्ण, अतएव प्रतिक्रिया से पूर्णत: विरक्त, रेणुका माता का वध महती कातरता है, निन्द्य है। इसी निन्दनीयता की प्रतीतिं के लिए कवि ने उपर्युक्त पद को असमस्त रखा है।

इसी प्रकार—

कारणगुणानुवृत्त्या द्वौ ज्ञाने तपसि चातिशयमाप्तौ।
व्यास: पाराशर्य: सच रामो जामदग्न्य इह ॥[२]

इस पद्य में "पाराशर्य: व्यास:" तथा "जामदग्न्य: राम:" इन पदों में समास हो सकता था किन्तु वर्तमान पाठ में व्यास और राम के प्रति पराशर एवं जमदग्नि के सम्बन्ध के कारण प्रतीयमान श्रद्धा भाव की अनुभूति उस स्थिति में सम्भव नहीं हो सकती थी। समास के अभाव में पाराशर्य पद से विशिष्ट ज्ञान शालित्व की एवं जामदग्न्य पद से विशिष्ट तप: शालित्व की प्रतीति होकर श्रद्धाभाव सूचित होता है।

यहां सन्देह हो सकता है कि जैसे 'नीलोत्पलम्' आदि पदों में नील और उत्पल पदों के बीच विध्यनुवादभाव न होकर केवल स्वरूप मात्र की विवक्षा होती है तथा परस्पर समास हो जाता है इसी भांति 'पाराशर्य: व्यास:' तथा 'जामदग्न्य: राम:' इत्यादि स्थलों पर भी समास होना ही चाहिए, क्योंकि समास न करने के लिए प्रतिबन्धक हेतु का सर्वथा अभाव है।

वस्तुत: यह शंका निर्मूल है, क्योंकि यदि पाराशर्य पद द्वारा व्यास के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट अर्थ अभिप्रेत न होता तो पाराशर्य पद के

---

१. बालरामायण २. वही

प्रयोग की अपेक्षा ही न थी, व्यास पद स्वयं ही पराशर के पुत्र व्यास का वाचक है, इसी प्रकार 'जामदग्न्य' पद से यदि केवल परशुराम अर्थ ही अभिप्रेत है तो उसके प्रयोग की कोई अपेक्षा नहीं है, राम पद स्वयं ही जमदग्नि के पुत्र राम का वाचक है, फिर उनका प्रयोग क्यों किया गया?

वह प्रयोग ही सिद्ध करता है कि इनके प्रयोग का कुछ विशिष्ट अभिमत है। वह अभिमत अर्थ पराशर और जमदग्नि के ज्ञान और तप रूप अर्थ विशेष के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है। निदान इन शब्दों के प्रयोग का उद्देश्य ही ज्ञान एवं तपःशालित्व रूप अर्थ की प्रतीति है, जो कि समास की स्थिति में सम्भव नहीं है। जैसाकि कहा गया है—समास पद में केवल अर्थों का सम्बन्ध मात्र बताता है उत्कर्ष और अपकर्ष नहीं। उत्कर्ष और अपकर्ष की प्रतीति तो वाक्य अर्थात् असमस्त वाक्य द्वारा ही होती है।[1]

फलतः इन विशिष्टार्थबोधक विशेषणों का प्रयोग ही समास के अभाव का हेतु है।

इसके विपरीत—

तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि।
स्वं च संहितममोघ सायकं व्याजहार हरसूनुसन्निभः॥[2]

इस पद्य में अमोघ और सायक पदों में समास कर दिया गया है फलतः अमोघ पद से प्रतीत होने योग्य बाण की अवार्यवीर्यता की प्रतीति नहीं हो पाती। यहां यदि 'अमोघमाशुगम्' पाठ कर दिया जाए तो परिवर्तनवश अमोघ पद के प्राधान्य से उपर्युक्त भाव की निर्बाध प्रतीति हो सकती है।

तात्पर्य यह है कि कर्मधारय समास के प्रसंग में हम यह स्पष्ट रूप से स्वीकार कर सकते हैं कि 'विधेय रूप से विवक्षित एक अथवा अनेक पद अन्य अर्थात् अनुवाद्य से अथवा परस्पर समस्त नहीं होते।

इसी प्रकार महिमभट्ट के अनुसार बहुव्रीहि समास के प्रसंग में भी

---

१. सम्बन्धमात्रमर्थानां समासो ह्यवबोधयेत्।
नोत्कमपकर्षं वा वाक्यात्तूभयमप्यदः॥ —व्य० वि० पृष्ठ २१८

२. रघुवंश ११.८३

यदि पदों का अर्थ प्रधानतया अभिप्रेत हो तो बहुव्रीहि समास भी नहीं होना चाहिए। जैसे :—

येन स्थलीकृतो विन्ध्यो येनाचान्तः पयोनिधिः।
वातापिस्तापितो येन स मुनिः श्रेयसेऽस्तु वः ।।[1]

इस पद्य में मुनि (अगस्त्य) के वैशिष्टयद्योतन के लिए 'विन्ध्य' पर्वत को स्थगित कर देना, 'पयोनिधि' का आचमन कर लेना तथा 'वातापि-नामक असुर का दमन करना।' इन विशेषण वाक्यों का कथन किया गया है, क्योंकि विन्ध्य अपनी अनवरत वृद्धि के द्वारा सूर्य के मार्ग का भी अवरोधक हो रहा था उसका संयमन, समुद्र अपनी अगाधता के कारण सदा ही अनवगाह्य बना रहा है उसका पान तथा 'वातापि' अपनी माया के द्वारा समस्त लोकों को ही ग्रस्त कर रहा था उसका दमन सामान्य प्रताप से सम्भव न था।

यदि इस पद्य में विशेषण वाक्यों को समस्त कर दिया जाए तो उपर्युक्त यह प्रतापातिशय प्रकट नहीं हो सकता है।

आचार्य पाणिनि ने भी 'दास्याः पुत्रः' आदि स्थलों में आक्रोश रूप विशेष अर्थ की प्रतीति के अवसर पर समस्त पदों में विभक्ति का अलोप, जिसे दूसरे शब्दों में समास का अभाव भी माना जा सकता है, स्वीकार किया है।[1]

इसी भांति जहां विध्यनुवादभाव के अभिधान के लिए ही पदार्थों का उपनिबन्धन किया गया है, वहां भी यदि विधि प्रधानतया अभिधेय है, तो समास नहीं होना चाहिए और यदि अप्रधान रूप से अभिधेय है, अर्थात् केवल सम्बन्ध का ही कथन अभिप्रेत है, तो समास अवश्य ही होगा। जैसे :

सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ।
स्वयं वृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः ।।[2]

इस पद्य में सकल चराचर विश्व के अलंकारभूत साक्षात् भगवान् सूर्य को उद्देश्य रूप में रखकर उनमें पुरुरवा के मातामह एवं पितामह

---

१. षष्ठ्या क्रोशे। पा० अष्टा० ६.३.२१
२. विक्रमोर्वशीयम् ४.१९

होने का विधान किया गया है। इस प्रकार पुरुरवा के अतिशय वैशिष्ट्य का उसकी लोकोत्तर महिमा का प्रतिपादन किया गया है। एतदर्थ दोनों में विशेषण विशेष्यभाव का होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि विशेषण विशेष्यभाव तथा विध्यनुवाद भाव का स्वरूप यदि परस्पर अत्यन्त भिन्न है, फिर भी ऐसे स्थलों पर दोनों का वाक्यार्थ में उत्कर्ष रचना रूप परिणाम, सर्वथा एक ही है, फलतः ऐसे स्थलों पर भी वैशिष्ट्य प्रतिपादन की प्रधानता होने के कारण विशेषण विशेष्य अथवा अनुवाद्य और विधेय के बीच समास नहीं किया गया है, जो उचित ही नहीं नितान्त आवश्यक भी है। इसी प्रकार :—

जनको जनको यस्याः या तातस्योचिता वधूः।
आर्यस्य गृहिणी या च स्तुतिस्तस्यास्त्रपास्पदम् ॥

इस पद्य में राजा पद जनक का अनुवाद कर पिता (जनक) के रूप विधान किया गया है। यहां भी जनक का सीता विषयक पितृत्व प्रधानतया विवक्षित है, फलतः यहां भी समास (बहुब्रीहिसमास) नहीं किया गया है, जो पूर्व उदाहरण की भांति ही उचित ही नहीं, नितान्त आवश्यक भी है।

इसी प्रकार द्विगु समास के प्रसंग में भी यदि विधेय की प्रधानता हो तथा तदर्पित वैशिष्ट्य विवक्षित हो, तो द्विगु समास भी नहीं होता है। जैसे :—

उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्त्ता त्वमापदाम् ॥[१]

इस पद्य में संख्या रूप अर्थ की प्राधान्येन विवक्षा है। जिसके फलस्वरूप संख्येय अंगों में अशेषता रूप अर्थ की प्रतिपत्ति होती है अर्थात् 'सात अंगों में से अशेष रूप से सभी अंगों में' इस अर्थ की प्रतिपत्ति पाठक को होती है। फलस्वरूप वह राजा दिलीप को दैवी तथा मानुषी दोनों प्रकार की आपत्तियों से सुरक्षित समझ पाता है, इस विशिष्ट

---

१. रघुवंश १.६०

अर्थ के अवबोधन के लिए 'सप्त' एवं 'अंग' शब्दों में परस्पर समास नहीं किया गया है।

इसी भांति तत्पुरुष समास में भी यदि किसी प्रकार कार्य की प्रधानता अपेक्षित है तो समास नहीं होता। जैसे :—

देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवः तातस्य केशग्रहः।
तान्येवाहितशस्त्रघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे
यद् रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रौणायनिः क्रोधनः॥[1]

इस पद्य में 'रामेण कृतं' इन दो पदों में तत्पुरुष समास हो सकता था, किन्तु रामगत कर्तृत्व की प्रधानतया विवक्षा होने से यह नहीं किया गया है। फलस्वरूप रामकृत अति दारुण कर्म का परामर्श होकर उन्हीं परशुराम के समान कर्म करने को उद्यत अश्वत्थामा में रौद्र रस का परिपोष होता है, समास होने पर कर्तृत्व की अप्रधानता हो जाने से उक्त रस का परिपोष नहीं हो सकता था। फलतः यहां तृतीयातत्पुरुष समास नहीं किया गया है।

तत्पुरुष समास समस्त विभक्तियों में होता है, किन्तु कर्ता आदि कारक यदि अन्य समान कारक से ही विशेषणभाव को प्राप्त हों अर्थात् कर्त्ता कर्त्ता के साथ, कर्म कर्म के साथ, करण करण के साथ इसी प्रकार अन्य कारक परस्पर सम्बद्ध हो रहे हों वहां 'द्वन्द्व' समास का विषय होता है। उसके सम्बन्ध में पुनः आगे[2] विचार किया जायेगा। इसी प्रकार समान कारकों में विशेषण विशेष्यभाव अथवा विध्यनुवादभाव की स्थिति में कर्मधारय समास होता है, उस पर विचार किया जा चुका है। इसके विपरीत असमान कारकों में विशेषण विशेष्य भाव होने पर परस्पर तत्पुरुष समास हुआ करता है। इनमें कर्म आदि कारकों से विशिष्ट पदों का अर्थ समास की स्थिति में गौण हो जाता है। अब हम क्रमशः विभिन्न कारकों में तत्पुरुष समास के उदाहरण उपस्थित करेंगे। इनमें स्पष्ट देखा जा सकेगा कि किस प्रकार समास की स्थिति में पदों का अर्थ अप्रधान हो जाता है। जैसे :—

---

१. वेणीसंहार ३, ३३
२. देखिये पृष्ठ ११८-१२०

द्वितीया तत्पुरुष में तद्गत पदों की गौणता और अगौणता :—

कृतककुपितैः वाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितैः
वनमसि गता यस्य प्रीत्या धृताऽपि तथाम्बया
नवजलधरश्यामाः पश्यन् दिशो भवतीं विना
कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये तव प्रियः ।।[1]

इस पद्य में सीता की विशेषणभूत गमन क्रिया (गतापद) का कर्मभूत विशेषण 'वन' (वनम् पद) शब्द राम के प्रति असामान्य प्रीति से युक्त सीता में अत्यन्त दुष्करकार्यकारित्व, अन्य कुल की महिलाओं में दुर्लभ होना आदि उत्कर्ष की सूचना देता है, क्योंकि वनवास अत्यन्त कठिन है, फिर भी सीता वन को गयी। इस प्रकार सीतागत उक्त उत्कृष्ट गुण सीता विषयक राम की रति के उद्दीपक बन जाते हैं, यही कारण है कि वनम् आदि पदों को असमास अवस्था में रखकर उसकी प्रधानता को अक्षुण्ण रखा गया है,. 'गता' पद के साथ 'वनम्' पद का समास हो जाने पर उक्त विशिष्ट अर्थ प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार:—

'गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्'[2]

इस पद्य में भी 'अर्थी' पद के लिए 'गुर्वर्थं' विशेषण देते हुए गुरु के लिए अर्थन (याचना) क्रिया करने वाला कहकर कौत्स को अधिक श्लाघ्य बना दिया गया है, जो कि रघु के उत्साह परिपोषण में सहायक हो रहा है, यही कारण है कि यहां उसे (गुर्वर्थम् पद को) 'अर्थी' पद के साथ समास कर गौण नहीं बनाया गया है। ऐसा होने पर यह विशिष्ट अर्थ विलीन हो जाता।

द्वितीया तत्पुरुष की भांति ही तृतीया तत्पुरुष में विद्यमान पद समास के कारण अपने अर्थ को अप्रधान बनाते हुए सम्पूर्ण अर्थ की प्रतीति नहीं करा पाते। अतएव उस विशिष्ट अर्थ की प्रतीति अभीष्ट होने पर कविगण समास नहीं करते। जैसे :—

---

१ उत्तररामचरितम्

२. रघुवंश ५.२४

आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः ।
बद्धुं न सम्भावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥[1]

(अज और इन्दुमती के सहदर्शन को उत्सुक कोई रमणी हाथ से पूरी तरह सम्भाले हुए केशपाश को भी उत्सुकतावश न बांध सकी ।)

इस पद्य में केशपाश कर्म है उसका रोधन करने की क्रिया के प्रति 'कर' पद करणवाची है, इनमें 'कर' और 'रुद्ध' पद में समास की योग्यता होने पर भी अर्थ के प्राधान्यवश समास नहीं किया गया है, फलतः अपने प्राधान्य वश वह उस रमणो की अतिशय शीघ्र-कारिता, उत्सुकता, प्रहर्ष आदि की क्रमशः प्रतीति कराता हुआ, जिस नव दम्पति के दर्शन में इतना अल्प विलम्ब भी असह्य प्रतीति होता था कि दर्शनार्थी रमणी ने स्वाधीन हाथों से उन अर्ध गुम्फित केशों का वन्धन भी न किया, उसकी लोकोत्तर असाधारण रूप-सम्पदा की प्रतीति कराते हैं। यही कारण है कि उस 'कर' पद को समास में डालकर उसके प्राधान्य को समाप्त नहीं किया गया है।

प्रत्युदाहरण के रूप में हम निम्नलिखित पद्य को देख सकते हैं :—

धात्रा स्वहस्तलिखितानि ललाटपट्टे
को वाक्षराणि परिमार्जयितुं समर्थः ।

इस उदाहरण में विधाता के अपने हाथ से लेखन को कवि महत्त्व देना चाहता है, किन्तु 'स्वहस्त' पद के समासगत होने से उस महत्त्व की प्रतीति नहीं हो रही है। इसीलिए यह पद्य विधेयाविमर्श दोष से दुष्ट हो जाता है।

इसी भांति चतुर्थी तत्पुरुष समास में भी चतुर्थ्यन्त पद अपने अर्थ के अप्रधान हो जाने से अभीष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं कर पाते। जैसे :—

पौलस्त्यः स्वयमेव याचत इति श्रुत्वा मनो मोदते
देयो नैष हरप्रसादपरशुस्तेनाधिकं ताम्यति ॥
तद्वाच्यः स दशाननो मम गिरा दत्ता द्विजेभ्यो मही
तुभ्यं ब्रूहि रसातलत्रिदिवयो र्निजित्यं किं दीयताम् ॥[2]

---

१. रघुवंश ७.६

२. महावीर चरितम्

प्रस्तुत पद्य में चतुर्थी विभक्ति में विद्यमान 'द्विजेभ्यः' तथा 'मही' पदों का परस्पर समास नहीं किया गया है। फलतः 'द्विजेभ्यः' पद का अर्थ अप्रधान नहीं होता एवं अपनी प्रधानता के कारण परशुराम के उत्कर्ष की वृद्धि करता है, क्योंकि उन्होंने समस्त पृथिवी जीत करके ब्राह्मणों को दान कर दी थी। अन्त में परशुराम के उत्कर्ष की यह प्रतीति रावण के क्रोध के उद्दीपन में पर्यवसित होती है, अतः यहां इन पदों का 'द्विजेभ्यः' पद का 'दत्ता' पद के साथ) समास न होना सर्वथा उचित ही है।

इसी भांति पंचमी तत्पुरुष का भी उदाहरण द्रष्टव्य है :—

'ताताज्जन्म वपुर्विलङ्घितवियत्क्रौर्यं कृतान्ताधिकम्,
शक्तिः कृत्स्नसुरासुरोष्मशमनी नीता तथोच्चैः पदम्।
सर्वं वत्स तवातिशायि निधनं क्षुद्रात्तु यत्तापसात्
तेनाहं त्रपया शुचा च विवशः कष्टां दशामागतः ॥'

प्रस्तुत पद्य में जन्म के प्रति अपादान कारक भूत 'तात' तथा 'मृत्यु' के प्रतिकारणभूत, अपादान कारक में विद्यमान क्षुद्र तथा तापस शब्दों के अर्थ प्रधानतया विवक्षित हैं, जिसके फलस्वरूप ब्रह्मा का वंशज महातपस्वी पुलस्य का पौत्र एवं विश्वश्रवा का पुत्र होना आदि दुर्लभ गौरव की प्राप्ति की प्रतीति होती है। साथ ही क्षुद्र तपस्वी अर्थ की प्रधानता द्वारा प्रतापहीनता अर्थ की प्रतीति भी होती है, फलस्वरूप अत्यन्त अप्रतापी राम द्वारा प्रतापशाली कुम्भकरण की मृत्यु कहकर रावण-गत लज्जा की प्रतीति विवक्षित है। उपर्युक्त दोनों पदों का समास कर देने पर इस अर्थ की प्रधानता समाप्त हो जायेगी एवं यह विवक्षित अर्थ प्रतीति नहीं हो सकेगी।

इसी पद्य में **'क्रौर्यं कृतान्ताधिकम्'** इस खण्ड में कृतान्त (पंचम्यन्त) पद का 'अधिक' पद के साथ समास कर दिया गया है, किन्तु यह उचित नहीं। असमास अवस्था में 'कृतान्त' अर्थ की प्रधानता होगी तथा उससे भी आधिक्य के कारण भूत 'कुम्भकरण' के लोकातिशापि प्रताप की प्रतीति होगी, जो कि उचित ही नहीं प्रसंग की दृष्टि से आवश्यक भी है, अतः इन पदों का समास करना उचित नहीं। अतएव यह पद्यांश विधेया विमर्श दोष दुष्ट होने से त्याज्य है। **'क्रौर्यं कृतान्ताधिकम्'** पद्य

खण्ड के स्थान पर 'क्रौर्यकृतान्तात्परम्' पाठ द्वारा इस दोष की निवृत्ति हो सकती है।

इसी भांति सप्तमी विभक्ति में विद्यमान पदों से भी समास कर देने से अप्रधानतावश उचित अर्थ की प्रतीति में बाधारूप दोष उपस्थित होता है। जैसे—

तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते
प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते च या।
प्रयान्ति तामाशुगतिं यशस्विनो
रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः॥

प्रस्तुत पद्य के चतुर्थ चरण में 'रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः' में अश्वमेध एवं पशुता शब्द का अर्थ प्रधानतया विवक्षित है। फलस्वरूप बलि कर्म शूर में अतिशय गौरव प्रदान करता है, तथा यह गौरव शरों में युद्ध में मरण हेतु उत्साह को उद्दीप्त करता है। समास करने पर इन पदोंके अर्थ प्रधान नहीं रह सकते, इसलिए यहां 'अश्वमेध' और 'पशुता' शब्द में परस्पर समास नहीं किया गया है।

इसी प्रकार—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥[1]

इस पद्य में 'शैशव', यौवन तथा वार्धक्य पदों का क्रमशः अभ्यस्तविद्य, 'विषयैषी' तथा 'मुनिवृत्ति' के साथ समास किया जा सकता था किन्तु उस स्थिति में इन उपर्युक्त पदों के अर्थ का अप्राधान्य हो जाता, फलस्वरूप प्राधान्य की स्थिति में प्रतीति होने वाले रघुवंशियों के गौरव रूप अर्थ की प्रतीति न हो पाती। वर्तमान स्थिति में उक्त पदों का अर्थ प्रधानतया विवक्षित है, जिसके फलस्वरूप रघुवंशियों की संयमशीलता और कर्तव्यशीलता की प्रतीति होकर उनके गौरव की प्रतीति होती है।

इसके विपरीत—

---

१. रघुवंश १.८

रेणुरक्तविलिप्ताङ्गो विकृतो व्रणभूषितः।
कदा दुष्प्रत्यभिज्ञानो भवेयं रणभूषितः॥[१]

असमास अवस्था में रण में भूषित (रणभूषित) पदार्थ प्रधानतया अभिधेय होकर मैं भी शूर सदृश युद्ध में मृत्यु को प्राप्त कर 'गौरवान्वित होऊँ' वक्ता के इस उत्कर्षपूर्ण अभिप्राय को प्रकट करता, किन्तु कवि ने अन्त्यानप्रास के लोभ में समास कर अभिवांछित अर्थ को खो दिया है।

उपर्युक्त कारक विभक्तियों की भांति सम्बन्ध में विद्यमान षष्ठ्यन्तपद भी असमास स्थिति में विशिष्ट अर्थ की प्रतीति कराते हैं। जैसे :—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयताम्
समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतः
त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।[१]

इस पद्य में 'शोचनीयता' प्राप्ति के हेतु के रूप में निर्दिष्ट 'समागम-प्रार्थना' का सम्बन्धी 'कपाली' शब्द (कपालिनः पद) असमस्त होने से अपने कपालि रूप अर्थ का प्रधानतया अभिधान करता है, फलतः वह शोचनीयता प्राप्ति का सबल हेतु बन जाता है, क्योंकि समस्त अमंगल का मूलभूत तथा निन्दित आचारयुक्त होने से कपालि के साथ सम्भाषण तथा उसका दर्शन भी निषिद्ध है। ऐसी स्थिति में समागम प्रार्थना तो सर्वथा हेय है ही। निदान यहां कपालिनः पद का असमस्त रूप में विद्यमान रहना नितान्त उचित है।

इसी भांति—

स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः।[२]

कालिदास ने इस पद्य में 'स्कन्द' शब्द का माता शब्द के साथ समास नहीं किया है। फलतः 'स्कन्द' एवं (उनकी) माता शब्द का अर्थ प्रधानतया अभिधेय होकर त्रैलोक्य सन्तापकारी 'तारकासुर का

१. कुमार सम्भव ५.७१
२. रघुवंश २.३६

संहार कर सकल लोक का कल्याण करने वाले देवों के सेनापति स्कन्द की माता, जो सहस्रों भृत्यों के रहने पर भी इसका सिंचन अपने हाथों से ही स्नेहाधिक्य के कारण करती रही हैं' इस अर्थ को प्रकट करता है, साथ ही इस वृक्ष देवदारु पर उनका अत्यधिक स्नेह रहा है, अतः हम अनुचरों द्वारा इसकी प्राणपण से रक्षा करनी है एवं इसी निष्ठा से मैं आहार वृत्ति के लिए अन्यत्र न जाकर यहीं रक्षा में तत्पर हूं इत्यादि अर्थ की प्रतीति में भी सहायक होता है। समास की स्थिति में यह प्रतीति सम्भव नहीं है।

इसके विपरीत—

पृथ्वि स्थिरा भव भुजङ्गम धारयैनाम्
त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः ।।
दिक्कुञ्जराः कुरुत तत्त्रितये दिधीर्षाम्
देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ।।[1]

प्रस्तुत पद्य में अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि के लिए 'कार्मुक' पद के अर्थ की प्रधानता आवश्यक है, साथ ही शंकर अर्थ की प्रधानता इस अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि के लिए अनिवार्य रूप से अभिप्रेत है। किन्तु कवि ने 'हर' पद को 'कार्मुक' पद के साथ समस्त कर कार्मुक को प्रधानतया अभिधेय बना दिया है। अतः यह प्रयोग सदोष है। यदि इसके बदले निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास कर दिया जावे तो यह दोष नहीं रह जाता :—

'देवो धनुः पुररिपोः विदधात्यधिज्यम्।'

इसी प्रकार :—

किं लोभेन विलंघितः स भरतो येनैतदेवं कृतम्
भ्रात्रा, स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव वा मध्यमा।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरुः
माता तात कलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम्।[2]

प्रस्तुत पद्य में 'आर्यानुजः' तथा 'तात कलत्रम्' इन समस्त पदों का

१. बालरामायण १.४८
२. काव्यानुशासन पृ. १८२ से उद्धृत

प्रयोग किया गया है, यह अनुचित है, यहां समास में होने से 'आर्य' एवं 'तात' पदों का अर्थ अप्रधान हो रहा है, जबकि प्रधानतया कविविवक्षित है, क्योंकि राम का भाई होने से ही भरत में तथा महाराज दशरथ की पत्नी होने से ही कैकयी में राम के वनवास योजना का सन्देह करके पुनः राम के सम्बन्ध वश उस सन्देह का मिथ्यात्व कवि ने निबद्ध किया है। इस प्रकार राम के 'सम्बन्ध' के कारण ही, पद्य के पूर्वार्ध में किये गये सन्देह में मिथ्यात्व की कल्पना कवि ने की है, यह कल्पना उसी स्थिति में पुष्ट हो सकती है जब 'आर्य' तथा 'तात' पदों के अर्थ प्रधानतया अभिहित हों, यह (प्रधानतया) अभिधान इन पदों के समास गत होने से नहीं हो सकता, अतः इनका समास गत होना उचित नहीं है। इसी प्रकार :—

'जयाशा यत्र चास्माकं प्रतिघातोत्थितार्चिषा।
हरिचक्रेण तेनास्य कण्ठे निष्क इवार्पितः।'[1]

प्रस्तुत पद्य में 'हरि' शब्द का 'चक्र' शब्द के साथ समास किया गया है, फलतः 'हरि' पद का अर्थ अप्रधान हो गया है, जबकि वह प्रधानतया विवक्षित है, क्योंकि हरि पद की प्रधानता से ही चक्र 'जयाशा' के प्रति हेतु होगा, सामान्य चक्र मात्र होने से नहीं। क्योंकि हरि से सम्बन्ध के कारण ही चक्र 'जयाशा' का हेतु हो रहा है। अतः हरि पद का अर्थ प्रधानतया अभिधेय होना चाहिए, तदर्थ उसका असमास अवस्था में रहना आवश्यक है। दोष परिहार के लिए उक्त पद्य में निम्नलिखित रूप में पाठ विपर्यास करना अधिक उचित होगा :—

'हरेश्चक्रेण तेनास्य कण्ठे निष्क इवार्पितः।'

उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'सम्बन्धवाचक तथा अन्य किसी भी कारक में प्राधान्य तथा अप्राधान्य उस विशेषण के साथ विभक्ति के प्रयोग और अप्रयोग पर निर्भर रहा करता है। इसी आधार पर, 'विशेषण द्वारा विशेषित किये जाने वाले विशेष्य शब्दों का अर्थ वाक्यार्थ में अप्रधान होता है तथा विशेष्य की विशेषता प्रतिपादक विशेषण ही प्रधान हो जाते हैं। यह सिद्धान्त

---

१. काव्यानुशासन पृ. १९२ में उद्धृत

रूप से पूर्व पृष्ठ ६६ पर स्वीकार किया गया है। इस प्रसंग में इतना और स्मरण रखना चाहिये कि वाक्य में शब्दतः प्राधान्य तो विशेष्य का ही बना रहता है, विशेषण अर्थ की दृष्टि से ही प्रधान हुआ करते हैं।

विभक्ति के आधार पर विशेषण अर्थ की प्रधानता तथा उसके (विभक्ति के) अभाव में विशेषण की अप्रधानता के सम्बन्ध में चिन्तन की प्रेरणा आचार्य महिम भट्ट को महर्षि पाणिनि से प्राप्त हुई है। इसे उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है। उनका कहना है कि इसी 'विशेषण प्राधान्य' को देखकर ही आचार्य पाणिनि ने 'आक्रोश गम्यमान हो तो समास में भी विभक्ति का लुक् नहीं होता,'[1] ऐसी व्यवस्था दी है। इसीलिए 'आक्रोश की स्थिति में 'वृषल्याः पुत्रः' (व्यभिचारिणी की सन्तान) तथा अन्यत्र 'वृषली पुत्र' प्रयोग होता है। इसी प्रकार आक्रोश में "दास्याः पुत्रः" (दासी का पुत्र) तथा अन्यत्र 'दासीपुत्र' प्रयोग होता है।

इस प्रसंग में कुछ वैयाकरण यह शंका कर सकते हैं कि 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्'[2] सूत्र से पुत्र शब्द के साथ आक्रोश गम्यमान होने पर भी विकल्प से विभक्ति लुक् की व्यवस्था शास्त्र ने दी है, इस आधार पर 'दासीपुत्रः' पद से भी आक्रोश रूप अर्थ की प्रतीति होगी ही।

वैयाकरणों का उपर्युक्त तर्क सामान्य दृष्टि से उचित प्रतीति हो हो सकता है, किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है, सहृदय हृदय इसका साक्षी है। 'दासीपुत्र' पद से केवल 'पुत्र' अर्थ की ही प्रतीति मुख्यतः होती है। दासी पद केवल सम्बन्ध मात्र का द्योतक होता है। यही कारण है कि आचार्य पाणिनि को भी इस 'षष्ठ्या आक्रोशे' सूत्र के पृथक् निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई।

यह पहले कहा जा चुका है कि विभक्ति के प्रयोग तथा अप्रयोग पर विशेषण पदों के अर्थ का प्राधान्य और अप्राधान्य निर्भर रहा करता है तथा उसके आधार पर ही वाक्य में किसी अर्थ का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष निश्चित होता है एवं उस उत्कर्ष और अपकर्ष पर

---

१. षष्ठ्या आक्रोशे। पा० अष्टा० ६.३.२१

२. वही, ६.३.२२

रसादि की प्रतीति आश्रित होती है, जो कि काव्य में प्रधान है, अतएव इस विभक्ति के प्रयोग एवं अप्रयोग के आधार पर अथवा समस्त एवं असमस्त प्रयोग के आधार पर काव्य में विधेयाविमर्श दोष को स्वीकार किया जाता है।

अन्य समासों की भांति नञ् समास में भी नञ् अर्थ की प्रधानता विवक्षित होने पर समास नहीं होता। नञ् प्रतिषेध दो प्रकार का होता है। १. प्रसज्य प्रतिषेध २. पर्युदास प्रतिषेध।

जहां विधि अर्थात् क्रियार्थ की अप्रधानतया तथा निषेध की प्रधानतया प्रतीति हो उसे प्रसज्य प्रतिषेध कहा जाता है। ऐसी स्थिति में नञ् का क्रिया पद के साथ सम्बन्ध हुआ करता है। साथ ही नञ् एवं अन्य पदों में विशेषण विशेष्यभाव का अभाव होने से समास हेतु सामर्थ्य का अभाव रहता है एवं इसीलिए वहां वाक्यभेद भी अवश्य रहता है। जैसे :—

नव जलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः,
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम्।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा,
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी।[2]

कालिदास के उपर्युक्त श्लोक के प्रत्येक चरण में प्रतिषेध की

---

१. (क) अप्राधान्यं विधे र्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्।
—व्यक्ति विवेक से उद्धृत पृ. १५५-१५६

(ख) प्रतिषेधस्य प्राधान्यं विधेरप्राधान्यं नञः क्रियापदेन सम्बन्धः, असमर्थसमासः वाक्यभेदश्च ·····अत्र कारिकायां त्रये निर्दिष्टे द्वयमाक्षिप्तम्। —व्यक्तिविवेक व्याख्यान, पृ. १५५-१५६

द्वौ नञाविह विख्यातौ, पर्युदास प्रसज्यकौ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत्॥
—श्री हनुमत्प्रासाद-शास्त्री से प्राप्त न्याय

२. विक्रमोर्वशीयम् ४.७

प्रधानता है तथा विधि की अप्रधानता, साथ ही नञ् का सम्बन्ध क्रिया पद से है। नञ् तथा क्रिया में विशेषण विशेष्यभाव न होने से समास-सामर्थ्य का भी अभाव है, यही कारण है कि प्रतिषेधवाचक नञ् तथा प्रतिषेध्य विधि में वाक्य भेद भी विद्यमान है।

जहां विधि की (क्रियार्थ की) प्रधानता हो तथा प्रतिषेध की अप्रधानता हो, वहां पर्युदास प्रतिषेध कहाता है, ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि उत्तर पद से नञ् का सम्बन्ध किया जा रहा हो, साथ ही समास सामर्थ्य तथा प्रतिषेध वाचक नञ् प्रतिषेध्य में एक वाक्यता भी विद्यमान हो।[1] जैसे—

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः
अगृध्नुराददे सोऽर्थमशक्तः सुखमन्वभूत।[2]

कालिदास के इस पद्य में 'अत्रस्त' अनातुर 'अगृध्नु' तथा अशक्त इन चार पदों में नञर्थ विद्यमान है, साथ ही नञर्थ कृत उपर्युक्त प्रतिषेध पर्युदास है, क्योंकि यहां विधि अर्थात् क्रियार्थ की प्रधानता एवं प्रतिषेध की अप्रधानता है। नञ् का संबंध उत्तर पद त्रस्त आदि पदों से है ही तथा नञर्थ के विशेषण रूप से विद्यमान होने से समास योग्यता अर्थात् सामर्थ्य एवं एकवाक्यता भी स्पष्टतः सिद्ध है। फलतः यहां पर्युदास प्रतिषेध माना जाएगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतिषेध वाचक नञ् तथा प्रतिषेध्य में एक वाक्यता पर्युदास में ही होती है, प्रसज्य प्रतिषेध में नहीं। फलतः समास सामर्थ्य भी पर्युदास में ही होगा प्रसज्य प्रतिषेध में नहीं।

इस प्रसंग में यह प्रश्न उठ सकता है कि कृदन्त प्रत्ययान्त क्रिया पदों में यदि नञ् समास किया गया हो तो किसका प्राधान्य माना जाएगा? क्रिया का अथवा कर्ता का? क्योंकि कृदन्त प्रत्यय स्वयं कर्ता अर्थ में विवक्षित होते हैं।

आचार्य महिम भट्ट के अनुसार ऐसे स्थलों में अर्थात् अनिष्टवान् असंख्यवान् अकुम्भकार आदि कृदन्त पदों में यदि क्रियांश का प्रतिषेध करना हो तो वाक्य का प्रयोग होता है, तथा समास होने पर कर्त्रंश का

---

१. गत पृष्ठ की पाद टिप्पणी संख्या १ देखें
२. रघुवंश १.२१

प्रतिषेध माना जाएगा। क्योंकि जब वाक्य में नञ् स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होता है, उस स्थिति में वह किससे सम्बद्ध माना जाए यह प्रश्न उठने पर लोक न्याय से ही निर्णय करना होता है, जैसे लोक में स्वामित्वहीन वस्तुओं पर राजा का ही स्वामित्व माना जाता है, उसी प्रकार किसी भी अन्य पद से असम्बद्ध 'नञ्' का वाक्य में प्रधानक्रिया पद[1] से ही संबंध मान लिया जाता है। फलतः उस स्थिति में क्रिया से सम्बद्ध होने के कारण नञर्थ भी प्रधान होगा, एवं वह प्रतिषेध प्रसज्य प्रतिषेध कहा जाएगा। अनिष्टवान् आदि समस्त प्रयोगों में क्रियांश का प्रतिषेध न माना जाएगा, अपितु कर्त्रंश का ही प्रतिषेध माना जाएगा। साथ ही इन पदों में चूंकि कृदन्त प्रत्यय का प्रयोग हुआ है तथा 'कृत्' प्रत्ययों का विधान कर्त्रर्थ में किया जाता है, अतः कृदन्त प्रत्ययान्त पदों में कर्त्रंश की ही प्रधानता मानी जाएगी। फलतः प्रतिषेध की स्थिति में कर्त्रंश का ही प्रतिषेध मानना उचित होगा, क्रियांश का नहीं।

फलतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि नञर्थ की प्रधानता होने पर समास नहीं होता। यदि कहीं समस्त प्रयोग दृष्टिगत होता है, तो वहां हम देख सकते हैं कि नञर्थ की प्रधानता में स्पष्ट रूप से व्याघात होने लगता है। जैसे :—

'वाच्यवैचित्र्यरचनाचारु वाचस्पतेरपि
दुर्वचं वचनं तेन बहु तत्राप्यनुक्तवान्॥'[2]

इस पद्य में अनुक्तवान् पद में नञ् का समासगत प्रयोग हुआ है। अतः यहां कर्त्रंश प्रतिषेध की प्रतीति होती है, जबकि कवि विवक्षित क्रियांश का प्रतिषेध है, अतः यह प्रयोग प्रशस्त नहीं कहा जा सकता। यहां निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास कर देना उचित होगा—

'दुर्वचं वचनं तेन बहु तत्रापि नोक्तवान्'॥

जिस प्रकार नञर्थ की प्रधानता रहने पर (प्रसज्य प्रतिषेध में) समास करना सदोष है, उसी प्रकार नञ् की अप्रधानता रहने पर अर्थात् पर्युदास में समास का अभाव भी सहृदय हृदय में वैरस्य विधायी है,

---

१. क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्य मिष्यते। — भर्तृहरि-वाक्यपदीय

जैसे :—

ननु साधु कृतं प्रजासृजा शशिकान्तेषु मनो न कुर्वता
नहि चेतनतामवाप्य ते विरमेयुः गलितेन केवलम् ।

इस पद्य में 'नञ्' एवं 'कुर्वंता' में समास का अभाव सदोष है। क्योंकि यहां पर्युदास है, मनःकर्मक नञ् विशिष्ट करण क्रिया विवक्षित है। साथ ही तत्सदृश क्रिया भी, करण क्रिया मात्र का अभाव नहीं। क्रिया मात्र का प्रतिषेध विवक्षित होने पर ही नञ् का प्राधान्य हो सकता है, फलतः नञ् के अप्राधान्य के लिए यहां समास आवश्यक है।

इसी असमास दोष को हम :—

'गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि' पद्य में पाते हैं।

यहां 'न उचितम्' में समास होना चाहिये। समास होने पर अनुचितम्' पद द्वारा नञ् विशिष्ट औचित्य अभिहित होगा और वही विवक्षित भी है। समास के अभाव में औचित्यमात्र का प्रतिषेध होने लगता है। अतः पर्युदास में, नञ् की अप्रधानता में, समास का अभाव भी सदोष ही माना जायेगा।

'प्रसज्य प्रतिषेध में समास नहीं होता' इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में विरोध की उद्भावना पूर्व पक्ष द्वारा की जा सकती है कि जिस प्रकार 'अश्राद्धभोजी' पद में प्रसज्य प्रतिषेध होते हुए भी समास विद्यमान है, उसी प्रकार असंख्यवान् में भी प्रसज्य प्रतिषेध रहते हुए भी समास मानने में क्या आपत्ति है ? फलतः संख्यावत् निषेध की प्रतीति होगी विशिष्ट संख्यावत्व का विधान प्रतीत न होगा। इस प्रकार प्रसज्य प्रतिषेध में भी विधेयाविमर्श आदि कोई दोष नहीं होगा।

इसका समाधान देते हुए आचार्य महिम भट्ट का कहना है कि 'अश्राद्धभोजी' पद में प्रसज्य प्रतिषेध न होकर पर्युदास ही है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्रसज्य प्रतिषेध में नञ् की प्रधानता रहती है और उसका साक्षात् क्रिया से सम्बन्ध भी रहता है, यहां दोनों में कोई भी अंश विद्यमान नहीं है। क्योंकि यहां नञ् का उत्तर पद श्राद्ध से कोई संबंध प्रतीत नहीं होता, अपितु विशेष्य होने क कारण प्रधान, 'भोजी' इस अर्थ से उसका सम्बन्ध प्रतीत होता है तथा वहां (भोजी में) भी कर्त्रर्थक कृत् प्रत्यय होने से कर्त्रंश की ही प्रधानता विद्यमान है

क्रियांश की नहीं, क्योंकि यहां कर्त्रर्थक कृत् प्रत्यय विहित है।[1] फलतः श्राद्धभोजी पद से श्राद्धभोजनशील कर्त्ता की ही प्रतीति होती है। भोजन क्रिया मात्र की नहीं। निदान नञ् समास करने पर नञ् का सम्बन्ध भी कर्त्ता से ही प्रतीत होगा, क्रिया से नहीं। क्रियांश का निषेध तो आक्षेप से ही होता है, क्योंकि क्रियांश निषेध के बिना कर्तृत्व का निषेध भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'अश्राद्ध भोजी' पद में प्रसज्य प्रतिषेध नहीं है एवं उसके साम्य पर 'असंख्यावान्' के औचित्य को सिद्ध करना भी उचित नहीं है। अश्राद्ध-भोजी आदि पदों में प्रसज्य प्रतिषेध का भ्रम केवल इस कारण है कि वाक्य में कर्त्ता का कथन नहीं किया गया है; किन्तु उसके कथन न होने से ही यहां प्रसज्य प्रतिषेध नहीं माना जा सकता। (प्रसज्य प्रतिषेध केवल वाक्य में ही (समास के अभाव में ही) सम्भव हो सकता है समास में नहीं।

इस प्रसंग में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि प्रसज्य प्रतिषेध और पर्युदास दोनों ही स्थलों में नञर्थ तो है ही। अतः उसके समास में क्या दोष है ? इस प्रश्न का समाधान देते हुए महिमभट्ट का कथन है कि प्रसज्य प्रतिषेध में नञर्थ साध्य रहता है और पर्युदास में वही सिद्ध रहता है फिर दोनों को कौन समान कह सकता है। अतः एक में (प्रसज्य प्रतिषेध की स्थिति में) समास का न होना तथा अन्य में (पर्युदास में) समास का होना ही उचित है। असूर्यम्पश्या आदि प्रयोगों में भी इसी भांति नञ् का संबंध क्रिया से न होकर कर्त्ता से ही है। फलतः उन स्थलों में भी पर्युदास प्रतिषेध ही होता है।

प्रसज्य प्रतिषेध के उदाहरण के रूप में हम निम्नलिखित पद्य ले सकते हैं—

भुङ्क्ते सदा श्राद्धमयं परांश्चोपतापयेदित्ययथार्थमेव।
सम्यक् स्वभावोऽवगतोस्य यावन्न श्राद्धभोजी न परोपतापी।[1]

यहां 'अयं श्राद्धभोजी नास्ति' इस प्रकार वाक्यार्थ होता है, अत-एव स्पष्ट है कि यहां नञ् का संबंध क्रिया से है। अतएव यहां प्रसज्य

---

१. यहां कर्तरिकृत् (३-४-६७) की व्याख्यानुसार 'सुप्यजातो णिनिस्ताच्छील्ये' (अष्टा० ३-२-७८ सूत्र) से कर्त्रर्थ में 'णिनि' प्रत्यय का विधान हुआ है।

प्रतिषेध भी स्पष्ट है। यदि नञ् का सम्बन्ध क्रिया से न होकर कर्त्ता से होता, तो नञ् विधीयमान न हो सकता था, विधीयमान न होने पर समास का अभाव सम्भव न था।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जिन स्थलों में नञ् विधेय (प्रधान) का अनुगामी अर्थात् विशेष्य होगा, वहां नञ् समास न होगा। असंख्यावान् में नञ् विधेयार्थ का विशेषण न होकर प्रधान ही रहता है, अतः यहां समास नहीं हो सकता।

तत्पुरुष समास के समान ही अव्ययीभाव समास में भी उक्त विधेयाविमर्श दोष देखा जा सकता है। जैसे :—

'सा दयितस्य समीपेऽवस्थातुं नापि चलितुमुत्सहते।
ह्री साध्वसरसविवशा स्पृशति दशां कामपि नवोढा॥'[1]

इस पद्य में 'प्रिय के समीप' इस अर्थ के अभिधान के लिए 'दयितस्य' 'समीपे' इन दो पदों का असमस्त प्रयोग किया गया है, इन्हीं दो पदों का समास होने पर 'उपदयितम्' पद बनता है, इस समस्त पद से भी उक्त अर्थ का अभिधान हो सकता है। किन्तु असमास अवस्था में समीप्य के सम्बन्धी 'दयित' पद के अर्थ की प्रधानता रहती है। इस प्रधानता वश 'अनन्त पुण्य परिपाक से प्रियतम का लाभ हो सका है' यह अर्थ प्रतोत होकर रति के उद्दीपन के रूप में पर्यवसित हो जाता है। इस हेतु ही कवि ने उसे असमस्त अवस्था में ही प्रयुक्त किया है। 'उपदयितं' समस्त पद द्वारा इस विशिष्ट अर्थ की प्रतीति सम्भव नहीं थी।

किन्तु इसके विपरीत :—

'मध्येव्योम त्रिशङ्कोः शतमखविमुखः स्वर्गसर्गं चकार।'

इस पद्य में महर्षि विश्वामित्र का तपःप्रभाव प्रतिपादन प्रस्तुत है, तदर्थं कवि ने आधार शून्य व्योम में बिना साधनों के ही स्वर्ग सर्जना का अभिधान किया है। इस प्रभावातिशय की प्रतीति के लिए मध्येपद को प्रधानतया विवक्षित होना चाहिए, किन्तु कवि के प्रमादवश वह व्योम पद के साथ समस्त होकर अप्रधान हो गया है। अतः प्रधानतया

---

१. काव्यानुशासन पृ. १७१:८० से उद्धृत

विमर्शणीय का प्रधानता विमर्श न होने से यहां विधेयाविमर्श दोष विद्यमान है। यदि यहां पाठ विपर्यास कर 'मध्ये व्योम्नि त्रिशङ्को' इत्यादि पाठ किया जाये तो अधिक उचित होगा।

इसी भांति कृदन्त और तद्धितान्त समासों में विभक्ति के प्रयोग अप्रयोग से अर्थ का प्राधान्य और अप्राधान्य एवं तज्जन्य विधेयाविमर्श दोष की सम्भावना हो सकती है। जैसे :—

'यः सर्वं कषति खलो बिभर्त्ति यः कुक्षिमेव सत्यतिथौ।
यश्च विधुन्तुदति सदा शीर्षच्छेदं त्रयोऽपि तेऽर्हन्ति॥'

भाषा में कषण, भरण तथा तोदन क्रिया के क्रमशः कर्मभूत सर्व, कुक्षि तथा विधु है। इन्हें उपपद मानकर सर्वंकषः कुक्षिम्भरः तथा विन्धुन्तुदः आदि कृदन्त शब्द निष्पन्न होते हैं।[1] किन्तु प्रस्तुत पद्य में कवि ने सर्व आदि कर्मवाचक पदों की प्राधान्य विवक्षा वश उक्त कृदन्त शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। फलतः कर्मभूत सर्व पदार्थ में सकल लोक को अभयदान दीक्षा में संलग्न बोधिसत्त्व आदि का भी संकलन हो जाता हैं, एवं बोधिसत्त्वादि कर्म विशिष्ट कषण क्रिया का कर्त्ता अकार्यकारी हैं, दम्भादि दोष ग्रस्त है, अत्यधिक अपराधी है[2] इस अर्थ की प्रतीति होती है। इसी प्रकार समस्त अशुचि के निधानभूत तथा विनश्वर कार्य (कुक्षि) का ही भरण करने से कुक्षि का भरने वाला अत्यन्त अकार्यकारी एवं अविवेकी है इस अर्थ की प्रतीति होती है। इसी प्रकार सकल लोक आह्लादक विधु (चन्द्रमा) का उत्पीडक भी सर्वथा अकार्यकारी एवं अविवेकशील है यह अर्थ प्रकट होता है। अतएव शीर्षच्छेदन रूप सर्वातिशायी शारीरिक दण्ड का वह भागी है। इस प्रकार असमस्त पद प्रयोग से उक्त दण्ड का औचित्य सिद्ध होता है।

---

१. (क) सर्वंकषः='सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः' (३-२-४२) इति खचि कृदन्त-प्रत्यये।
(ख) कुक्षिम्भरः='कुक्षिम्भरिश्च' इति निपातनात् खच् विभक्त्य-लोपश्च।
(ग) विधुन्तुदः 'विध्वरुषोस्तुद' (३.२.३५) इति खशि कृदन्त प्रत्यये।

२. सर्वाशुचि निधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः।
शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते। —कुलयानन्द।

इन स्थलों पर यदि कृदन्त प्रत्यय कर दिया गया है, तो समास का होना अवश्यम्भावी है, फलतः कर्म पदार्थ का प्राधान्य समाप्त होकर कर्त्रर्थ की प्रधानता होगी, क्योंकि 'कृत् प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में ही विहित होते हैं।' अतः उपर्युक्त अर्थ की प्रतीति न हो सकेगी। 'कृत्' प्रत्यय न कर वाक्य रूप में ही प्रयोग करने पर क्रिया की प्रधानतया प्रतीति होगी, साथ ही क्रिया के साधन भूत कारकों की भी विवक्षा कृत प्रधानता रहेगी ही।

इसी प्रकार :—

'रामोऽस्मि सर्वं सहे'

इस वाक्य में सहन क्रिया के कर्मभूत सर्वपद के अर्थ का विवक्षाकृत प्राधान्य होने से अति भीषणतम दुख सहिष्णु अर्थ की प्रतीति होती है एवं उससे राम का उत्कर्ष प्रकट होता है। इसी स्थल पर 'पूस्सर्वयोर्दारिसहोः' (३-२-४१) आचार्य पाणिनि की इस व्यवस्था से कृत् (खच्) प्रत्यय करने पर 'सर्वंसह 'पद से उक्त अतिशय सहिष्णुता रूप अर्थ की तथा उससे राम के उत्कर्ष की प्रतीति सम्भव नहीं थी। कृत् प्रत्यय के अभाव में पूर्व उदाहरणों की भांति क्रियार्थ की प्रधानतया प्रतीत्ति होगी, साथ ही क्रिया के साधनभूत कर्मकारक रूप अर्थ की भी विवक्षा वशात् प्रधानतया ही प्रतीति होगी।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न हो सकता है कि 'एक वाक्य में ही साध्य तथा साधन, क्रियार्थ और कर्म आदि कारकों के अर्थ की प्रधानता होना सम्भव नहीं है, क्योंकि वाक्य में प्राधान्य किसी एक अर्थ का ही हो सकता है, अनेक अर्थों का नहीं।

इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य महिमभट्ट ने अत्यन्त सुन्दर व्याख्या दी है। उनका कहना है कि यह सिद्धान्त पूर्णतः मान्य है कि 'वाक्य में किसी एक अंश की ही प्रधानता होगी।' किसी एक सामान्य वाक्य में किस अंश की प्रधानता होगी, वह प्रश्न विचारणीय है।

वाक्य में किसी अर्थ विशेष की प्रधानता सामर्थ्य पर निर्भर है। सामर्थ्य तीन प्रकार का हो सकता है (१) शब्दकृत सामर्थ्य, (२) अर्थकृत सामर्थ्य तथा (३) विवक्षाकृत सामर्थ्य।

---

१. कर्त्तरि कृत् (अष्टा० ३.४..६७

१. शब्दकृत सामर्थ्य का तात्पर्य है शब्द संस्कार की महिमा से प्राप्त सामर्थ्य। इस सामर्थ्य के कारण वाक्य में किसी अर्थ विशेष की प्रधानता हो सकती है। जैसे :—कर्मधारय, तत्पुरुष आदि समासों में शब्द संस्कार की महिमा से ही उत्तर पद को प्राधान्य प्राप्त हो जाता है।[1]

इसी प्रकार अव्ययीभाव समास में पूर्वपदार्थ को प्राधान्य शब्द संस्कार कृत सामर्थ्य से ही प्राप्त होता है।[2]

'कृत्' प्रत्ययान्त पदों से कर्त्रंश का प्राधान्य भी शब्द सामर्थ्य के कारण ही होता है।[3]

२. वाक्य में कभी किसी अंश का प्राधान्य अर्थ सामर्थ्य से हो जाता है। अर्थ सामर्थ्य का तात्पर्य है वस्तुवृत अथवा प्रकरण से प्राप्त प्राधान्य, जैसे 'गृहं सम्मार्ष्टि' आदि स्थलों पर प्रसंगवश ही कर्मभूत गृहरूप अर्थ की प्रधानता है।

इसी प्रकार 'अग्निहोत्रं जुहोति, यवागूं पचति' इन मीमांसा वाक्यों में जुहोति शब्द द्वारा हवन का विधान दिया गया है, किन्तु वह साधन के बिना सम्भव नहीं हैं, तदर्थ साधन रूप 'यूवागू' अर्थ का बोध उत्तर वाक्य से होता है, जो हवन क्रिया से पूर्व आवश्यक है। अब यहां दोनों क्रियाओं में कौन क्रिया प्रथम की जाये 'हवन क्रिया' अथवा 'यवागू पचन' क्रिया? शब्द की दृष्टि से प्रथम क्रिया हवन क्रिया है। किन्तु चूंकि हवन क्रिया यवागू रूप साधन सापेक्ष्य है, अतः अर्थ की दृष्टि से 'यवागू पचन' क्रिया प्रथम होनी चाहिये, हवन क्रिया उसके अनन्तर। तथा अर्थकृत प्राधान्य होने से पचन क्रिया ही प्रथम होंगी एवं प्रधान क्रिया हवन क्रिया पीछे। ऐसी ही मीमांसकों की व्यवस्था भी है 'पाठ क्रम से अर्थ क्रम प्रधान होता है'।[4]

३. विवक्षाकृत प्राधान्य इन दोनों से ही भिन्न है, साथ ही दोनों की अपेक्षा बलीयान् भी' जैसे :—

---

१. उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः।
२. पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः।
३ कर्त्तरि कृत्। अष्टा० ३.४.७
४. पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्। —अर्थ संग्रह

'रामस्य पाणिरसि' इस वाक्य में सम्बन्ध कारकार्थ राम रूप अर्थ की ही विवक्षाकृत प्रधानता है।[1]

इस प्रकार वाक्य में अंश विशेष की प्रधानता शब्दकृत, अर्थकृत तथा विवक्षाकृत सामर्थ्य के कारण हुआ करती है तथा उन तीनों में विवक्षाकृत सामर्थ्य ही सर्वातिशयी है, बलवान् है।

प्रस्तुत उदाहरण में अर्थकृत क्रिया का प्राधान्य न रहकर विवक्षाकृत पदार्थों का ही प्राधान्य रहेगा, कर्म पदार्थ तथा क्रिया पदार्थ दोनों का नहीं।

इस प्रकार इस सम्वन्ध मं स्मरण रखना चाहिए कि :—वाक्य व्यवहार में जो पद किसी भी तरह प्रधानतया विवक्षित हैं, उन पदों का अन्य पदों के साथ समास नहीं होता। अन्य पद चाहे विशेषण हो या विशेष्य अथवा इनसे भिन्न कारक मात्र। फलतः विशेषण के प्राधान्य होने पर कर्मधारय तथा तत्पुरुष समास नहीं होते।

विशेषण विशेष्यभाव के अभाव में द्वन्द्व समास की स्थिति आती है, यहां भी यदि द्वन्द्व पदों अथवा सरूप पदों में प्रत्येक का क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध रूप प्राधान्य विवक्षित हो, तो उन पदों का भी समास और एक शेष नहीं होता। जैसे :—

किमञ्जनेनायतलोचनायाः हारेण किं पीनपयोधरायाः।
पर्याप्तमेतन्ननु मण्डनं ते रूपं च कान्तिश्च विदग्धता च॥

इस पद्य में मण्डन क्रिया के कर्त्ता रूप कान्ति एवं विदग्धता तीनों ही क्रिया से मुख्यतः सम्बद्ध है, साथ ही रति के उद्दीपन के रूप में विवक्षित भी है। यही कारण है कि इन्हें परस्पर समस्त नहीं किया गया है।

इसी भांति :—

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं तद्
आवृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्याः।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्याः
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः॥[2]

---

१. विवक्षाकृत प्राधान्य के उदाहरण पिछले प्रकरण में दिये जा चुके हैं।
२. मालतीमाधव

इस पद्य में अमृत और विष दोनों ही 'दिग्ध' क्रिया से सम्बद्ध हैं, इनका ही विवक्षाकृत प्राधान्य है। अतएव प्रधान हैं, फलतः इस प्राधान्य विवक्षा वश ही वे उत्कण्ठा रूप संचारिभाव के उद्दीपन में पर्यवसित हो जाते हैं। यह प्राधान्य वाक्य स्थिति में ही सम्भव है। इसलिए इन्हें परस्पर समस्त कर इनके प्राधान्य को अस्त नहीं किया गया है।

उपर्युक्त दोनों पद्यों में हो द्वन्द्व समास हो सकता था, किन्तु उस स्थिति में उपर्युक्त पदों के अर्थ अप्रधान होकर रति के उद्दीपन में हेतु न हो सकते थे।

इसी भांति एकशेष के स्थल पर प्रधानतया विवक्षित पदों में एक-शेष नहीं होता है। जैसे :—

सूतः 'प्राप्तावेकरथारुढौ पृच्छन्तौ त्वामितस्ततः।'[1]

सूतः 'कश्च कश्च।'

सूतः 'अर्जुनश्च स कर्णारिः स च क्रूरो वृकोदरः।'

यहां 'कश्च' 'कश्च' दोनों पदों का एकशेष होने पर 'कौ'[2] पद हो सकता था, किन्तु उस स्थिति में दोनों पदों का प्राधान्य प्रकट होना सम्भव नहीं था, पृथक् पृथक् 'कः कः' पाठ करने पर उन दोनों के प्रति प्रष्टा (पूछने वाले) की अतिशय जिज्ञासा प्रतीत होती है, एक शेष होने पर इस जिज्ञासातिशय की प्रतीति सम्भव नहीं थी। अतः एकशेष न करना उचित ही नहीं, अत्यन्त अपेक्षित भी है।

जहां इस भांति प्राधान्य या अप्राधान्य की विवक्षा नहीं होती, अपितु मात्र स्वरूप का ज्ञान ही अपेक्षित होता है, वहां विशेषण एवं विशेष्य के बीच समास हो अथवा नहीं इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं होता। अर्थात् वहां समास का होना अथवा न होना कवि (वक्ता की) इच्छा पर निर्भर होता है। जैसे :—

'स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्तिहृदयशोकाग्नेः।
चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम्॥'[3]

---

१. वेणी संहार ५.२५
२. सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ। पाणिनीय अष्टाध्यायी १-२-६४
३ कादम्बरी पृ. २७

इस पद्य में 'भवतः' तथा 'रिपुस्त्रीणाम्' पद क्रमशः 'रिपुस्त्रीणाम्' तथा 'स्तनयुगम्' पदों के सम्बन्धिभूत विशेषण हैं, किन्तु उनसे विशेष्यों में किसी प्रकार उत्कर्ष या अपकर्ष की विवक्षा नहीं है, अपितु सम्वन्ध-मात्र की ही प्रतीति विवक्षित है, इस सम्बन्धमात्र अर्थ की प्रतीति समास करने पर 'व्रतमिव भवदरिवधूस्तनद्वितयम्' इस समस्त पद द्वारा भी हो सकती है, अतः समास न करने में कवि स्वतन्त्र है जैसा कि 'रिपुस्त्रीणाम्' इस समस्त पद में रिपु से सम्बद्ध स्त्री रूप अर्थ की प्रतीति समास करने के बाद भी हो रही है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आचार्य महिम भट्ट का यह निश्चित मन्तव्य है कि—काव्यार्थ को प्रतीति विशेषणों द्वारा उत्कर्ष तथा अपकर्ष की प्रतीति के बिना नहीं होती, तथा कवि लोग इसी उत्कर्षापकर्ष के लिए हो अलंकारों का प्रयोग काव्य में किया करते हैं, एवं उत्कर्ष और अपकर्ष केवल इस पर ही निर्भर है कि कवि ने किसी पदार्थ की विधेय रूप से विवक्षा की है अथवा अनुवाद्य रूप से। कवि की यह विवक्षा (विधेय रूप से अथवा अनुवाद्य रूप से विवक्षा) समास द्वारा अर्थात् उन पदों में समास करने पर अस्त व्यस्त हो जाती है, जिसका प्रतिपादन अनेक बार किया जा चुका है। यही कारण है कि कवि सम्प्रदाय में वैदर्भी रीति की ही सर्वाधिक प्रशंसा की जाती है।[1] क्योंकि इस रीति में समास का प्रयोग लगभग नहीं होता। समास किसी अर्थ के उत्कर्ष और अपकर्ष को प्रकट करने में समर्थ नहीं है। उससे तो केवल सम्बन्ध मात्र की ही प्रतीति होती है। जैसा कि हम—किसी भी अत्यन्त समासयुक्त पद्य में देख सकते हैं।[2] सम्बन्ध सहित

---

१. (क) वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूपदानाम् ॥
—विक्रमांकदेवचरित १.५

(ख) नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्। —हर्षचरित १.१८

२. ऊर्ध्वाक्षितापगलितेन्दुसुधालवाक्तजीवत्कपालचयमुक्तमहाट्टहासम्।
सन्त्रस्तमुग्धगिरिजावलिताङ्गसङ्गहृष्टं वपुर्जयति हारि पिनाकपाणेः ॥

उपर्युक्त पद्य के चतुर्थ चरण में विद्यमान वपुःपद के विशेषणभूत आदि तीनों चरणगत पद समस्त होने के कारण वपुरूप अर्थ से सम्बन्ध मात्र की प्रतीति कराते हैं, उसके उत्कर्ष या अपकर्ष की वृद्धि में वे हेतु नहीं होते; प्रत्येक सहृदय हृदय इसका साक्षी है।

उत्कर्ष और अपकर्ष की प्रतीति तो वाक्य द्वारा ही होती है जिसके उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में हम हनुमन्नाटक के निम्नलिखित पद्य को देख सकते हैं—

> **न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः तत्राप्यसौ तापसः**
> **सोप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवायहो रावणः।**
> **धिग्धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा,**
> **स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनं वृथोच्छूनैः किमेभि र्भुजैः ।।**

यह पद्य हनुमन्नाटक का है। भगवान् रामचन्द्र द्वारा असंख्य राक्षसों का विनाश हो जाने पर अपने को धिक्कारते हुए रावण की उक्ति है कि 'प्रथम तो मेरे लिए शत्रु का होना ही अपमान की बात है (यहां 'मे' और 'अरयः' पदों में यह ध्वनि है कि मुझ अलौकिक बलशाली इन्द्रादि के विजेता का शत्रु होना ही बड़ा आश्चर्य है)। इस पर भी वह शत्रु एक नहीं अनेक है, फिर वह शत्रु चक्रवर्ती राजा आदि न होकर एक तापस है। यहां असौ और तापस पदों से यह ध्वनि निकलती है कि वह शत्रु भी मनुष्य और मनुष्यों में भी वन में भटकने वाला, स्त्री वियोग से दुखित तापस अर्थात् पुरुषार्थहीन है, जो कि हम राक्षसों का भक्ष्य है। फिर उसका यहां आ जाना, ('अत्रैव' पद में यह ध्वनि है कि मेरे समीप ही इस लंका में जो समुद्र के मध्य में मेरे द्वारा सुरक्षित है), और मुझ रावण के जीते जी राक्षस कुल का संहार करना ('जीवित पद में वाक्याक्षिप्त ध्वनि यह है कि क्या मैं जी रहा हूं ? नहीं, जीता हुआ भी मृतक तुल्य हूं और 'रावण' पद में अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि यह है कि मैं संसार को रुलाने वाला रावण, उसे यह तुच्छ तापस भयभीत कर रहा है) केवल मुझे ही नहीं इन्द्रजीत (मेघनाद)को भी धिक्कार है। तात्पर्य यह है कि इन्द्र को पराजित करके स्वयं को विश्व विजयी समझने वाले मेघनाद का गर्व करना भी व्यर्थ है) और कुम्भकर्ण के जगाने का भी कुछ फल नहीं हो रहा है, अर्थात् जिस कुम्भकर्ण को अनुपम पराक्रमी और विजय का अमोघ साधन समझकर जगाया था वह भी कुछ न कर सका। अतएव स्वर्ग जैसे छोटे गांव को विध्वंस करके जिस गर्व से मैं अपनी भुजाओं को फुला रहा हूं यह व्यर्थ ही है। यहां ध्वनि यह है कि जिन भुजाओं से मैंने कैलाश को उठा लिया था, वे भुजाएं भी हाय इस समय कुण्ठित हो रही हैं।

इस पद्य में यदि 'मे यदरयः' के स्थान पर 'मदरयः' समस्त प्रयोग किया जाये तो रावण के अतिशय तिरस्कार (निर्वेद) रूप अर्थ की प्रतीति न हो सकेगी। 'मे' शब्द के स्वतन्त्रतया अथवा प्रधानतया प्रयुक्त होने पर 'समस्त देवों को विजय प्राप्त करने वाले मुझ रावण के' इस विशिष्ट अर्थ को प्रतीति होकर पुनः 'इस अतिशय शक्तिशाली के भी शत्रु हों 'यह अत्यन्त निन्दा की बात है' इस प्रकार रावणगत आत्मावमान (निन्दा) रूप अर्थप्रकट होता है। साथ ही 'अरयः' पद में बहुवचन उस प्रतीयमान निन्दा रूप अर्थ में अतिशय की भी प्रतीति करा देता है।

इसके अतिरिक्त समास के सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि समास योजना रस प्रतीति की दृष्टि से ही हेय या उपादेय होती है, यही कारण है कि शान्त श्रृंगार करुण रस से भिन्न रसों में यह उपादेय रहा करती है। क्योंकि समास, छन्द, कैशिकी आदि वृत्तियां, काकु आदि भाषा के अंग, वास्तव में वाचिक अभिनय रूप हैं, फलतः इनसे भी रसों की प्रतीति होती है। इसके साथ ही जहां कहीं समास करना आवश्यक हो, वहां श्लोक के पूर्वार्ध अथवा उत्तरार्ध में पृथक् पृथक् समास करना चाहिए क्योंकि सम्पूर्ण श्लोक की एक साथ (गत पृष्ठ १२०) की पाद टिप्पणी में उद्धृत 'ऊर्ध्वाक्षितापगलितेन्दु' आदि श्लोक की भांति समस्त करना उचित नहीं कि तीन अथवा लगभग चारों ही चरण समस्त होकर एक पद हो जाए। ऐसी स्थिति में वह पद्य पद्य न रहकर गद्य बन जाता है, एवं गद्य में रस प्रतीति के अन्यतम साधन वृत्त का अभाव होने से रस प्रतीति में कमी हो जाती है।

किन्तु यदि कदाचित् समास करने से ही सम्बन्ध अच्छिन्न रह सकता हो एवं समास के अभाव में सम्बन्ध भंग को सम्भावना हो तो मध्य में असमास करना उचित नहीं होगा, क्योंकि उस स्थिति में रस भंग की सम्भावना हो सकती है जैसे :—

माद्यद्दिग्गजगण्डभित्तिकषणैः भग्नस्रवच्चन्दनः।

इस पद्य खण्ड में मध्य में ही समास का अभाव है किन्तु यदि इसमें समास कर :—

माद्यद्दिग्गजगण्डभित्तिकषणक्षुण्णद्रवच्चन्दनः।

इस प्रकार पाठ किया जाए तो वीररस की और भी उत्कृष्ट प्रतीति हो सकती है।

समास के प्रसंग में आचार्य महिमभट्ट की उपर्युक्त मान्यता आचार्य आनन्द वर्धन से तुलनीय है। उनके अनुसार 'यदि कवि अथवा कविनिबद्ध वक्ता रसभाव समन्वित है एवं 'रस' प्रधान भूत होने से ध्वनि रूप है, उस स्थिति में नियमतः असमासा अथवा मध्यम समासा संघटना का ही प्रयोग होना चाहिए, अर्थात् या तो सर्वथा समास का अभाव हो अथवा छोटे छोटे समास हों। यदि कहीं करुण रस अथवा विप्रलम्भ श्रृंगार का प्रसंग हो, तब तो अनिवार्यतः समास का अभाव ही होना चाहिए। आचार्य आनन्दवर्धन अपनी उपर्युक्त मान्यता के समर्थन में युक्ति देते हुए कहते हैं कि जब रस प्रधानतया प्रतिपाद्य हो तो रस प्रतीति में व्यवधान करने वाले विरोधी तत्त्वों का सर्वथा परिहार अवश्य करना चाहिए। एवं लम्बे लम्बे समासों की योजना रस प्रतीति के प्रसंग में विघ्न विधायक ही है, क्योंकि एक समस्त पद में अनेक प्रकार के समासों की सम्भावना होने से सहृदय मानस में अर्थ प्रतीति सद्यः प्रतिभासित नहीं हो पाती। अतएव रस प्रतीति के प्रसंग में समास योजना अनुचित होती है, विशेषतः अभिनय योग्य काव्य में तथा करुण और विप्रम्लभ श्रृंगार में तो अनिवार्यतः ही। क्योंकि ये दोनों ही समस्त रसों में सुकुमारतर हैं, अल्पविघ्न उपस्थित होते ही इनकी गति मन्थर हो जाती है। रौद्र आदि रसान्तर के प्रतिपाद्य होने पर छोटे छोटे समास करने में कोई हानि नहीं होगी। हां यदि नायक धीरोद्धत हो तो उस नायक के रौद्र रस विशिष्ट कथन में लम्बे समास भी किए जा सकते हैं।'[1]

---

१. यदा तु कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावसमन्वितो, रसश्च प्रधानभूतत्वाद् ध्वन्यात्मभूतः, तदापि नियमेनैव तत्रासमासा मध्यमसमासा एव संघटने। करुणविप्रलम्भश्रृङ्गारयोस्तु असमासैव संघटना। कथमितिचेत् ? उच्यते-रसो यदा प्राधान्येन प्रतिपाद्यः तदा तत्प्रतीतौ व्यवधायकाः विरोधिनश्च सर्वात्मनैव परिहार्याः। एवं च दीर्घसमासा संघटना समासानामनेकप्रकारसंभावनया कदाचित् रसप्रतीतिं व्यवदधातीति तस्यां नात्यन्तमभिनिवेशः शोभते, विशेषतोऽभिनेयार्थे काव्ये, ततोऽन्यत्र च विशेषतः करुणविप्रलम्भश्रृंगारयोः। तयोर्हि सुकुमारतरत्वात् स्वल्पायामप्यस्वच्छतायां शब्दार्थयोः

आचार्य महिमभट्ट आनन्दवर्धन की उपर्युक्त मान्यता को और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'समास करने पर भी यदि पदार्थों का सम्बन्ध कवि प्रतिभावशात् अच्छिन्न रहता है, अथवा काव्य पदार्थ भी पूर्णतः संश्लिष्ट रूप से विद्यमान है, तो ऐसी स्थिति में समास का अभाव न कर समास की योजना अवश्य ही करनी चाहिए, क्योंकि ऐसी स्थिति में समास का अभाव भी रसभंग का हेतु हो सकता है। जैसे —

'माद्यद्दिग्गजगण्डभित्तिकषणैः भिन्नस्रवत् चन्दनः ।'[1]

इस पद्य में 'भित्तिकषणैः भिन्नस्रवत्' इसी स्थल पर समास का अभाव है, जो कि सहृदय मानस में रस प्रवाह में एक बार गतिरोध उपस्थित करता है। अतएव इसमें पाठ विपर्यास कर—

माद्यद्दिग्गजगण्डभित्तिकषणक्षुण्णद्रवच्चन्दनः

इस प्रकार पाठ करना उचित होगा। किन्हीं-किन्हीं पुस्तकों में यह पाठ भेद प्राप्त भी होता है, जो पूर्णतः उचित है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'विधेय अर्थात् प्रधानतया प्रतिपाद्य का अनुवाद्य रूप से अर्थात् अप्रधानतया प्रतिपादन करना काव्यगत एक महान दोष है, जिसे विधेयाविमर्श के नाम से पुकारा जाता है।

इसी प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि प्रधानतया अभिधेय का जिस प्रकार (अप्रधानतया) अभिधान दोषपूर्ण है, उसी भांति अप्रधानतया अर्थात् गौणत्वेन अभिधेय का प्रधान रूप अभिधान करना भी दोषपूर्ण ही मानना चाहिए' यह आचार्य महिमभट्ट की मान्यता है। जैसे :—

स्नेहं समापिबति कज्जलमादधाति
सर्वान्गुणान् दहति पात्रमधः करोति ।
योऽयं कृशानुकणसञ्चयसम्भृतात्मा
दीपः प्रकाशयति तत्तमसो महत्त्वम् ।।[2]

प्रतीतिः मन्थराभवति। रसान्तरे पुनः प्रतिपाद्ये रौद्रादौ, मध्यमसमासा संघटना, कदाचित् धीरोद्धतनायकसम्बद्धव्यापाराश्रयणे दीर्घसमासापि वा, तदाक्षेपाविनाभाविरसोचितवाच्यापेक्षया न विगुणा भवतीति सापि नात्यन्तं परिहार्या। —ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत पृष्ठ २७६-२७८ चौखम्बा १९५३ संस्करण (दीधितिसहित)

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति जीवित में विधेयाविमर्श के इस प्रकार (प्रधानतया अभिधेय पदार्थ को समास में डालकर गुणीभूत बना देना विधेयाविमर्श का एक प्रकार है) को नामकरण के बिना ही स्वीकार किया है, उनका कहना है कि—

प्रकाशस्वाभाव्यं विदधति न भावास्तमसि यत्
तथा नैते ते स्युः यदि किल तथा तत्र न कथम्।
गुणाध्यासाभ्यासव्यसनदृढ़दीक्षागुरुगुणे
रविव्यापारोऽयं किमथ सदृशं तस्य महसः॥

इस पद्य के चतुर्थ चरण में प्रधानतया अभिधेय रवि के पद के अर्थ को समास में गुणीभूत कर दिया गया है, जो अनुचित है। जबकि 'रवेः व्यापारः अयम्' ऐसा पाठ किया जा सकता था।[१]

प्रस्तुत पद्य में प्रकाशन क्रिया प्रधानतया अभिधेय है, इसके अतिरिक्त अन्य क्रियाएं अप्रधानतया अभिधेय हैं, किन्तु कवि की वाक्य योजना में सभी क्रियाएं अप्रधानतया अभिहित हो रही हैं, जो उचित नहीं है। ऐसे स्थलों पर प्रकाशन क्रिया से अतिरिक्त अन्य सभी क्रियाएं शतृ प्रत्यय द्वारा कही जानी चाहिएं, उस स्थिति में पूर्व पृष्ठगत पद्य में निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास कर लेना उचित होगा—

स्नेहं पिबन्नथ च कज्जलमादधत्सन्
ज्वालन्गुणान्विमलपात्रमधश्च कुर्वन्।
यच्चायमग्निकणसञ्चयसम्भृतात्मा
दीपः प्रकाशयति तत्तमसो महत्त्वम्॥

जैसा कि—

बिभ्राणः शक्तिमाशुप्रशमितबलवत्तारकौर्जित्य गुर्वीम्
कुर्वाणो लीलयाधः शिखिनमपि लसच्चन्द्रकान्तावभासम्।
आधेयादन्धकारे रतिमतिशयिनीमावहन्वीक्षणानाम्
बालो लक्ष्मीमपारामपर इव गुहो हर्यंतेरातपो वः॥

---

१. रविव्यापारे इति रविशब्दस्य प्राधान्येनाभिमतस्य समासे गुणीभावो न किं विकल्पितः, पाठान्तरस्य 'रवे' सम्भवात्।

—वक्रोक्तिजीवित प्रथम उन्मेष कारिका ७। पृष्ठ १३ (डा० नगेन्द्र सम्पादित)

इस पद्य में देखा जा सकता है। यहां प्रधान रूप से अभिधेय आधान क्रिया है, इसका तिङ् प्रत्यय द्वारा कथन किया गया है, एवं विभरण, करण, आवहन आदि अप्रधान क्रियाओं का कृदन्त बिभ्राण कुर्वाण, आवहन आदि पदों द्वारा कथन किया गया है, जो सर्वथा उचित ही है।

यदि कदाचित् पद्य गत सभी क्रियाएं प्रधान रूप से विवक्षित हों उस स्थिति में सभी का आख्यात द्वारा ही कथन अनुचित नहीं है।

जैसा कि हम निम्नलिखित पद्य में देख सकते हैं—

सौधादुद्विजते, त्यजत्युपवनं, द्वेष्टि प्रभामैन्दवीम्
द्वारान्नश्यति चित्रकेलिसदसो, वेषं विषं मन्यते
आस्ते केवलमानिनीकिसलयप्रस्तारशय्यातले,
संकल्पोपनतत्वदाकृतिरसायत्तेन चित्तेन सा'।[1]

इस पद्य में उद्वेग, त्याग, द्वेष, नाश, वेष के प्रति घृणा आसन आदि सभी क्रियाएं प्रधानतया अभिधेय हैं, अतएव सभी का कथन आख्यात द्वारा किया गया है।

निदान क्रिया के प्राधान्य और अप्राधान्य के सम्बन्ध में हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि क्रियागत विधेयाविमर्श दोष से बचने के लिए कवि को चाहिए कि वाक्य में यदि एक क्रिया प्रधान हो तथा अन्य क्रियाएं अप्रधान हों, तो उस स्थिति में प्रधान क्रिया का कथन आख्यात द्वारा तथा शेष क्रियाओं का कथन शतृ आदि प्रत्ययों द्वारा होना चाहिए।

इसी भांति कारक शब्दों में भी विधेयाविमर्श दोष से बचने के लिए कवि को चाहिए कि अनेक पदों में से जिनका अर्थ प्रधानतया विवक्षित हो उनको सदा हो असमस्त स्थिति में ही प्रयोग करे एवं जिन पदार्थों की विवक्षा अप्रधान रूप से हो उन्हें चाहे तो समास द्वारा अथवा चाहें तो असमास द्वारा प्रयोग करें। इस सम्बन्ध में यह सोचा जा सकता है कि उपर्युक्त नियम 'प्रधानतया अभिधीयमान विशेषण का समास नहीं होता, अप्रधान रूप से अभिधेय होने पर समास होता है' का मूल क्या है? कुछ लोग कह सकते हैं इसका मूल आचार्य पाणिनीय की अष्टाध्यायी में पठित समास विषयकसूत्र 'विशेषणं

---

१. काव्यानुशासन से उद्धृत पृष्ठ २८२

विशेष्येण बहुलम्'[1] में बहुल पद है।

आचार्य महिमभट्ट की मान्यता इससे पृथक है वे कहते हैं कि समास विषयक उपर्युक्त मान्यता का आधार उक्त सूत्रगत बहुल पद न होकर 'अपवादविषयपरिहारेण उत्सर्गस्य प्रवृत्तिः'[2] यह परिभाषा है। बहुल ग्रहण द्वारा तो केवल उन विशिष्ट स्थलों में ही कार्य चलाया जा सकता है, जहां अन्य कोई भी उपाय शेष न हो। यहां अथवा ऐसे स्थलों पर तो उत्सर्ग अपवाद न्याय से ही कार्य चल जाता है, क्योंकि समास का सामान्यतः विधान तो उत्सर्ग विधि के रूप में है एवं जहां विशेषणार्थ प्रधानतया अभिधेय हों वहां पदों में समास नहीं होता' यह प्रतिषेध अपवाद विधि है, यह अपवाद ही पूर्वविहित समास का बाधक हो जाएगा, फलतः इस प्रसंग में बहुल ग्रहण की सहायता लेना उचित न होगा।

'उत्सर्ग विधि के बाधन के लिए भी अपवाद विधि समर्थ नहीं होती बहुल ग्रहण की ही अपेक्षा वहां होती है' यदि आचार्य पाणिनि को यह अभिप्रेत होता, तो कृदन्त प्रकरण में 'आतोऽनुपसर्गे कः' सूत्र का निर्माण न करते। क्योंकि इस सूत्र के उदाहरण 'गोदः' 'कम्बलदः' आदि में 'कर्मण्यण्' (३.२.१) द्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय का 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३.३.११३) में बहुल ग्रहण द्वारा बाधन होकर 'क' प्रत्यय का विधान हो सकता था, किन्तु आचार्य पाणिनि ने ऐसा न कर के अण् के बाध एवं 'क' प्रत्यय के विधान के लिए 'आतो नुपसर्गे कः' सूत्र का निर्माण किया है (इस से विदित होता है कि आचार्य पाणिनि बहुल पद की बहुव्यापकता को इस भांति मान्यता नहीं देते।

फलतः समास के प्रसंग में भी 'विशेषण के अप्राधान्य में ही समास होता है, प्राधान्य में नहीं' इस व्यवस्था को 'अपवाद विधि के विषय का परिहार कर ही उत्सर्ग विधि प्रवृत्त होती है' इस नियम के आधार पर ही व्यवस्थित मानना चाहिए बाहुल्यबल द्वारा व्यवस्थित नहीं।

आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि इस सम्बन्ध में हमारा यह

---

१. पा० अष्टा० २.१.५७

२. परित्यज्यापवादविषयं तत उत्सर्गोभिनिविशते—इति पाठभेदः।

कथन स्वतः कल्पित और आधारहीन नहीं है अपितु आचार्य पाणिनि की मान्यता पर आधारित है। आचार्य पाणिनि के उपर्युक्त व्यवस्था के लिए समास प्रकरण के आरम्भ में सर्वप्रथम प्रतिज्ञा की है कि 'पद सम्बन्धी समास रूप कार्य समर्थ से ही होते हैं,'[1] जिन लोगों ने 'समर्थ' पद की व्याख्या करते हुए 'सापेक्षता' आदि को सामर्थ्य का हेतु माना है, वे वस्तुतः आचार्य के तात्पर्य को हृदयंगम नहीं कर सके हैं।

यत् तत् पदों के अव्यवस्थित प्रयोग से विधेयाविमर्श

यत् तथा तत् शब्द के उपक्रम और उपसंहार के द्वारा भी अभिधेय अर्थ प्रधान या अप्रधान हो सकता है, और इस प्रकार ऐसे शब्द प्रयोगों के आधार पर विधेयाविमर्श दोष हो सकता है।

'यत् तदोः नित्यसम्बन्धः' इस सिद्धान्त के अनुसार यत् तथा तत् शब्द वाक्य में सदा ही उद्देश्य और प्रतिनिर्देश्य भाव की उपस्थित कराते हैं। इसमें से एक के बिना दूसरे की प्रतीति निराकांक्ष न होकर वाक्य के पूर्ण तात्पर्य बोध में बाधा उपस्थित करती है। कारण यह है कि इन दोनों (यत् तथा तत्) शब्दों में से एक द्वारा जिस अभिधेय का उपक्रम किया जाता है, द्वितीय के द्वारा उसका ही उपसंहार होता है, एवं इस प्रक्रिया से ही पूर्व वाक्यार्थ की प्रतीति होती है।

परन्तु कुछ मर्यादाएं ऐसी भी हैं कि कभी कभी एक का ही प्रयोग होने पर अन्य का अर्थतः आक्षेप होने से वाक्यार्थ प्रतीति निर्विघ्न रूप से हो जाती है।

फलतः यत् और तत् द्वारा यह उपक्रम और उपसंहार दो प्रकार का होता है शाब्द और आर्थ।

जहां यत् और तत् दोनों का प्रयोग किया गया हो वहां शाब्द उपसंहार होगा, तथा जहां केवल 'यत्' का प्रयोग हो एवं 'तत्' का आक्षेप किया जाए अथवा केवल 'तत्' का प्रयोग हो और 'यत्' का आक्षेप किया जावे, वहां आर्थ उपक्रमोपसंहार होगा।

---

१. समर्थः पदविधिः। पा० अष्टा० २-१-१
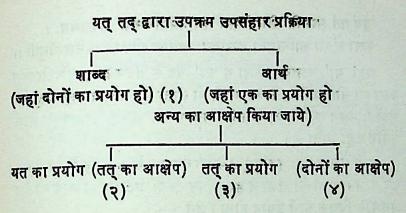
इनके स्पष्टीकरण लिए (आचार्य महिमभट्ट द्वारा उद्धृत निम्न-लिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

शाब्द :—

'यदुवाच न तन्मिथ्या, यद् ददौ न जहार तत् ।'

इस वाक्य में प्रथम 'यत्' शब्द द्वारा वचन का उपक्रम कर 'तत्' शब्द द्वारा उपसंहार किया गया है, तथा द्वितीय 'यत्' द्वारा हरण योग्य वस्तु का उपक्रम कर द्वितीय 'तत्' द्वारा उपसंहार किया गया है। अतः यह उपक्रम उपसंहार शाब्द होगा।

इसी प्रकार :—

'स दुर्मतिः श्रेयसि यस्य नादरः स पूज्यकर्मा सुहृदां शृणोति यः ।

इस पद में 'तत्' से उपक्रम तथा 'यत्' से उपसंहार किया गया है, यहां भी शाब्द उपक्रम उपसंहार विद्यमान है।

आर्थ :—

आर्थ उपक्रम उपसंहार में एक का कथन किया जाता है अन्य का अर्थतः आक्षेप होता है। इस आक्षेप के तीन आधार हो सकते हैं (१) प्रसिद्धि, (२) अनुभूति, (३) तथा प्रकरण (प्रक्रान्तवस्तुविषयता) क्रमशः इनके उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

प्रसिद्ध विषयतया उपकल्पित :—(जहां प्रसिद्धि के कारण ही अन्यतर के प्रयोग की आकांक्षा न हो ।)

'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतः त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ।।'[१]

यहां 'सा' कलावतः कला में 'सा' पद से शंकर द्वारा शिरोध्यस्त कला का बोध प्रसिद्धि के कारण ही हो जाता है। अतएव यहां 'यत्' का शब्दतः कथन नहीं किया गया है। अतएव इसे प्रसिद्धार्थ विषयक आर्थ प्रयोग कहा जाता है।

इसी प्रकार यदि पूर्वानुभूति के कारण एक के कथन होने पर अन्यतर के प्रयोग की आकांक्षा न हो अपितु स्वतः प्रतीति हो जाये तो वह अनुभूति विषक आर्थ प्रयोग होगा। जैसे :—

'तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकला तच्चेत्स्मितं का सुधा
सा दृष्टि र्यदि हारितं कुवलयैस्ताश्चेद् गिरो धिङ् मधु।
सा चेत्कान्तिरतन्त्रमेव कनकं किं वा बहु ब्रूमहे
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविमुखः सर्गक्रमो वेधसः ।।

यहां भी प्रथम तीनों चरणों में 'तत्' शब्द का प्रयोग है, यत् का किसी चरण में प्रयोग नहीं है, किन्तु अनुभूत विषय होने से उनका परामर्श तत् शब्द के द्वारा ही हो जाता है।

प्रक्रान्त विषयक के परामर्श हेतु भी यत् तत् में एक का प्रयोग होने पर अन्यतर के प्रयोग की अपेक्षा नहीं रहती, उसे भी आर्थ प्रयोग कहना होगा। जैसे :—

'कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ।।'[२]

यहां प्रक्रान्त होने के कारण अग्निवर्ण नामक राजा की स्वतः प्रतीति विद्यमान है। अतः यत् शब्द से उपक्रम की अपेक्षा नहीं रहती, तत् शब्द से ही उसका परामर्श हो जाता है।

कभी-कभी यत् और तत् में किसी एक का भी प्रयोग नहीं होता, दोनों का परामर्श अर्थ द्वारा ही होता है। जैसे :—

---

१. कुमार सम्भव ५.७१
२. रघुवंश १७.४७

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः ॥
उत्पत्स्यतेऽथ मम कोपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधि विपुला च पृथ्वी ॥[१]

यहां ग्रन्थ के अधिकारी के कथन के लिए यत् तथा तत् में किसी का भी प्रयोग किये बिना उसकी अर्थतः प्रतीति हो जाती है तथा 'वह कोई समानधर्मा उत्पन्न होगा, जिसके प्रति मेरा यह कार्य सफल होगा' इस अर्थ का परामर्श श्लोक द्वारा उपस्थापित वस्तु द्वारा ही स्वतः हो जाता है।

उपर्युक्त उदाहरण अथवा व्यवस्था तत् शब्द के प्रयोग के परामर्श की है।

इसी प्रकार यत् शब्द के द्वारा भी तत् शब्द का परामर्श कर उपक्रम का उपसंहार किया जाता है, यह दो प्रकार का है :—(१) प्रक्रान्त वस्तु विषयक होने से तत् का यद् द्वारा ही परामर्श अथवा (२) प्रक्रान्त वस्तु द्वारा कल्पित उसके कर्म आदि के आधार पर यत् द्वारा ही तत् का परामर्श। जैसे :—

'आत्मा जानाति यत्पापम्' अर्थात् जो पाप है उसे आत्मा जानती है तथा 'माता जानाति यत् पिता' अर्थात् जो पिता है उसे माता जानती है, इत्यादि स्थलों पर केवल यत् का प्रयोग किया गया है किन्तु तत् का परामर्श अर्थतः हो जाता है। यहां प्रक्रान्त वस्तु विषय ज्ञान है, उसके कर्म के कथन के लिए तत् शब्द के शाब्द प्रयोग की अपेक्षा नहीं होती, यत् शब्द सामर्थ्य से ही तत् शब्द की आर्थ प्रतीति स्वतः हो जाती है।

इसी प्रकार :—

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महोषधींश्च पृथूपदिष्टां दुदुहेधरित्रीम् ॥[२]

इस पद्य में 'सर्व शैलाः यं वत्सं परिकल्प्य' सभी पर्वतों ने जिसे वत्स बनाकर वाक्य में 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' आदि प्रथम श्लोक में

---

१. मालतीमाधव १.८
२. कुमार सम्भव १.२

प्रक्रान्त होने से हिमालय बोधक तत् शब्द का यत् द्वारा ही आर्थ परामर्श हो जाता है।

कभी-कभी एक ही (वाक्य में) एक बार यत् के द्वारा उपक्रम कर तत् द्वारा उपसंहार कर लिया जाता है तथा पुनः उसी वाक्य में तत् का दुबारा प्रयोग हो और यत् का शब्दतः कथन न कर आर्थ प्रयोग किया गया हो, तो उसे उभयात्मक कहा जा सकेगा। जैसे :—

'यत् तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः।
दीव्यताक्षैस्तदानेन नूनं तदपि हारितम्॥'[1]

अर्थात् उस राजा (भूपति) युधिष्ठर का वह प्रसिद्ध जो अत्यन्त उग्र तेज था, उस समय द्यूत क्रीड़ा में राज्य को हारते हुए वे उसे भी हार गये, इस स्थल पर यत् शब्द द्वारा उपक्रान्त का 'तदपि' गत तत् शब्द द्वारा उपसंहार किया गया है, अतः यहां शाब्द, तथा 'यत् तद्' में तत् का प्रसिद्ध तेजोनिष्ठरूप उपकल्पित यत् से अभि सम्बन्ध होने से आर्थ प्रयोग कहा जायेगा।

ऐसे स्थलों पर शाब्द और आर्थ उभय का सम्बन्ध होने पर भी तृतीय नाम नहीं दिया जाता, क्योंकि पृथक् पृथक् दर्शन से दोनों ही अंश शाब्द या आर्थ समाविष्ट हो ही जाते हैं।

महिमभट्ट के टीकाकार आचार्य रुय्यक ने यत् तत् के प्रयोग के प्रसंग में जो स्पष्टीकरण दिया है वह स्मरणीय है, उनका कहना है कि 'यत् शब्द के अव्यवहित समीग तथा समान विभक्ति में प्रयुक्त तत् शब्द का परामर्श अव्यवहित पूर्ववर्त्ती यत् शब्द के साथ नहीं होता, अपितु शब्द शक्ति के स्वभाव वश प्रसिद्ध वस्तु विषयक यत् शब्द का स्वतः परामर्श होता है, किन्तु यत् तथा तत् शब्द के बीच व्यवधान रहने पर अथवा दोनों में भिन्न विभक्ति का प्रयोग होने पर परवर्त्ती यत् शब्द के साथ ही समन्वय को प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि पूर्वोक्त यत् तदूर्जित इत्यादि में यत् के अव्यवहित उत्तरवर्त्ती तत् का सम्बन्ध यत् से नहीं होता, अपितु 'न केवलं यो महतोपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्'[2] इत्यादि कालिदासीय पद्य में

१. वेणी संहार १.१३ २. कुमारसम्भव ५.८३

भिन्न विभक्तिक तथा व्यवहित तत् शब्द (तस्मात् पद) यत् से ही सम्बद्ध होता है।

यत् तत् के द्वारा उपक्रम और उपसंहार सम्बन्धी यही नियम है। इनसे विपरीत स्थिति में उस प्रयोग को प्रशस्त न कहा जा सकेगा।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि नित्य सम्बन्ध के कारण यत् तथा तत् पदों का साथ प्रयोग आवश्यक है, किन्तु निम्नलिखित परिस्थितियों में शब्दतः प्रयोग न होने पर भी अन्यतर की आर्थ प्रतीति होने से दोष नहीं होता।

१. यत् शब्द का प्रयोग होने पर तत् शब्द के अर्थ को प्रक्रान्त विषय होने के कारण उपकल्पित किया जा सके। (अथवा)

२. यत् शब्द का प्रयोग होने पर तत् शब्द के अर्थ को प्रसिद्धि के आधार पर उपकल्पित किया जा सके। (अथवा)

३. यत् शब्द का प्रयोग होने पर तत् शब्द के अर्थ को पूर्वानुभूति के आधार पर उपकल्पित किया जा सके। (अथवा)

४. तत् शब्द के द्वारा उपक्रम होने पर प्रक्रान्त विषय होने से उपकल्पित यत् शब्दार्थ द्वारा उपसंहार किया जा सके। (अथवा)

५. तत् शब्द के द्वारा उपक्रम होने पर प्रसिद्धि के आधार पर उपकल्पित 'यत्' शब्दार्थ द्वारा उपसंहार किया जा सके। (अथवा)

६. तत् शब्द के द्वारा उपक्रम होने पर पूर्वानुभूति के आधार पर उपकल्पित 'यत्' शब्दार्थ द्वारा उपसंहार किया जा सके।

साथ ही यह भी स्मरणीय है कि यत् अथवा तत् दोनों के प्रयुक्त होने पर परवर्त्ती यत् अथवा तत् पूर्ववर्त्ती अन्यतर का परामर्शक होता है, किन्तु निम्नलिखित स्थलों में यत् या तत् अपने पूर्ववर्त्ती अन्यतर के परामर्शक नहीं होते :—

१. यत् शब्द के अव्यवहित पर में तत् शब्द का किसी भी विभक्ति में प्रयोग किया गया हो।

२. यत् शब्द से व्यवहित पर में प्रयोग होने पर भी समान विभक्ति में तत् शब्द का प्रयोग किया गया हो।

३. तत् शब्द के अव्यवहित पर में यत् शब्द का किसी भी विभक्ति में प्रयोग किया गया हो।

४. तत् शब्द से व्यवहित पर में प्रयोग होने पर भी समान विभक्ति

में यत् शब्द का प्रयोग किया गया हो।

उपर्युक्त परिस्थितियों में पर में प्रयुक्त यत् शब्द से अन्यतर के परामर्श के लिए पूर्वोक्त प्रकार से उनकी उपकल्पना की जाती है। उपकल्पना की स्थिति न होने पर वैसे प्रयोगों को सदोष माना जाता है।

यत् अथवा तत् द्वारा उपक्रम होने पर कभी-कभी 'अदस्', 'एतत्' अथवा 'इदम्' शब्द द्वारा उपसंहार किया जा सकता है, किन्तु उस स्थिति में अदस्, एतत् अथवा इदम् आदि यत् अथवा तत् से उपक्रान्त के उपसंहारक नहीं होते; जबकि यत् अथवा तत् के अव्यवहित पर में इनका प्रयोग हो, साथ ही वह प्रयोग समानाधिकरण अर्थात् एक विभक्ति में ही किया गया हो। इन समस्त परिस्थितियों के उदाहरण पहले स्पष्ट किये जा चुके हैं।

इस प्रकार हम देख चुके हैं कि यत् और तत् के उपक्रम उपसंहार के निर्दोष आठ भेद हैं :—

१. यत् शब्द द्वारा उपक्रम तथा तत् शब्द द्वारा उपसंहार।

२. तत् शब्द द्वारा उपक्रम तथा यत् शब्द द्वारा उपसंहार।

३. यत् शब्द द्वारा उपक्रम, प्रक्रान्त विषयत्वेन उपकल्पित तत् शब्द द्वारा उपसंहार।

४. यत् शब्द द्वारा उपक्रम, प्रसिद्ध वस्तुविषयत्वेन उपकल्पित तत् शब्द द्वारा उपसंहार।

५. यत् शब्द द्वारा उपक्रम, पूर्वानुभूति विषयत्वेन उपकल्पित तत् शब्द द्वारा उपसंहार।

६. तत् शब्द द्वारा उपक्रम, प्रक्रान्त वस्तु विषयत्वेन उपकल्पित यत् शब्द द्वारा उपसंहार।

७. तत् शब्द द्वारा उपक्रम, प्रसिद्ध वस्तु विषयत्वेन उपकल्पित यत् शब्द द्वारा उपसंहार।

८. तत् शब्द द्वारा उपक्रम, पूर्वानुभूति वस्तु विषयत्वेन उपकल्पित यत् शब्द द्वारा उपसंहार।

उपर्युक्त आठ भेदों का सांकर्य होने पर अन्य अनेक प्रकार के उदाहरण मिल सकते हैं, किन्तु सर्वत्र प्रक्रिया पूर्ववत् ही होने से उनकी पृथक् गणना आवश्यक नहीं मानी जाती।

आचार्य रुय्यक ने ऐसे भेदों को पुष्ट भेद कहा है।
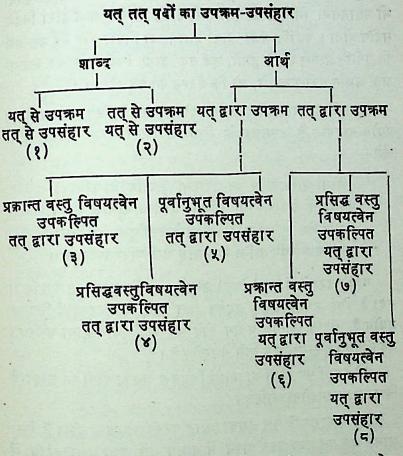
आचार्य रुय्यक ने व्यक्ति विवेक व्याख्यान में इस सम्बन्ध सदोष स्थितयों का संकलन करते हुए लिखा है कि :

जहां यत् और तत् के अव्यवहित पर में साथ ही समान विभक्ति में यत् अथवा तत् के स्थान पर इदम् अदस् आदि का प्रयोग किया जाए तो वह सदोष प्रयोग होगा, क्योंकि वहां इदम् आदि शब्द तत् यत् के समानार्थक नहीं होते। अपितु निकट में प्रयुक्त होने पर प्रसिद्धि मात्र के बोधक होते हैं।

व्यवधान अथवा असमान विभक्ति में प्रयोग होने पर यह प्रयोग सदोष न होगा।

२. किसी वाक्य में संज्ञा पद द्वारा कर्ता अथवा अन्य कारक द्वारा भी प्रधानतया निर्दिष्ट का पुनः उसी वाक्य में तत् शब्द द्वारा निर्देश सदोष होगा। क्योंकि संज्ञा द्वारा प्रधानतया निर्देश होने पर उस अर्थ की प्रतीति प्रत्यक्ष रूप से होगी, एवं तद् द्वारा निर्देश होने पर अप्रत्यक्षत: अर्थात् परोक्ष रूप से, जो कि वैरस्य का हेतु होगा।

३. यत् अथवा तत् में एक का प्रयोग पदार्थ के लिए तथा अन्य का प्रयोग वाक्यार्थ के उपसंग्रह के लिए भी किया जाना सदोष होगा जैसे—

"हेम्नां भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण यदर्पितानि गुणिने बाणाय कुत्राद्य तत्।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिविरसैरुट्टङ्किताः कीर्तयः
तत्कल्पप्रलयेपि यान्ति न मनाङ् मन्ये परिम्लानताम्॥

यहां उतरार्ध में 'याः' (यत्) शब्द का प्रयोग पदार्थगतत्वेन किया गया है तथा उपसंहार हेतु प्रयुक्त 'तत्' पद का वाक्यार्थ विषयक प्रयोग है, पदार्थ विषयक प्रयोग होने पर 'ताः' प्रयोग होना चाहिए। यह विर्पयय वैरस्याजनक होने से सदोष है।

ऐसे स्थलों पर दोनों का पदार्थ विषयक अथवा दोनों का वाक्यार्थ विषयक प्रयोग होना चाहिए।

इसी प्रकार यदि गुण अथवा प्रधान परस्पर सम्बन्ध योग्य हैं, ऐसा मानते हुए यत् शब्द युक्त वाक्य में अथवा तत् शब्द युक्त वाक्य में परामृश्यका एकत्र निर्देश दिया गया हो तथा यत् और तत् परस्पर नित्य सम्वद्ध हैं इस आधार पर अन्य वाक्य में क्रमशः तत् अथवा यत् शब्द द्वारा उनका परामर्श किया जाता है, तब तो वह प्रयोग उचित है, किन्तु इसके विपरीत यत् शब्द का वाक्य में निर्देश होने पर अन्य यत् शब्द द्वारा ही उसका परामर्श करना सदोष है। इसी प्रकार तत् शब्द द्वारा निर्दिष्ट का तत् शब्द द्वारा परामर्श भी सदोष ही होगा। क्योंकि गुण और गुण का तथा प्रधान और प्रधान का परस्पर परामर्श नहीं होता। ऐसा होने पर दोनों ही स्थिति में वह सदोष प्रयोग होगा। जैसे—

येषां ताः त्रिदशेभदानसरितः पीताः प्रतापोष्मभिः
लीलापानभुवश्च नन्दनतरुच्छायासु यैः कल्पिताः ।
येषां हुंकृतयः कृतामरपुरक्षोभाः क्षपाचारिणाम्
किं तैस्त्वत्परितोषकारि विहितं किञ्चित्प्रवादोचितम् ।

इस पद्य में यत् शब्द (येषां पद) द्वारा क्षपाचारी (क्षपाचारिणां) का प्रथम उपक्रम किया गया है तथा पुनः इतर वाक्य में यत् शब्द (येषां) द्वारा ही उसका परामर्श किया गया है। यह प्रयोग सदोष है।

इसी पद्य में यदि क्षपाचारी शब्द में षष्ठी बहुवचन के स्थान पर तृतीया बहुवचन कर दिया जाए, तो द्वितीय यत् शब्द वाक्य में क्षपाचारी का परामर्शक न होकर उपक्रामक ही होगा, तथा तृतीयान्त क्षपाचारी शब्द चतुर्थ चरणस्थित तृतीया बहुवचानान्त तत् शब्द से सम्बद्ध होगा एवं वह तत् शब्द ही पूर्वप्रक्रान्त का परामर्शक होगा ऐसी स्थिति में (यत् शब्द द्वारा प्रकान्तका) तत् शब्द द्वारा परामर्श होने पर उक्त दोष नहीं रह सकता।

यदि तत् शब्द युक्त वाक्य द्वारा निर्दिष्ट का तत् शब्द द्वारा परामर्श किया जाए तो वह प्रयोग सदोष न होगा। जैसे—

पुण्ड्रेक्षोः परिपाकपाण्डुनिबिडे यो मध्यमे पर्वणि
ख्यातः किं च रसः कषायमधुरो यो राजजम्बूफले
तस्यास्वाददशाविलुण्ठनपटुर्येषां वचो विभ्रमः
सर्वत्रैव जयन्ति चित्रमतयः ते भर्तृमेण्ठादयः ॥

इस पद्य में प्रथम तथा द्वितीय यत् शब्द द्वारा रस प्रकान्त है। तृतीय चरण में स्थित तत् शब्द द्वारा इसका परामर्श किया गया है, इसी प्रकार तृतीय चरण में स्थित यत् शब्द द्वारा प्रक्रान्त का जयन्ति क्रिया के कर्ता के रूप में स्थित तत् शब्द द्वारा परामर्श सर्वथा उचित है।

उपर्युक्त पद्य में ही प्रथम चरणस्थ यत् शब्द द्वारा निर्दिष्ट का द्वितीय चरणस्थ यत् शब्द द्वारा परामर्श उचित नहीं है, क्योंकि दोनों का परस्पर सम्बन्ध सम्भव नहीं है। इसी प्रकार :—

नमोस्तु ताभ्यो भुवने जयन्ति ताः सुधामुचस्ताश्च कवीन्द्रसूक्तयः ।
भवैकविच्छेदिकथाशरीरतामुपैति यासां चरितं पिनाकिनः ॥

इस पद्य में कवीन्द्र सूक्तियों का प्रथम तत् शब्द युक्त वाक्य द्वारा

निर्देश करके पुनः तत् शब्द द्वारा ही परामर्श किया गया है। यह प्रयोग सदोष है।

क्योंकि यत् एवं तत् शब्द स्वतः वाक्यभेद जनक हैं, अतः एक वाक्य में ही केवल 'यत्' का अथवा केवल 'तत्' का प्रयोग करना दोषपूर्ण है। जैसे—

अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टैः
अत्यद्भुतैरपहृतस्य तथापि नास्था।
कोऽप्येष वीर शिशुकाकृतिरप्रमेयो-
माहात्म्यसारसमुदायमयः पदार्थः॥

इस पद्य में केवल तत् शब्द (तथापि) का निर्देश किया गया है यत् का स्वतः समुत्थापन भी नहीं हो रहा है, अतः यह प्रयोग सदोष है। यदि इसमें 'यथापि' का प्रयोग अथवा स्वतः आक्षेप हो सकता, तो दोष न रहता, वर्तमान स्थिति में समस्त अर्थ का एक वाक्य में सम्बन्ध करना सहृदय हृदय में वैरस्यापादक होने से उचित नहीं है।

एक वाक्य में भी गुणक्रियादिगत कल्पित भेद मानकर यदि प्रक्रान्त वस्तु विषय परामर्श हेतु तत् शब्द का प्रयोग किया जा रहा हो तो प्रधान क्रिया के साथ ही प्रधान परामृश्य का प्रयोग आवश्यक होता है तथा गुणक्रियादि के विषय में परामृश्य का तत् शब्द द्वारा परामर्श होना चाहिए। यदि इसके विपरीत गुणक्रियादि के विषय में प्रधान परामृश्य का प्रयोग शब्दतः हो तथा प्रधान क्रिया के साथ तत् शब्द द्वारा उसका परामर्श किया जाए तो यह प्रयोग सदोष होगा। जैसाकि कालिदास के निम्नलिखित पद्य में देख सकते हैं :—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥[1]

प्रस्तुत पद्य में 'प्रजाओं के ऐश्वर्य के लिए' (प्रजानामेव भूत्यर्थं) यह गौण खण्ड है। 'वह उनसे (प्रजाओं से) कर लिया करता था' (स ताभ्यो-बलिमग्रहीत्) यह प्रधान खण्ड है, इस प्रधान खण्ड में प्रधानतया परामर्श योग्य 'प्रजा' का तत् शब्द द्वारा परामर्श किया गया है तथा गौण

---

१. रघुवंश ११९

वाक्यांश में प्रधान (प्रजा) पद द्वारा, यह प्रयोग सदोष है। इस दोष के निराकरण हेतु प्रधान खण्ड, वह प्रजाओं से कर लिया करता था), में 'प्रजा' शब्द का प्रयोग कर दिया जाए तथा गौण वाक्यांश में तत् शब्द द्वारा परामर्श किया जाए तो यह दोष न रहेगा। उस स्थिति में पद्य निम्नलिखित होगा—बलिं प्रजाभ्यो जग्राह स तासामेव भूतये।

'यत्' 'तत्' के प्रयोग प्रसंग में सातवां दोष प्रकार तब हो सकता है, जब एक परामृश्य के सम्बन्ध में ही यत् तथा तत् का प्रयोग करते हुए यत् अथवा तत् में एक का द्रव्य बोधक के रूप में तथा अन्य का काल आदि के बोधक के रूप में प्रयोग किया जाए। जैसे—

त्वमेवं सौन्दर्या: स च रुचिरतायाः परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः ।।
अपि द्वंद्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे स वदति वाम्
अतः शेषं यत् स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया ।।

इस पद्य के चतुर्थ चरण में यत् द्वारा उपक्रम्यमाण का तत् शब्द द्वारा परामर्श किया गया है, किन्तु यहां 'यत्' द्रव्य बोधक के रूप में प्रयुक्त है, तथा तद् (तदानीम्) काल बोधक के रूप में, अतः यह प्रयोग सदोष है। यदि यहां यत् पद के स्थान पर 'यदि' का समानार्थक 'चेत्' पद प्रयुक्त किया जाए तो यह दोष नहीं रह जाता। उस स्थिति में पाठ निम्नलिखित होगा—

अतः शेषं चेत्स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया।

यत् तत् के प्रयोग के प्रसंग में आठवां दोष प्रकार है—

प्रक्रम्यमाण के लिए तत् का प्रयोग करना, क्योंकि तत् का प्रयोग 'प्रकान्त' के लिए किया जाता है प्रक्रम्यमाण के लिए नहीं, जैसाकि निम्नलिखित पद्य में किया गया है :—

ये संतोषसुखं प्रबुद्धमनसस्तेषां न भिन्नो मनः।
येऽप्येते धनलोभसङ्कुलधियस्तेषां तु दूरे नृणाम्
इत्थं कस्य कृते कृतं स विधिना तावत्पदं सम्पदाम्
स्वात्मन्येव समाप्तहेममहिमा मेरु र्न मे रोचते।।

यहां 'मेरु' प्रक्रम्यमाण है, प्रकान्त नहीं; किन्तु फिर भी मेरु शब्द के

प्रयोग से पूर्व ही तृतीय चरण में तत् शब्द द्वारा उसका परामर्श किया गया है; अतः यह प्रयोग सदोष है। इस दोष के निराकरण हेतु यहां इस प्रकार पाठ विपर्यास करना उचित होगा :—

स्वात्मन्येव समाप्तहेममहिमा मेरु र्न मे रोचते,
यो यं कस्य कृते कृतः सविधिना तादृक् पदं सम्पदाम् ।

कभी-कभी वीप्सा के साथ (दो बार प्रयोग करते हुए) यत् अथवा तत् द्वारा उपक्रम किया जाता है, किन्तु उपसंहार वीप्सा के बिना ही (केवल एक बार ही प्रयोग करते हुए) किया जाता है, ऐसे स्थलों को सदोष नहीं कह सकते। क्योंकि ये प्रयोग वैरस्यजनक नहीं है, किन्तु इन स्थलों में चारुत्व का अभाव-दृष्टिगत होता है, अतः इसे उचित प्रयोग न कहकर अपुष्ट प्रयोग कहा जाएगा। जैसे—

कल्याणानां त्वमसि महसामीशिषे त्वं विधत्से।
पुण्यां लक्ष्मीमिह मयि चिरं धेहि देव ! प्रसीद
यद्यत्पाप प्रतिजहि जगन्नाथ! नम्रस्य तन्मे,
भद्रं भद्रं वितरं भगवन्, भूयसे मङ्गलाय ॥[1]

इस पद्य में वीप्सा सहित अर्थात् दो बार प्रयोग करते हुए यत् शब्द द्वारा पाप का उपक्रम किया है, किन्तु तत् शब्द द्वारा उपसंहार करते हुए वीप्सा का अभाव है। इसी प्रकार—

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः
सोढो दुस्सहशीतवाततपनक्लेशो न तप्तं तपः।
ध्यातं नित्यमहर्निशं नियमितप्राणै र्न शम्भोः पदम्
तत्तत्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चिताः ॥

इस पद्य में वीप्सायुक्त (दो बार प्रयोग करते हुए) तत् शब्द द्वारा कर्म का उपक्रम करके वीप्सा बिना ही (केवल एक बार प्रयोग कर) यत् शब्द द्वारा उपसंहार किया गया है। ऐसे स्थलों को अपुष्ट प्रयोग कहा जाता है।

यद्यपि ऐसे स्थल सदोष नहीं कहे जाते, तथापि इन्हें उचित (आदर्श) प्रयोग भी नहीं कहा जा सकता।

---

१. मालतीमाधव

तात्पर्य यह है कि 'यदि वीप्सा सहित यत् अथवा तत् द्वारा उपक्रम किया जाता है तो उस उपक्रान्त का वीप्सा सहित तत् अथवा यत् के प्रयोग से ही उपसंहार भी होना चाहिए। जैसाकि हम निम्नलिखित पद्य में देखते हैं—

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनाम्
यो: यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥[1]

इसी भांति वीप्सायुक्त यत् अथवा तत् द्वारा अनेक विषयों का उपक्रम करना तथा उनका उसी भांति वीप्सा सहित तत् अथवा यत् द्वारा उपसंहार करना भी उचित और पुष्ट प्रयोग कहा जाएगा। जैसे--

यो यो यं यमवाप्नुयादवयवोद्देशं स्पृशन्पाणिना
तत्तन्मात्रकमेव यत्र स स ते रूपं परं मन्यते
तज्जात्यन्धपुरं ह हा करिपते ! नीतोऽसि दुर्वेधसाः
को नामात्र भवेद् बताखिलभवन्माहात्म्यवेदी जनः ॥[2]

पुष्ट प्रयोग के रूप में रुय्यक द्वारा उदाहृत इस पद्य में यत् शब्द का प्रयोग असमस्त रूप से किया गया है, अतः यहां यत् शब्द का अर्थ प्रधानतया अभिधेय हो रहा है, किन्तु तत् शब्द द्वारा उपसंहार के प्रसंग में वही तत् पद मात्र शब्द के साथ समस्त होने से गौण हो जाता है। इस प्रकार यहां प्रधानतया विवक्षित का अप्रधानतया प्रयोग करने से विधेयाविमर्श दोष की शंका हो सकती है।

किन्तु यह शंका उचित नहीं हैं, क्योंकि जैसा हम आचार्य पाणिनि के 'प्रतिपादिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' (अष्टाध्यायी) सूत्र में देखते हैं अवधारणार्थक मात्र पद के साथ समास होने पर भी मात्र पद की प्रधानता नहीं होती। क्योंकि वह अवधार्य माण के आधीन ही है इसी प्रकार यहां भी अवधार्यमाण तत् शब्द ही प्रधानतया अभिधेय होता है एवं मात्र पद उसका परतन्त्र होकर ही अर्थ का अभिधान

१. वेणीसंहार ३.३२

करता है, अतः उसकी प्रधानता अक्षुण्ण ही बनी रहती है। फलतः विधेयाविमर्श दोष की शंका निर्मूल है। ऐसे स्थलों पर समास विधान के लिए ही आचार्य पाणिनि ने 'सुप्सुपा' सूत्र द्वारा व्यवस्था दी है जैसाकि हम निम्नलिखित पद्य में देख सकते हैं।

'निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं सन्धुक्षयन्ती वपुर्गुणेन।
अनुप्रयाता वनदेवताभ्यामदृश्यत स्थावरराजकन्या॥'[1]

यहां निर्वाण 'भूयिष्ठं' समस्त पद है जहां पूर्व पदार्थ की ही प्रधानता है, पूर्व पदार्थ की प्रधानता से ही (भूयिष्ठं निर्वाणं निर्वाणभूयिष्ठम्) यह समस्त पद वीर्यपद का विशेषण हो पाता है।

इस स्थल पर पुनः शंका होती है कि पूर्वोक्त उदाहरण की भांति यहां पर (तत्तन्मात्रकम् में) तत् के अर्थ की प्रधानता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि यहां 'मात्र' पद अवधारणार्थक प्रतीत नहीं होता। यदि मात्र पद अवधारणार्थक होता, तो पुनः अवधारणार्थक 'क' प्रत्यय का प्रयोग न हुआ होता। यदि 'क' प्रत्यय को भी किसी प्रकार भिन्नार्थक मानकर काम चलाना भी चाहें, तो द्वितीय अवधारणार्थक एव पद का प्रयोग बाधक होता है। तात्पर्य यह है कि अवधारणार्थक 'क' प्रत्यय तथा 'एव' पद के प्रयोग से पता चलता है कि यहां मात्र पद अवधारणार्थक नहीं है, जिसके आधार पर अवधार्यमाण तत् पद के अर्थ की प्रधानता मानी जा सके। फलतः तत् पद का अर्थ अप्रधान ही रहेगा, जबकि उसका प्रधानतया प्रयोग होना चाहिए। निदान प्रधानतया विमर्श्य का अप्रधानतया विमर्श होने से यहां विधेयाविमर्श दोष अनिवार्य है।

उपर्युक्त शंका के समाधान हेतु हमें स्मरण रखना चाहिए कि यहां (मात्रक पद में) 'क' प्रत्यय अवधारणार्थक न होकर कुत्सार्थक है, अतः वह 'मात्र' पद के अवधारणार्थक होने में कथमपि बाधक नहीं है। हां 'एव' अव्यय अवश्य ही अवधारणार्थक है, किन्तु केवल 'एव' पद का प्रयोग होने से वह पिण्डित अर्थ प्रतीत नहीं होता, जो 'मात्र' और 'एव' दोनों के प्रयोग से प्रतीत होता है, अपितु कुछ अव्यवस्थित से अर्थ की प्रतीति होने लगती है, अतः पूर्ण व्यस्थित पिण्डित अर्थ की प्रतीति

---

१. कुमार सम्भव ३.५२

के लिए अवधारणार्थक 'मात्र' एवं 'एव' दोनों ही पदों का प्रयोग आवश्यक है। जैसाकि हम निम्नलिखित पद में देखते हैं—

"बाला केवलमेव रोदति गलल्लोलाकैरश्रुभिः"

यहां पूर्ण पिण्डितार्थ की प्रतीति हेतु 'केवल' तथा 'एव' इन दो अवधारणवाची पदों का प्रयोग किया गया है।

इसी भांति 'तत्तन्मात्रकमेव' में भी 'मात्र' तथा 'एव' दो अवधारण-वाची पदों का प्रयोग पिण्डित अर्थ प्रतीति के प्रयोजन से ही है, फलतः अवधार्यमाण और अवधारणवाची पदों के होने पर भी अवधार्यमाण की ही प्रधानता रहेगी, क्योंकि अवधारणवाची पद अवधार्यमाण के अवधारणार्थ ही प्रयुक्त हुआ है, इस प्रकार अवधार्यमाण तत्पद की प्रधानता में व्याघात न होने से विधेयाविमर्श दोष नहीं हो सकता।

इस पद्य में वीप्सा रहित यत् (यत्र) शब्द द्वारा उपक्रान्तका वीप्सा रहित तत् (तज्जात्यन्धपुरं) पद द्वारा उपसंहार भी यथोचित ही है।

जहां पूर्व वाक्य में यत् शब्द का निर्देश किया जाए किन्तु उत्तर वाक्य में तत् शब्द का निर्देश न हो, वहां भी सांकाक्षता बनी रहती है, अतः उसे सदोष प्रयोग कहा जाएगा। जैसे—

मीलितं यदभिरामताधिके साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतम्।

यहां प्रथम वाक्य में यत् शब्द का प्रयोग हुआ हुआ है, किन्तु उत्तर वाक्य में उपसंहार हेतु तत् शब्द का प्रयोग नहीं है; फलतः साकांक्षता होने से इसे सदोष प्रयोग कहा जाएगा। इसी पद्य में यदि चरण विपर्यय कर दिया जाए तो यह दोष नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में पद्य का स्वरूप निम्नलिखित होगा—

साधुचन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके।

यहां यह शंका हो सकती है इस पाठ विपर्यास के अनन्तर भी दोष तो रहना ही चाहिए, क्योंकि यत् और तत् परस्पर नित्य साक्षेप है, अतः पाठ विपर्यास करने पर भी तत् शब्द के प्रयोग के अभाव में साकांक्षता बनी ही रहेगी।

किन्तु गम्भीरता से विचार करने पर इस शंका का निरास स्वतः हो जाता है, क्योंकि प्रथम वाक्य में प्रतिपाद्य का सामान्यतः प्रति-

पादन किया गया है, उसके द्वारा ही उपक्रम हो जाने पर तद् द्वारा प्रक्रम की अपेक्षा नहीं रहती, अपितु सामान्य प्रतिपादन के अनन्तर यत् द्वारा विशेषोत्थापन होने से वाक्यार्थ में पुष्टता ही प्राप्त होती है।

यत् और तत् शब्द यद्यपि समान रूप से पूर्व परामर्शक हैं, किन्तु यत् शब्द स्वभावतः प्रत्यक्षायमाण अर्थ का बोधक होने से पूर्व वाक्यार्थ से अश्लिष्ट वस्तु का ही परामर्शक होता है, जबकि तत् शब्द परोक्षायमाण अर्थ का बोधक है। फलतः तत् शब्द द्वारा वस्तु का परामर्श नहीं होता, अपितु उनमें दूरभाव (दूरस्थता) की प्रतीति होती रहती है। आश्लेषभाव (नैकट्य) की प्रतीति से प्रकृत अर्थ में प्रकर्ष उत्पन्न होता है एवं वाक्यार्थ में भी चारुत्व आ जाता है। अतएव ऐसी स्थिति में जहां 'यत्' का प्रयोग होना चाहिए, वहां यदि 'तत्' शब्द का प्रयोग कर दिया जाए, तो उस प्रयोग को चारुत्व जनक न होने के कारण अपुष्ट प्रयोग कहा जाएगा। जैसे—

तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरानतरेखयो र्या।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥[1]

इस पद्य में यत् शब्द सहित 'भ्रूकान्ति' का प्रक्रम प्रथम द्वितीय चरण में किया गया है, उस प्रकान्त वस्तु के परामर्श के लिए तृतीय चरण में तत् शब्द (तां पद) प्रयुक्त हुआ है, किन्तु उससे परोक्षायमाण अर्थ की प्रतीति हो रही है, अतः विशिष्ट चारुत्व की प्रतीति नहीं होती। यदि यहां 'यत्' शब्द (या पद) के स्थान पर तत् शब्द (सा पद) तथा तत् शब्द (ताम् पद) के स्थान पर यत् शब्द (याम् पद) कर दिया जाए तो यत् द्वारा प्रत्याक्षायमाण प्रक्रान्त अर्थ की प्रतीति होती है, फलतः वाक्यार्थ में विशिष्ट चारुत्व आ जाएगा। उस स्थिति में पद्य का स्वरूप निम्नलिखित होगा—

तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरानतरेखयोः सा।
यां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥

इसी प्रकार—

दृष्टिर्नामृतवर्षिणी स्मितमधुप्रस्यन्दि वक्त्रं न किम्
नार्द्रार्द्रं हृदयं न चन्दनरसस्पर्शानि वाङ्गानि च।

---

१. कुमार सम्भव १.४७

कस्मिन् लब्धपदेन ते कृतमिदं क्रूरेण दग्धाग्निना
नूनं वज्रमयोऽन्य एव दहनस्तस्येदमाचेष्टितम् ॥

इस पद्य में सामान्यतः निर्दिष्ट का क्रिया द्वारा वैशिष्ट बताने के लिए तत् शब्द (तस्य पद) द्वारा परामर्श किया गया है। किन्तु यहां भी उपर्युक्त पद्य की भांति ही परोक्षायमाण अर्थ का होता है, जो चमत्कार में न्यूनता लाता है। यदि यहीं तत् शब्द के प्रयोग के स्थान पर यत् शब्द (यस्य पद) कर दिया जाए तो प्रत्यक्षायमाण अर्थ का परामर्श होने से वाक्यार्थ में एक विशिष्ट चारुत्व आ सकता है। उस स्थिति में में पाठ निम्नलिखित होगा—

नूनं वज्रमयोऽन्य एव दहनः यस्येदमाचेष्टितम्।

इसी प्रकार—

आचार्यो मे स खलु भगवानस्मदग्राह्यनामा
तस्मादेषा धनुरुपनिषत्तत्प्रसादात्क्षमोऽपि।
अध्यासीनः कथमहमहो वर्त्मवैखानसानां
सीतापाणिग्रहणपणितं चापमारोपयामि ॥

इस पद्य में द्वितीय चरणगत तत् शब्द (तस्मात् पद) के स्थान पर यत् शब्द (यस्मात् पद) का प्रयोग होने पर विशिष्ट चमत्कार की प्रतीति हो सकती है।

इसी प्रकार पृष्ठ १३६ में उद्धृत—

हेम्ना भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनाम्
श्रीहर्षेण यदर्पितानि गुणिने बाणाय कुत्राय तत्
याः बाणेन तु तस्य सूक्ति विरसैरुट्टंकिताः कीर्त्तयः
ताः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ्मन्ये परिम्लानताम्।

पद्य में 'यत्' और तत् का विपर्यास करके—

ताः बाणेन तु तस्य सूक्ति विरसैरुट्टङ्किताः कीर्त्तयः
याः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ् मन्ये परिम्लानताम्।

पाठ करने पर विशिष्ट चारुत्व की सृष्टि हो सकती है।

परामृश्य का कथन किए बिना ही यत् शब्द द्वारा वाक्यार्थ का उपक्रम कर तत् शब्द द्वारा परामर्श करते हुए परामृश्य का निर्देश करना चारुत्वाधायक नहीं होता, क्योंकि पूर्ववाक्यार्थ प्रतीति परामृश्य के स्पर्श से सर्वथा पृथक रहते हुए ही होती है, फलतः ऐसे प्रयोग को पुष्ट प्रयोग नहीं कहा जा सकता। जैसे—

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवावमानेन देहिनस्तद्वरं रजः ॥

इस पद्य में परामृश्य 'रज' का कथन यद् विशिष्ट पूर्व वाक्य में नहीं किया गया है, फलतः प्रथम वाक्यार्थ परामृश्य का स्पर्श न करते हुए ही प्रतीत होता है, अतएव चारुत्व प्रतीति नहीं होती।

इसी पद्य में यदि पाठ विपर्यास कर तृतोय और चतुर्थ चरण को पहले एवं प्रथम द्वितीय चरण को तत्पश्चात् रख दिया जाए तो यह अपुष्टत्व सर्वथा परिहृत हो जाता है। उस स्थिति में पद्य निम्नलिखित रूप से होगा।

'स्वस्थादेवावमानेन देहिनस्तद्वरं रजः।
पादाहतं यदुत्थाय मूर्द्धानमधिरोहति ॥

पूर्व वाक्य में परामृश्य का निर्देश होने पर उत्तर वाक्य में पुनः उसी का परामर्श सर्वनाम द्वारा होना चाहिए, संज्ञा द्वारा नहीं, अथवा संज्ञा सहित सर्वनाम द्वारा नहीं, ऐसा होने पर वह प्रयोग सदोष होगा। आचार्य रुय्यक इसे भी विधेयाविमर्श दोष मानते हैं, किन्तु आचार्य महिमभट्ट ने उसको पुनरुक्त दोष माना है। जैसे :—

'उदन्वच्छिन्ना भूः स च निधिरपां योजनशतम्
सदा पान्थः पूषा गगनपरिमाणं कलयति।
इति प्रायोभावः स्फुटदवधिमुद्रामुकुलितः
सतां प्रज्ञोन्मेषः पुनरयमसीमो विजयते ॥

प्रस्तुत पद्य में 'उदन्वत्' शब्द द्वारा समुद्र रूप का कथन करने के उपरान्त पुनः उसका परामर्श सर्वनाम द्वारा ही होना चाहिए, किन्तु कवि द्वारा उसका 'तत्' शब्द (सर्वनाम) के साथ ही अपांनिधि.' शब्द द्वारा कथन किया गया है। यह सदोष प्रयोग है।

आचार्य रुय्यक के उपर्युक्त सिद्धान्त से सहमत होते हुए भी प्रस्तुत उदाहरण के सम्बन्ध में सहृदय पाठक का मत सर्वथा विपरीत हो सकता है। क्योंकि 'अपांनिधि' इस पद समूह द्वारा (जो कि इस विशिष्ट प्रतीति के लिए ही असमस्त रूप से प्रयुक्त हुआ है।) समुद्र की विशालता एवं महिमा की अभिव्यक्ति हो रही है, जो कि सर्वनाम द्वारा अथवा पूर्व प्रयुक्त संज्ञा द्वारा सम्भव नहीं है। फलतः इस पद्य को दुष्ट पद्य के रूप में उदाहरण कहना उचित नहीं है। अपितु इसके स्थान पर कालिदास कृत :—

'स्रोतो मूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम्।'[1]

पद्य में चर्मण्वती नदी का उपक्रम होने के अनन्तर पुनः—

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात् प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टीः
एकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्॥[2]

इस पद्य में तत् शब्द (तस्याः पद) के साथ ही सिन्धु शब्द (सिन्धोः पद) का कथन सदोष कहा जा सकता है।

इसी प्रसंग में आचार्य रुय्यक ने मेघदूत से ही द्वितीय उदाहरण दिया है।

'स्निग्धच्छाया तरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु[3]।'

इस पद्य में 'गिरि' शब्द द्वारा पर्वत का निर्देश हो जाने पर अग्रिम पद्य 'तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबला विप्रयुक्तः सकामी···'इत्यादि में पुनः तत् शब्द (तस्मिन् पद) के साथ अद्रि शब्द (अद्रौ पद) द्वारा पर्वत का कथन सदोष है। इसी स्थल पर रुय्यक ने पूर्व पक्ष के रूप में इस पद्य की निर्दोषता के लिए तर्क उपस्थित कर उसका समाधान करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु उसमें भी (उस प्रयत्न में भी) वे सफल न हो सके हैं तथा वे शंकाएं उसी रूप में स्थिर रह जाती हैं।

१. प्रथम तर्क है कि 'रामगिर्याश्रमेषु' समस्त पद में गिरि शब्द समास के कारण उपर्सजनीभूत हैं, फलतः बुद्धि में उसका अवधारण प्रधानतया नहीं होता, साथ ही सिद्धान्त भी है 'सर्वनाम द्वारा

---

१. मेघदूत १.४५ २. वही १.४६ ३. वही १.१

परामर्श असमस्त वाक्य में प्रयुक्त प्रधान अर्थ का ही होता है।[1] फलतः सर्वनाम द्वारा पर्वत रूप अर्थ का परामर्श हो सकना सम्भव नहीं है। जिसके लिए उपर्युक्त पद्य में 'अद्रि' शब्द का प्रयोग आवश्यक है।

अद्रि शब्द के साथ ही तत् शब्द का प्रयोग प्रकृत पर्वत का बोध कराने के लिए है, केवल अद्रि शब्द किसी विशिष्ट पर्वत का बोध न कराकर सामान्य पर्वतमात्र की ही प्रतीति कराता है। अतएव सर्वनाम 'तत्' शब्द तथा पर्वतवाचक 'अद्रि' शब्द दोनों का ही कथन आवश्यक है, जैसी कि शिष्ट परम्परा है, जिसे हम व्याकरणशास्त्र के महान् आचार्य पतंजलि के महाभाष्य में भी देखते हैं 'अथ शब्दानुशासनम्। केषां शब्दानाम् ?' लौकिकानां वैदिकानां च। (नवाह्निक महाभाष्य १.१.१)

यहां शब्द का उपक्रम प्रथम वाक्य में होने पर पुनः अग्रिम वाक्य में प्रश्न की आकांक्षा के लिए 'किम्' सर्वनाम का एवं उस आकांक्षा को शब्द सम्बन्धी बताने के लिए 'शब्द' पद का भी स्पष्ट उपादान किया गया है। क्योंकि प्रथम वाक्यगत 'शब्द' पद समासवश गौण है। अतः सर्वनाम द्वारा उसका परामर्श सम्भव नहीं है। फलतः यहां 'किम् और 'शब्द' दोनों पदों का उपादान किया गया है। उपर्युक्त शंका का उपयुक्त समाधान न देकर रुय्यक ने केवल इतना ही कहा है कि 'गिरि शब्द द्वारा पर्वत प्रकान्त होने पर अन्य पर्याय अद्रि द्वारा उसी का कथन असमंजस है जिसका निराकरण असम्भव है।'[2]

गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर हम निर्णय पर पहुंचते हैं कि रुय्यक को दोष सम्भावना का भ्रम हो गया है, वस्तुतः यहां अद्रि पद का प्रयोग सर्वथा निर्दोष है। क्योंकि पूर्व पद्य रामगिर्याश्रमेषु में गिरि पद उपसर्जनीभूत है, जैसी कि रुय्यक ने भी सम्भावना की है, साथ ही पद्य के पठन के अन्तर सहृदय पाठक का मानस भी गिरिपर केन्द्रित न होकर यज्ञ एवं उसके अधिकरण आश्रम पर ही केन्द्रित होता

---

१. 'सर्वनाम्नानुसन्धिर्वृत्तिच्छन्नस्येति'। व्यक्तिविवेकव्याख्यान में उद्धृत, पृष्ठ १८१

२. गिरिशब्देन गिरौ प्रक्रान्ते अद्रिशब्देन पर्यायान्तरेण त्वागतमसामंजस्यं दुष्परिहरमेव। —व्य० वि० व्याख्यान, पृष्ठ १८१

है, फलतः अद्रि शब्द के अभाव में प्रयुक्त 'तत्' शब्द (तस्मिन् पद) आश्रम का ही बोधक होगा। 'आश्रमेषु' पद गत बहुवचन एवं 'तस्मिन्' पद गत एक वचन को यदि परस्पर व्यावर्त्तन (असम्बन्ध) का हेतु मान भी लें, तो उस स्थिति में 'तस्मिन्' पद पूर्व वाक्य में प्रधानतया अभिहित 'यज्ञ' का परामर्शक हो सकता है पर्वत का नहीं। अतएव पर्वत के परामर्श के लिए 'अद्रि' शब्द का उपादान आवश्यक है, साथ ही तत् पद भी एक विशिष्ट प्रतीति के लिए आवश्यक है, वह है 'विरहवैधुर्यजनित शैथिल्य'। सामान्य स्थिति में विविधरामणीयक दृश्यों के अवलोकन की कामना प्रत्येक व्यक्ति में हो सकती है तथा वह किसी भी पर्वत पर 'सानुमेघाश्लेष' का दर्शन कर सकता है। किन्तु विरहवश विधुर होने से यक्ष में दृश्यावलोकन की कामना न होने पर भी उसी पर्वत पर उसके समक्ष शिखर का मेघ द्वारा विशिष्ट आलिंगन उपस्थित हो गया, अतः बिना इच्छा और प्रयत्न के ही उसे वह दृश्य देखने को मिला एवं उससे और अधिक व्याकुल होकर मेघ को दूत बनाना पड़ा।' तत् शब्द के अभाव में सामान्य पर्वत की प्रतीति होने पर यक्षगत विरह व्यथाजनित कृशता एवं विशिष्ट शैथिल्य प्रकट नहीं हो सकता था, जो कवि का प्रमुख उद्दिष्ट है। अतः अद्रि एवं तत् दोनों शब्दों का ही प्रयोग आवश्यक है।

किसी समुदायार्थ का किसी वाक्य द्वारा निर्देश होने पर वाक्यान्तर में उस समुदाय के अवयव का निर्धारण आवश्यक होने पर वह समुदाय निर्धारण का विषय है। उस प्रतीति के लिए यत् शब्द द्वारा समुदाय का निर्देश होना चाहिये, किन्तु वैसा न कर निर्धार्यमाण के अवयव का निर्देश करना दोषपूर्ण है। जैसे :—

> तस्मादजायत मनुर्नवराजबीजं,
> यस्यान्वये स सगरः स भगीरथश्च।
> एकेन येन जलधिः परिखानितोऽयम्,
> अन्येन सिद्धसरितापरिपूरितश्च॥

उपर्युक्त पद्य में द्वितीय चरणगत वाक्य में सगर-भागीरथ रूप समुदायार्थ का निर्देश किया गया है, जिसके अवयव का निर्देश जाति-गुण अथवा क्रिया द्वारा वाक्यानन्तर में अपेक्षित है, यहां समुदाय निर्धारण विषय है, इस प्रतीति के लिए (समुदाय का पद द्वारा निर्देश न

कर निर्धार्यमाण के अवयव 'एक जिसने समुद्र का खनन किया' इत्यादि का निर्देश किया गया है, अतः निर्देश योग्य का निर्देश न करने तथा अयोग्य का निर्देश करने के कारण यह प्रयोग विधेयाविमर्श दोष दुष्ट है। यदि पाठ में कुछ परिवर्तन कर निम्नलिखित रूप से पद्य को पढ़ा जाये तो दोष का निराकरण हो जायेगा।

'एको ययोः जलनिधीन् निचखान सप्त,
गांगैः पयोभिरभिवर्षितावान् द्वितीयः।

यहां समुदायार्थ का निर्देश (यत्) शब्द (ययोः पद) द्वारा होने से दोष का अभाव हो गया है।

कहीं कहीं प्रधान क्रिया में परामृश्य का तद् आदि सर्वनाम द्वारा परामर्श होता है, तथा गौण क्रिया में उसका शब्दतः कथन किया जाता है, यह भी उचित नहीं है। क्योंकि उस स्थिति में प्रधानतयेन प्रतीत होने योग्य पदार्थ का सर्वनाम द्वारा परामर्श होने से अप्राधान्य प्रतीति होने लगती है, जबकि प्रतीति प्रधानतया होनी चाहिए। इस प्रकार विधेय (प्रधानतया विमर्शयोग्य) का उस रूप में विमर्श न होने से विधेयाविमर्श दोष उपस्थित होगा। जैसे :—

प्रत्यासन्ने नभसि दयिता जीवितालम्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम्।
सप्रत्यग्रैः कुटजकुसमैः कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार॥[1]

प्रस्तुत पद्य में गौण वाक्य में अप्रधानक्रिया 'हारयिष्यन्' के कारण के रूप में जीमूत शब्द द्वारा मेघ का कथन किया गया है एवं प्रधान वाक्य में प्रधान क्रिया 'व्याजहार' के सम्प्रदान के रूप में मेघ का परामर्श तत् शब्द द्वारा किया गया है, अतः यह प्रयोग सदोष है।

इसके अतिरिक्त इस पद्य में जीमूत शब्द का उपादान करने से अधिक पदता दोष भी उपस्थित होता है। यदि वाक्य में किसी पद का प्रयोग किये बिना भी तदभिधेय अर्थ की प्रतीति होती हो, तो उसे अधिकपदता महिमभट्ट के शब्दों में पौनरुक्त्य दोष माना जाता है।

---

१. मेघदूत १.४

उपर्युक्त पद्य में 'तस्मै पद द्वारा परामृश्य क्या है? इस प्रश्न के दो समाधान हो सकते हैं प्रकरण प्राप्त मेघ, अथवा पूर्व गौण वाक्यगत 'जीमूत'। इनमें यदि प्रथम पक्ष अर्थात् मेघ को परामृश्य-मान लिया जाये तो 'जीमूतेन' पद के कथन की अपेक्षा नहीं रह जाती है, क्योंकि एकत्र परामर्श होने पर अन्यत्र भी उसकी स्वतः उपस्थित हो जाती है। निदान अधिक पदतादोष सिद्ध होता है।

यदि यहां तस्मै पद द्वारा परामृश्यमान 'जीमूत' माना जाये तो प्रथम तो उपर्युक्त गौण वाक्य में परामृश्य का नामतः कथन एवं प्रधान में तद् द्वारा परामर्श रूप विधेयाविमर्श दोष उपस्थित होगा। साथ ही अधिक पदता भी, क्योंकि यदि अन्य वाक्यों में प्रायः सम्पूर्ण काव्य में ही मेघ प्रक्रान्त होने से परामृश्य होता है तो फिर इस स्थल पर 'जीमूत द्वारा पुनः कथन होने से 'अधिक पदता' रूप दोष होगा ही। आचार्य महिमभट्ट की भाषा में हम इसे पुनरुक्ति कहेंगे।

वस्तुतः यहां 'जीमूत' पद एक विशिष्ट अनुमेयार्थ की प्रतीति के लिए है, जीमूत पद 'जीवनस्य मूतः पदबन्धः'[1] व्युत्पत्ति के अनुसार जीवन की निधि (पोटली) का बोधक है, चूंकि यक्ष अपनी प्रेयसी के जीवित का आलम्बन चाहता है, अतः इस समय वह मेघ को धूम ज्योति सलिल मरुत के समवाय के रूप में नहीं, अपितु जीवन की पोटली के रूप में देख रहा है, यक्ष के उपर्युक्त हृदयगत भाव प्रकरण प्राप्त मेघ अथवा तस्मै पद द्वारा प्रकट नहीं हो सकते, तदर्थ जीमूत पद का प्रयोग नितान्त आवश्यक है, फलतः यहां अधिक पदता दोष नहीं हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यत् और तत् शब्द के प्रयोग विशेष से अथवा संज्ञा या उसके प्रतिनिधिभूत तत् सर्वनाम के प्रयोग विशेष से प्रधानतया अभिधेय अर्थ यदि अप्रधान रूप से अभिहित हो तो वाक्य में विधेयाविमर्श दोष माना जायेगा।

जिस वस्तु का 'इदम्' 'अदस्' अथवा 'एतत्' आदि शब्दों द्वारा किसी वाक्य में कथन किया गया हो, उसी वाक्य में उसी वस्तु का 'तत्' शब्द द्वारा परामर्श उचित नहीं है।

---

१. पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् च (पाणिनि), मल्लीनाथ कृत टीका

कारण यह है कि 'तत्' शब्द द्वारा परामृश्य की अप्रत्यक्षता का बोध होता है, अतएव यदि वाक्य में परामर्श योग्य वस्तु का वाचक शब्द द्वारा अथवा प्रत्यक्षतः परामर्शक इदम्, एतत् आदि शब्द द्वारा कर्तृत्वेन प्रत्यक्षतः बोध हो चुका हो, तो उसी वाक्य में पुनः उसी वस्तु का 'तत्' शब्द द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से परामर्श सहृदय के उद्वेग का हेतु बन जाता है। जैसे :—

'स वः शशिकलामौलिः तादात्म्यायोपकल्प्यताम्।'

अर्थात् वे शशिकलामौलि शंकर तादात्म्य (सायुज्यमुक्ति) प्रदान करें। यहां शशिकलामौलि का कर्त्ता रूप में प्रथम कथन करके उसी वाक्य में पुनः उसे 'तादात्म्याय' कहते हुए उनके स्वरूप का परामर्श किया गया है। किन्तु तत् शब्द से अर्थ बोध के साथ ही परोक्षभाव की भी प्रतीति होती है, यह परोक्षभाव सहृदय द्वारा श्लाघनीय नहीं होता। इसे ही पाठ विपर्यास करके यदि :—

'स वः शशिकलामौलिरैकात्म्यायोपकल्प्यताम्।'

यह पाठ किया जाये तो यह दोष नहीं रह जाता। इसी भांति :—

'द्वैतबुद्धिमपास्येमां सा हि सर्वापदाम्पदम्।'

अर्थात्—'इस द्विविधा पूर्ण दृष्टि को छोड़ दो, वह सभी आपत्तियों का पद है' इस वाक्य में सर्वप्रथम 'इदम्' शब्द द्वारा कर्मभूत द्वैतबुद्धि का प्रत्यक्षतया कथन किया गया है, पुनः उसी वाक्य में 'सा' पद द्वारा उसी अर्थ का परोक्ष रूप से परामर्श दोषपूर्ण है। अतः पाठ विपर्यास कर :—

'द्वैतबुद्धिमपास्येमां एषा हि विपदाम्पदम्।'

पाठ करना अधिक उचित होगा।

निम्नलिखित पद्य में भी इसी प्रकार का अनौचित्य है। अतएव सहृदय इसकी सराहना नहीं करते, अपितु इसे भी विधेयाविमर्श दोष दुष्ट मानते हैं।

मीलितं यदभिरामताधिके साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतम्।
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः॥

इस पद्य में तत् शब्द के प्रयोग के अभाव में ही यत् शब्द का प्रयोग किया गया है, जो उचित प्रतीति नहीं होता। इस दोष के निवारणार्थ तत् शब्द के प्रयोग की अपेक्षा एक अन्य मार्ग है, वह है प्रथम और द्वितीय पाद का स्थान विपर्यय। अथवा यहां यह मान लेना भी अनुचित न होगा कि इस पद्य में लेखक के प्रमाद से प्रथम और द्वितीय पाद में विपर्यय हो गया है उसे शुद्ध कर लेना चाहिए। ऐसी स्थिति में यहां यत् तत् प्रयोग के नियम का उल्लंघन न रह जाएगा।

इस स्थल पर आचार्य महिमभट्ट ने पूर्व पक्ष की ओर से एक अन्य समाधान देने की कल्पना की है कि तत् तथा अदस् शब्द परस्पर पर्यायवाची हैं, ऐसी स्थिति में चाहे तत् शब्द का प्रयोग हो अथवा अदस् शब्द का दोनों में कोई अन्तर नहीं है, अतएव ऐसे स्थलों में दोष मानना उचित न होगा।

उपर्युक्त तर्क के समाधान के लिए आचार्य महिमभट्ट का उत्तर है कि पूर्वोक्त प्रकार से दोष निराकरण के लिए दिया गया हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, हेतु नहीं। क्योंकि तत् और अदस् शब्द कथमपि पर्यायवाची नहीं माने जा सकते। यदि उक्त पर्यायवाचित्व सिद्ध होता तो उक्त दोष नहीं रहता, किन्तु वही तो असिद्ध है।

इसके अतिरिक्त अदस् और तत् शब्दों की परस्पर पर्याय मानने पर अन्य अनेक स्थलों पर दोष उपस्थित होने लगेगा। उदाहरणार्थ—

असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसरः
प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणीः।
वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितो
वसन्तकालो हनुमानिवागतः ॥[1]

यहां 'असौ' पद का प्रयोग किया गया है, यदि अदस् को तत् शब्द का पर्याय मानेंगे तो यहां भी तत् शब्द के पर्याय अदस् के द्वारा उपसंह्रियमाण के उपक्रम के लिए यत् शब्द का प्रयोग अनिवार्य मानना पड़ेगा, जिसके फलस्वरूप यत् के अभाव में इस काव्य को सदोष कहना

---

१. हनुमन्नाटक पद्यवेणी ५ में उद्धृत। काव्य प्रकाश वामन झलकीकर पृ. २२ पंक्ति २२ देखे।

होगा। क्योंकि यह मुक्तक काव्य (श्लोक) है, यहां प्रक्रान्त विषय न होने से यत् की स्वतः कल्पना नहीं हो सकती, न ही यथोक्त वस्तु विषय मानकर ही, क्योंकि यहां यथोक्त वस्तु विषयत्व होना भी सम्भव नहीं है। इसी प्रकार :—

यस्य प्रकोपशिखिना परिदीपितोऽभूत्
उत्फुल्लकिंशुकतरुप्रतिमो मनोभूः।
योऽसौ जगत्त्रयलयस्थिति सर्गहेतुः
पायात्स वः शशिकला कलितावतारः॥[1]

इस पद्य में अदस् (असौ) तथा तत् (सः) दोनों पदों का प्रयोग होने के कारण पौनरुक्त्य मानना होगा।

उपर्युक्त दोष के निराकरण हेतु यह कहना भी उचित न होगा कि यदि अदस् और तत् शब्द परस्पर पर्यायवाची नहीं होते तो कवि लोग इनका पर्याय के रूप में प्रयोग कैसे करते। कवि परम्परा में प्राप्त प्रयोग प्रवाह को देखकर दोनों को परस्पर पर्यायवाची (अभिन्नार्थक) मानना ही चाहिए, भले ही कोश ग्रन्थों में वे पर्यायतः पठित न हों। क्योंकि प्रवाह ही शब्दार्थ सम्बन्ध के निर्णय के लिए एक मात्र अन्तिम प्रमाण हुआ करता है।

आचार्य महिमभट्ट उपर्युक्त तर्क को अस्वीकार करके समाधान देते हुए कहते हैं कि कवि परम्परा तद् और अदस् के पर्याय सम्बन्धी मान्यता की समर्थक नहीं है, इसे पूर्व निर्देशनों के द्वारा ही सिद्ध किया जा चुका है। फिर भी वास्तविकता पर बिना विचार किये अन्धानुकरण के आधार पर निर्मित :—

योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलम् पश्यतीश ? निखिल भवद्वपुः।
स्वात्मपक्षपरिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम्।

तथा :—

'स्मृतिभूः स्मृतिभूः विहितो येनासौ रक्षतात्क्षताद् युष्मान्।'

इत्यादि प्रयोगों को देखकर यदि तत् और अदस् के मध्य पर्याय-

---

१. काव्य प्रकाश वामनझलकीकर पृ. २०२, पंक्ति २२

वाचित्व कल्पना करते भी हैं तो प्रयोग परम्परा के आधार पर 'अदस्' आदि का 'यत्' शब्द से व्यवहित पूर्व या पर में प्रयोग होने पर ही, अथवा उन दोनों का भिन्न विभक्ति में ही प्रयोग करना चाहिए अन्यथा नहीं। ऐसी स्थिति में जहां दोनों के बीच पर्यायवाचित्व की कल्पना मानी जायेगी, वहां यत् और तत् शब्द की भांति ही यत् और अदस् शब्द के मध्य भी अन्यतर के परामर्श की अपेक्षा उत्पन्न अवश्य ही होगी तथा अदस् का प्रयोग होने पर यत् का भी शाब्द या आर्थ परामर्श आवश्यक होगा।

जैसा कि हम :—

'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदनवलीलां वितनुते
तदाचष्टे लोकः……' इत्यादि में देखते हैं।

यहां 'यत्' शब्द के साथ एतत् का प्रयोग होने पर भी तत् शब्दार्थ के परामर्श की आकांक्षा समाप्त नहीं होती। अतएव उस आकांक्षा के शमन के लिए ही कवि ने तद् शब्द का प्रयोग किया है।

इसी भांति :—

'सोऽयं वटः श्याम इति प्रकाशः त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः।'[1]

पद्य में भी तत् शब्द का प्रथम प्रयोग होने पर यत् की आकांक्षा बनी रहती है, जिसके लिए पद्य के अन्त में उसका (यत् शब्द का) प्रयोग करना पड़ा है।

काव्य में इस प्रकार के दोष न आ सकें एतदर्थ कवि को सदा ही सावधान रहना चाहिए कि इनसे वह बच सके। क्योंकि सावधानी के अभाववश कभी कभी उच्चतम कोटि के काव्य भी इस अथवा इसी प्रकार के अन्य दोष रूपी कलंक से कलंकित हो जाते हैं और जैसी कि आचार्य दण्डी की मान्यता है, केवल एक श्वित्र (श्वेत कुष्ठ रूपी) रोग से ग्रस्त मानव की तरह केवल एक दोष के कारण ही कोई काव्य सहृदयजनों के द्वारा उपेक्षणीय हो जाते हैं।

उपर्युक्त दोष के सम्बन्ध में विशेष सावधानी रखने की अपेक्षा इसलिए भी है कि कभी कभी साधारण बुद्धि से विचार के समय इस

---

१. रघुवंश १३.५३

प्रकार के दोष आंखों से ओझल रह जाते हैं।

उदाहरणार्थ हम वक्रोक्ति जीवित में श्लाघ्य काव्य के रूप में उद्धृत निम्नलिखित पद्य को देख सकते हैं :—

'संरम्भः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य यः
सर्वस्यैव सजातिमात्रनियतो हेवाकलेशः किल।
इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुद घटाबन्धेऽप्यसंरब्धवान्
योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं यात्वम्बिका केसरी॥

इस पद्य में हाथियों को 'कीट' कहकर उनके प्रति तिरस्कार प्रदर्शित किया गया है, और मेघों का 'शकल' अर्थात् टुकड़ा शब्द से अनादर सूचित किया गया है। 'सर्वस्य' पद के प्रयोग से जिस किसी अत्यन्त तुच्छ प्राय होने की सूचना देकर उसके प्रति अवहेलना की गयी है। मात्र विशिष्ट जाति शब्द (जाति मात्र विहितः) इस कथन से अल्पता अर्थात् तुच्छता की प्रतीति होती है। इस प्रकार इस पद्य के प्रायः सभी विशिष्ट पद विवक्षित अर्थ के पूर्णतः प्रतिपादक हो रहे हैं। इसी प्रकार 'घटाबन्ध' शब्द भी प्रस्तुत अम्बिका केसरी के महत्त्व के प्रतिपादन हेतु प्रयुक्त होकर उस महत्त्व की प्रतीति का कारण होता है।[1]

उपर्युक्त पद्य में इतना सौष्ठव होते हुए भी कवि की थोड़ी सी असावधानी के कारण विधेयाविमर्श दोष कवि की प्रतिभा को कलंकित कर रहा है। क्योंकि समास के सम्बन्ध में जैसा कि हम निर्णय कर चुके हैं कि 'जिस शब्द का अर्थ प्रकरण अथवा काकु आदि की सहायता से अर्थान्तर को प्रकाशित करता है, उस शब्द का अन्य शब्दों के साथ समास नहीं होता, क्योंकि समास होने पर इष्ट अर्थ की प्रतीति

---

१. अत्र करिणां 'कीट' इति व्यपदेशेन तिरस्कारः, तोयदानां च 'शकल' शब्दाभिधानेनास्य 'सर्वस्य' इति यस्य कस्यचित् तुच्छतरप्रायस्येत्यवहेला, जातेश्च मात्रविशिष्टत्वेनावलेपः। हेवाकस्य 'लेश' शब्दाभिधानेनाल्पता प्रतिपत्तिरित्येते विवक्षितार्थैक वाचकत्वं द्योतयन्ति। 'घटाबन्ध' शब्दश्च प्रस्तुतमहत्त्वप्रतिपादन परत्वेनोपात्तस्तन्निबन्धनतां प्रतिपद्यते।

—वक्रोक्ति जीवित, पृ. ४२
डा० नगेन्द्र सम्पादित

में असम्भावना हो सकती है।'

उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार परीक्षा करने पर हम देखते हैं कि 'संरम्भः करिकीट' आदि पद्य में केशरि (सिंह) पद के विशेषण के रूप में अम्बिका शब्द का उपादान एवं केशरि पद के साथ ही उसका समास करना सदोष है। क्योंकि अम्बिका पद का प्रयोग होने से उसके उद्देश्य के सम्बन्ध में दो विकल्प हो सकते हैं।

१. केशरी पद के साथ अम्बिका पद का प्रयोग क्या अन्य सिंहों की व्यावृति के लिए है? अथवा

२. अम्बिका भगवती के चरण सेवन से प्राप्त लोकोत्तर शौर्यातिरेक के प्रतिपादन के लिए है?

उपर्युक्त विकल्पों में यदि प्रथम विकल्प अर्थात् अम्बिका पद को अन्य केशरी के व्यावर्त्तन हेतु है, ऐसा माना जाए तो इसी पद्य में 'जातिमात्र नियत हेवाकलेश' की सर्व सिंह सामान्य है, यह कहना अनावश्यक ही हो जाता है, क्योंकि यह विशेषण भी तो अन्य केशरि व्यावर्त्तन हेतु ही है।

साथ ही यह भी स्मरणीय है कि अम्बिका से भिन्न (देवी देवताओं) से सम्बद्ध अथवा पूर्ण स्वतन्त्र सिंहों की अपेक्षा इस सिंह विशेष में केवल अम्बिका के सम्बन्ध मात्र से ही अर्थ में कोई विशेष उपकार हो जाता है, ऐसा हम नहीं समझते।

इस प्रसंग में यह सम्भावना की जा सकती है कि उपर्युक्त पद्यगत केशरी शब्द 'वाच्य' सामान्य केशरी से भिन्न जातीय, विशिष्ट केशरी है, जो अपनी जाति वैशिष्ट्य के कारण ही अन्य केशरियों (सिंहों) से सर्वथा भिन्न है एवं सामान्य सिंहों के हेवाकलव (अभिमान) से लज्जित होकर दिग्गजों को भी करिकीट मानता हुआ, प्रलयकालीन मेघघटा को भी बादलों का एक तुच्छ खण्ड समझता हुआ प्रयत्न करता है। इस प्रकार प्रस्तुत पद्यगत केशरी सामान्य केशरी से भिन्न विशिष्ट जाति का केशरी अभिहित होता है। जैसा कि हम :—

'मोहन्तु हरे विहङ्गमो' इत्यादि पद्य में देखते हैं। जैसे इस पद्य में विहंगम पद का अर्थ सामान्य पक्षी न होकर एक विशिष्ट जातीय पक्षी गरुड का बोध होता है, इसी प्रकार यहां भी सामान्य केशरी से भिन्न विशिष्ट जातीय केशरी का बोध होगा। साथ ही जैसे उपर्युक्त उदा-

हरण में विहंगम में अतिशय आधान की अपेक्षा किये बिना ही भगवान् विष्णु का वाचक हरि पद विशेषण होता है, इसी प्रकार प्रस्तुत पद्य में भी विशेषणभूत अम्बिका पद अतिशय आधान की अपेक्षा किये बिना ही प्रयुक्त हुआ है, ऐसा मानना चाहिए।

उपर्युक्त संभावना का समाधान देते हुए आचार्य महिम भट्ट कहते हैं कि यह कल्पना उपयुक्त नहीं मानी जा सकती, क्योंकि भगवती अम्बिका की कृपा से शून्य इस प्रकार के किसी केशरी विशेष से सहृदय पाठक वर्ग सर्वथा अपरिचित है, साथ ही इस प्रकार का केशरी कवि का अभिप्रेत भी नहीं है।

कवि तो वस्तुतः इस पद्य द्वारा किसी कवि विशेष के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता है जिसने 'चिरकाल तक दृढ़वृत एवं अथक प्रयत्न से भगवती सरस्वती की आराधना की है, जिसके फलस्वरूप उसे सरस्वती की कृपा प्राप्त हो चुकी है। अतएव वह अतिशय वैदुष्य भाजन होकर अहंभाव वश सामान्य कवियों के सदृश व्यवहार करने में लज्जा का अनुभव करता हुआ समानधर्मा अम्बिका केशरी के माध्यम से अपना खेद प्रकट करता है।

उस कवि का स्वाभाविक अतिशय विद्या कृत चमत्कार नहीं, अपितु सरस्वती प्रसाद जनित चमत्कार अभिप्रेत है। अतएव कवि ने सरस्वती और स्वयं दोनों के लिए बिम्ब प्रतिबिम्बभाव से 'अम्बिका' और 'केसरी' का उपादान किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त पद्य में केशरी पद के साथ अम्बिका पद का प्रयोग अन्य केशरियों (सिंहों) की व्यावृत्ति के लिए नहीं हुआ है।

अम्बिका पद के प्रयोग के प्रयोजन की द्वितीय सम्भावना 'अम्बिका भगवती के शरण सेवन से प्राप्त लोकोत्तर शौर्यातिरेक प्रतिपादन के लिए केशरी के साथ अम्बिका पद प्रयुक्त है' भी सम्भव नहीं हो सकती।

क्योंकि ऐसी स्थिति में अम्बिका पद को समस्त नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि विशेषण अम्बिका पद विशेष्य में उत्साह परिपोषक के रूप में पर्यवसित हो केशरी में अतिशय चमत्कार का आधान कर सके, इस हेतु विधेय रूप से अर्थात् प्रधानतया विवक्षित

होना चाहिए है, समास की स्थिति में यह विध्यनुवाद भाव स्थिर न रह सकेगा जैसा कि पिछले पृष्ठों में भली प्रकार स्पष्ट किया जा चुका है।

इस प्रसंग में पूर्वपक्ष की ओर से कहा जा सकता है कि 'किसी भी शब्द द्वारा भावाभिव्यक्ति वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर है। अतः 'विशेषण द्वारा विशेष्य में जिस किसी चमत्कार विशेष का उन्मेष होता है वह समास की स्थिति में अस्त हो जाता है' यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो समास की स्थिति में विशेषण से वैशिष्ट्य प्राप्त ही नहीं हो सकता, किन्तु समास की स्थिति में यह वैशिष्ट्य अनेक कवि स्वीकार करते हैं इसी हेतु वे ऐसे प्रयोग भी करते हैं। वैयाकरण भी ऐसा ही मानते हैं। अतएव समास के अभाव में विशेषण प्रदत्त वैशिष्ट्य का उदय और समास की स्थिति में उसके अस्त होने की कल्पना उचित नहीं है।

आचार्य महिमभट्ट ने उपर्युक्त तर्क का सप्रौढ़ि समाधान देते हुए कहा है कि :—विशेषण के चमत्कार का समास के अभाव में उन्मेष और समास की स्थिति में असम्भावना का पूर्व प्रतिपादन हो चुका है। यदि कोई यह कहता है कि 'समास स्थिति में विशेषण के चमत्कार की अप्राप्ति नहीं होगी।' क्योंकि आपके अनुसार 'जिस चमत्कार की प्रतीति वाक्य से ही होती हैं समास से नहीं हम उस प्रतीति को समास से भी मानते हैं।' तो वस्तुतः उसे समास और वाक्य के अर्थ वैचित्र्य का पता ही नहीं है, उसे चमत्कार का दर्शन ही नहीं हुआ है।

'मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरुः।
माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधाताकृतम्।'[1]

इस पद्य में आर्यानुज तथा तातकलत्र समस्त पदों में 'आर्य' एवं 'तात' रूप विशेषण द्वारा जिस चमत्कृत अर्थ की प्रतीति की कल्पना की जाती है, वस्तुतः वह प्रतीति उन शब्द से नहीं होती। यह प्रतीति तो उसी भांति मिथ्या हैं जैसे शुक्ति में रजत प्रतीति। वस्तुतः वह प्रतीति

१. पृष्ठ १०६ में उद्धृत

व्याख्या सापेक्ष्य है, आरोपित समस्त पद द्वारा प्रतीयमान नहीं।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि :—विशेषण गत चमत्कार समास के अभाव में उन्मिषित होता है, उदित होता है एवं समास की स्थिति में पूर्णत: अस्तम्भाव को प्राप्त हो जाता है। फलत: उक्त पद्य में 'अम्बिका केसरी' इस स्थल पर समास करने से प्रधानतया विवक्षित के अप्रधानतया प्रतीत होने के कारण विधेयाविमर्श दोष अनिवार्य हो जायेगा।

इसी भांति 'असंख्यवान्' पद में भी समास की स्थिति है। क्योंकि पहले सिद्ध किया जा चुका है कि नञ् समास पर्युदास प्रतिषेध में ही सम्भव है, प्रसज्य प्रतिषेध में नहीं, अर्थात् यदि समास गत उत्तर पदार्थ अर्थात् विधि की प्रधानता हो, नञर्थ की अप्रधानता हो तभी नञ् समास हो सकता है,[1] किन्तु नञर्थ ही प्रधानतया विवक्षित हो तो नञ् समास का होना उचित नहीं है, 'प्रस्तुत प्रसंग में 'असंख्यवान्' इस समस्त पद द्वारा विवक्षित अर्थ में नञर्थ की प्रधान रूप से विवक्षा है, विधिकी नहीं। कवि की विवक्षा संरम्भण क्रिया के निषेध में है। नञर्थ के प्राधान्य की स्थिति में क्योंकि उत्तर पदार्थ, जो कि यहां संरम्भण क्रियारूप है, अनूद्यमान होगा, प्रधान नहीं। जबकि तत्पुरुष में उसका उत्तर पदार्थ होने के कारण प्रधान होना आवश्यक है, फलत: यहां समास का होना अनिवार्यत: सम्भव नहीं है।

इसके अतिरिक्त उपर्युक्त पद्य के चतुर्थ चरण में 'योऽसौ' इत्यादि प्रयोग भी सदोष है, क्योंकि यहां प्रयुक्त 'यत्' पद से उपक्रान्त का उपसंहारक कोई तत् पद नहीं है। साथ ही प्रयुक्त पद के मुक्तक होने से यहां पूर्व प्रक्रान्त विषय भी कोई नहीं हो सकता। इस पद्य में प्रक्रम्यमाण 'अम्बिका केसरी' विषयक तत् शब्द की कल्पना वश उपस्थिति

---

१. इस प्रसंग में हम 'काव्यार्थतत्त्वावगमो न वृद्धाराधनं विना'। अनिष्टवान्राजसूयं क: स्वर्गं मुख्यमनुश्ते। इस पद्य को उदाहरण के रूप में देख सकते हैं, यहां राजसूयकर्मक नञर्थ विशिष्ट यजनक्रिया का विधान है, फलत: क्रिया की ही प्रधानता हुई एवं नञर्थ की अप्रधानता। अत: नञ् का इष्टवान् पद के साथ समास उचित ही है।

मानकर भी यहां संगति नहीं बन पाती, क्योंकि ऐसे स्थलों पर तत् शब्द के प्रयुक्त होने पर ही यत् शब्द का सम्बन्ध होता है, ऐसा सर्वत्र दृष्टिगत होता हैं; अन्यथा 'यत्कोपाग्नौ शलभतां लेभे कामः शिवोव-तात्।' इत्यादि स्थलों पर भी प्रक्रान्त होने वाले शिव विषयक 'तत्' शब्द की कल्पनावश उपस्थिति सम्भव न हो सकने पर प्रत्यक्षतः उस शिव पद का प्रयोग दोषपूर्ण होगा। जबकि ऐसे अधिकांश स्थलों पर सहृदय दोष का अनुभव नहीं करता, अतएव प्रस्तुत पद्य में 'योऽसौ' इस एक प्रयोग को ही सदोष मानना उचित होगा।

प्रस्तुत पद्य में विद्यमान असौ पद (अदस् शब्द) को तत् पर्यायवाची मानकर भी निर्दोषता सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि तत् तथा अदस् शब्द पर्यायवाची नहीं है, इसे गत पृष्ठों में सिद्ध किया जा चुका है।

इस स्थल विशेष में तत् और अदस् शब्द के मध्य अभिन्नार्थकता मानने पर भी 'योऽसौ कुत्र' इस स्थल पर दोष का समाधान सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसे स्थलों पर 'अदस्' शब्द 'तत्' शब्द की भांति पर परामर्श की आकांक्षा शान्त नहीं कर पाता। फलतः यहां तत् शब्द के परामर्श की आकांक्षा बनी ही रहती है, जिसका एक मात्र समाधान 'तत्' शब्द का अध्याहार है। किन्तु इस प्रकार के सूक्ति रत्नों में यह अध्याहार कलंक की भांति प्रतीत होता है।

फलतः (कुन्तक सदृश मान्यतम आचार्य द्वारा अभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रशंसित) उपर्युक्त काव्यरत्न में दोष के परिष्कार के लिए निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास कर लेना अनुचित न होगा :—

उद्योगः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य यः
सर्वस्यैव स जातिमात्रनियतो हेवाकलेशः किल।
इत्याशा द्विरदक्षयाम्बुदघटा बन्धेऽपि नोद्युक्तवान्
योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं गौर्याः हरिर्यातु सः॥'

इस पाठ विपर्यास के अनन्तर इस पद्य में सभी गुण तो सुरक्षित रहते ही हैं, जिनकी चर्चा की जा चुकी है, अथवा जिनके कारण इस

पद्य की कुन्तक ने काव्यरत्न स्वीकार किया है।[1] साथ ही ऊपर दिखाये गये सभी दोषों का भी समाधान हो जाता है।

प्रस्तुत पाठ विपर्यास के प्रसंग में यह प्रश्न हो सकता है कि विगत पृष्ठों में की गयी स्थापना के अनुसार 'योऽसौ' इत्यादि में 'यत्' शब्द का प्रयोग निरर्थक है, क्योंकि वाक्यान्त में प्रयुक्त 'तत्' शब्द पूर्वप्रक्रान्त विषय का ही उपसंहारक माना जायेगा। जैसा कि :—

तस्य प्रयातस्य वरूथिनीनां पीडामपर्याप्तवतीव सोढुम्।
वसुन्धरा विष्णुपदं द्वितीयमध्यारुरोहेव रजश्छलेन॥[2]

इस पद्य में देखा जा सकता है। यहां 'तस्य' पद (तत् शब्द) पूर्व प्रक्रान्त विषय का ही उपसंहार कर रहा है, इसीलिए यहां 'यत्' पद के प्रयोग की अपेक्षा कवि ने नहीं की है और नहीं हो सहृदय पाठक ही उसकी अपेक्षा का अनुभव करता है।

इसी प्रकार उपर्युक्त विपर्यस्त पाठ में भी यत् शब्द के प्रयोग के बिना अर्थ प्रतीति में सहृदय को आयास का अनुभव न होगा, अतः यत् शब्द को निरर्थक क्यों न माना जाये।

ऐसे स्थलों के सम्बन्ध में आचार्य महिमभट्ट ने सहृदय हृदय को साक्षी के रूप में एक मात्र प्रमाण स्वीकार किया है और कहा है कि यत् शब्द का प्रयोग न होने पर चमत्कारातिशय प्रतीति अक्षुण्ण नहीं रहती, उसमें हीनता आ जाती है। 'योऽसौ' तथा 'सः' पदों द्वारा उपस्थापित भिन्न वाक्यता में सहृदय हृदय एक विशिष्ट चमत्कृत अर्थ की प्रतीति करता है 'सोऽयं कुत्र चमत्कृतेः' इत्यादि पाठ की स्थिति में एक

---

१. जहां प्रक्रान्त अर्थ के लिए तत् शब्द का प्रयोग किया गया हो, वहां वह तत् शब्द यत् शब्द के प्रयोग की अपेक्षा नहीं रखता। यदि अर्थ प्रक्रान्त न हो तो उस स्थिति में यत् शब्द के प्रयोग के बिना अकेला तत् शब्द सार्थ भ्रष्ट पथिक की भांति अर्थ के अभिधान में अव्यग्ररूप से सक्षम न होकर यत् शब्द के आधार की अपेक्षा रखता है। (अपेतप्रक्रान्तसम्बन्धसहायस्यास्य यदोऽनुपपन्नप्रक्रंस्यमानवस्तुसमन्वयस्यैकाकिनः सार्थभ्रष्टस्येव तपस्विनः पथिकस्य सन्मार्गोपदेशिकं तच्छब्दाध्याहारमेवैकं शरणमन्तरेण नापरोभिमतार्थसङ्गमोपायः सम्भवति। व्यक्ति विवेक पृ. १७५

२. रघुवंश १६.२८

वाक्यता के कारण उस विशिष्ट चमत्कृत अर्थ की प्रतीति नहीं होती। अतएव उपर्युक्त विपर्यस्त पाठ करना अधिक उपयुक्त है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्वोक्त प्रकरण में वर्णित विधेयाविमर्श के विविध स्वतन्त्र रूप अथवा स्थल विशेष में संश्लिष्ट रूप से (दोनों ही प्रकार से) किसो भी काव्य विशेष को सदोष बनाने के लिए पर्याप्त हैं। अतः कवि को चाहिए कि वह इससे बचे रहने के लिए निरन्तर सावधान रहे।

षष्ठ अध्याय

पौनरुक्त्य दोष और उसकी समीक्षा

पुनरुक्ति शब्द का अभिप्राय है पुनःकथन, एक बार अभिहित वस्तु का ही पुनः अभिधान। यह पुनर्वचन एक छोटी ध्वनि से लेकर महावाक्य तक का हो सकता है। इस प्रकार पुनरुक्ति के सामान्यतः निम्न लिखित भेद हो सकते हैं :—

१. स्वर पुनरुक्ति
२. स्वर समूह पुनरुक्ति
३. व्यंजन पुनरुक्ति
४. व्यंजन समूह पुनरुक्ति
५. स्वर व्यंजन समूह पुनरुक्ति
६. उपर्युक्त स्वर आदि की दो बार पुनरुक्ति
७. उपर्युक्त स्वर आदि की दो से अधिक बार पुनरुक्ति
८. अर्थ पुनरुक्ति
९. शब्द और अर्थ दोनों की पुनरुक्ति

उपर्युक्त अनेक पुनरुक्ति प्रकारों में स्वर पुनरुक्ति से काव्य में न कोई चारुत्व लाभ होता है और न कोई हानि। अतएव इसे न तो गुण या अलंकार मानते हैं और न दोष ही।[1]

---

१. अलंकारप्रस्तावे केवलं स्वरपौनरुक्त्यमचारुत्वान्न गण्यते।
—अलंकार सर्वस्व पृ. १६ शारदा भवन काशी से प्रकाशित

यथा—
इन्दीवरम्मि इन्दम्मि इन्द आलम्मि, इन्दि अगणम्मि।
इन्दिन्दिरम्मि इन्दम्मि जोह्णो सरिसु संकप्पो।
अत्र स्वरपौनरुक्त्यस्य चारुत्वाभावान्नालंकारत्वम्॥
अलंकार सर्वस्व, महालक्ष्मी टीका गौरीनाथशर्मकृता १९८३ वि० शारदा-भवन काशी से प्रकाशित।

केवल व्यंजन मात्र की पुनरुक्ति में भी अनेक भेद हो सकते हैं, एकधा व्यंजनमात्र की पुनरुक्ति, एकधा व्यंजन समुदाय को पुनरुक्ति। कोमल परुष तथा मध्यम वर्ण समूह की पुनरुक्ति। काव्यशास्त्र में इस व्यंजन पुनरुक्ति विशिष्ट रचना को वृत्ति कहा गया है।[1] अनुप्रास अलंकार भी इस व्यंजन पुनरुक्ति पर ही आश्रित है।[2] तथा वह अनुप्रास भी इस पुनक्तभेद से पुनः अनेकधा हो जाता है।

स्वर व्यंजन समुदाय की पुनरुक्ति को यमक अलंकार कहते हैं।[3]

अर्थ की पुनरुक्ति अथवा शब्दार्थ पुनरुक्ति को काव्य में दोष माना जाता है। किन्तु शब्द और अर्थ दोनों की सहभावेन पुनरुक्ति होने पर यदि तात्पर्य में कुछ भेद हो तो अलंकारिकों ने उसे अलंकार मानते हुए

---

१. केवलव्यंजनमात्रसादृश्यमेकधा, समुदायसादृश्यं व्यादीनाञ्च परस्परसादृश्यमन्यथाभावः। वृत्तिस्तु रसविषयो व्यापारः। तद्वती पुनवर्णरचनेह-वृत्तिः। सा च परुषकोमलमध्यमवर्णरब्धत्वात्त्रिधा। तदुपक्षितोऽयमनुप्रासः।

—अलंकार सर्वस्व पृष्ठ ३०-३१

(ख) माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।
ओजः प्रकाशकैस्तैश्च व्यंजनमविवक्षितस्वरं बहुशः।

—विद्याभूषण

२. (क) एकद्वित्रान्तरितं व्यंजनमविवक्षितस्वरं बहुशः।
आवर्त्यंयते निरंतरमथवा यदसावनुप्रासः॥

—रुद्रट काव्यालंकार २.१८

(ख) द्वयोर्व्यंजनसमुदाययोः परस्परमनेकधा सादृश्यं (पुनरुक्तिः) संख्यानियमः। संख्यानियमे छेकानुप्रासः।······अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः। अलंकार सर्वस्व पृ० २८

(ग) वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च। सरस्वती कण्ठाभरण पृ. २५३ निर्णय सागर संस्करण (१९३४)

३. (क) स्वरव्यंजनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम्।

—अलंकार सर्वस्व पृ. ३३

(ख) सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्ति र्यमकं विनिगद्यते॥ —साहित्य दर्पण १०.८

लाटानुप्रास संज्ञा दी है।[1] अन्यथा (तात्पर्यभेद के अभाव में) अर्थ पुनरुक्ति अथवा शब्दार्थ पुनरुक्ति को महान् दोष के रूप में देखा जाता है।[2]

पुनरुक्ति के उपर्युक्त अनेक भेदों को संक्षेप से तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है—१. शब्द पौनरुक्त्य २. अर्थ पौनरुक्त्य ३. शब्दार्थ पौनरुक्त्य।[3]

किन्तु दोष के प्रसंग में केवल अर्थ की पुनरुक्ति का ही परिगणन करना चाहिए शब्द की पुनरुक्ति का नहीं। क्योंकि शब्द पुनरुक्ति होने पर भी अर्थभेद होने पर उसे दोष न मानकर अलंकार मानते हैं।[4] क्योंकि वहां शब्द साम्य होने पर भी न रस निष्पत्ति में व्याघात होता हैं और न अन्यथा चारुत्वव्याघात ही। जैसे—

---

१. (क) तात्पर्यभेदवत्तु लाटानुप्रासः। तात्पर्यमन्यपरत्वम्। तदेव भिद्यते न तु शब्दार्थयोः स्वरूपम्। —अलंकार सर्वस्व पृ. २८

(ख) शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः।

उदा० तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि॥

मम्मट—काव्यप्रकाश ९.४

(ग) तात्पर्यमात्रभेदिनो नाम्नः पदस्य वा लाटानाम्। काव्यानुशासन पृ. २४९ निर्णय सागर प्रकाशित १९३४ संस्करण

(घ) तुल्याभिधेयभिन्नतात्पर्यशब्दावृत्तिर्लाटानुप्रासः

—अलंकार रत्नाकर पृष्ठ ५

२. तत्रार्थपौनरुक्त्यं प्ररुढं दोषः। —अलंकार सर्वस्व पृ. १५

शब्दार्थपौनरुक्त्यं प्ररुढं दोषः।

—पृष्ठ १८ शारदा भवन काशी से मुद्रित

—पृ. २० तथा २७ निर्णवसागर से प्रकाशित

३. इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यं शब्दार्थपौनरुक्त्यं चेति त्रयः पौररुक्त्य-प्रकाराः।

—अलंकार सर्वस्व पृष्ठ १५, शारदा भवन काशी से प्रकाशित

४. पौनरुक्त्यमार्थमेकमेवाभ्युपगन्तुं युक्तं न शाब्दं तस्यार्थभेदे सत्यदुष्टत्वाद्। यदुक्तम्—तच्च न शब्दपुनरुक्तं पृथग्वाच्यम् अर्थपुनरुक्तेनैव गतार्थत्वात्, नह्यर्थभेदे शब्दसाम्येऽपि कश्चन दोषः॥

— व्यक्ति विवेक पृष्ठ २८८

हसति हसति स्वामिन्युच्चै रुदत्यपि रोदिति।
द्रविणकणिकाक्रीतं यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति ।। इति

इस पद्य में यद्यपि हसति, नृत्यति पदों की आवृत्ति है किन्तु एक पद तिङन्त तथा द्वितीय शतृप्रत्ययान्त सप्तमी विभक्तिस्थ है; फलतः अर्थ भेद होना स्वाभाविक ही है, ऐसी स्थिति में शब्द पुनरुक्ति होने पर भी दोष नहीं माना जाएगा। अर्थ में अभेद होने पर पुनरुक्ति दोष होगा, किन्तु जैसा पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है अर्थ में अभेद होते हुए भी यदि तात्पर्य में भेद हो तो दोष न होगा। अपितु उसे लाटानुप्रास अलंकार की संज्ञा मिलेगी। जैसा कि हम निम्नलिखित उदाहरण में देख सकते हैं—

वस्त्रायन्ते नदीनां सितकुसमधराः शक्रसङ्काश ! काशाः
काशाभा भान्ति तासां नवपुलिनगताः श्रीनदीहंस ! हंसाः।
हंसाभोऽम्भोदमुक्तस्फुरदमलवपु र्मेदिनीचन्द्र ! चन्द्र-
श्चन्द्राभः शारदस्ते जयकृदुपगतो विद्विषां काल ! कालः ।।[1]

प्रस्तुत पद्य में काश हंस चन्द्र तथा काल शब्द की पुनरुक्ति है, किन्तु 'शक्रसङ्काश, श्रीनदी हंस मेदिनीचन्द्र एवं विद्विषांकाल पदों में उक्त शब्द संबोध्य के लिए प्रयुक्त है, जबकि अन्यत्र काशाभा हंसाभ चन्द्राभ पदों में उपर्युक्त शब्द ही उपमान के रूप में प्रयुक्त है, साथ ही, 'काशाः' 'हंसाः' 'चन्द्रः' तथा कालः शब्द उपमेय के रूप में। इस प्रकार समानार्थक होते हुए भी इन पदों में तात्पर्यगत महान् भेद है, फलतः इस पद्य में पुदरुक्ति दोष न मानकर लाटानुप्रास माना जाएगा।

अर्थ में अभेद के साथ ही तात्पर्य में भी अभेद होने पर पुनरुक्ति को दोष ही कहा जाएगा जैसे :—

'जक्षुर्बिसान्धृतविकासिबिसप्रसूनाः'

इस पद्य में बिस शब्द की पुनरुक्ति है, अतः यह प्रयोग सदोष कहा जाएगा। दोष निराकरण के लिए उत्तरवर्त्ती बिस शब्द का सर्वनाम द्वारा परामर्श किया जाना चाहिए। उपर्युक्त उदाहृत पद्य में 'एक 'स्थान पर बिस शब्द घास' (भोजन) क्रिया के कर्म के रूप में विद्यमान

---

१. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ५.१.१०

है तथा अन्यत्र 'प्रसून' का सम्बन्ध वाचक है' इस आधार पर तात्पर्य भेद की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि तात्पर्य भेद उसे कहा जाता है, जहां कोई पद अपने अर्थ के अभिधान के साथ ही मुख्यत: अर्थान्तर की प्रतीति करता हो, जैसाकि पूर्व उदाहरणों में स्पष्टत: देख सकते हैं। यहां ऐसी बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि दोनों बिस शब्दों द्वारा प्राप्त अभिधेयार्थ में किसी प्रकार का भेद नहीं है।

अतएव यहां (उक्त पद्य में) द्वितीय बिस शब्द का प्रयोग न कर सर्वनाम शब्द द्वारा उसका परामर्श किया जाना चाहिए।

इस प्रकार पुनरुक्ति का सर्वप्रथम भेद हुआ कि सर्वनाम द्वारा परामृश्य का स्वशब्दत: परामर्श किया जाना।

उस स्थिति में जबकि कोई संज्ञाशब्द समास में विद्यमान है एवं पुन: उसके परामर्श की अपेक्षा हुई तो सर्वनाम द्वारा उसका परामर्श होना चाहिए अथवा स्वशब्देन कथन होना चाहिए? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि यद्यपि उन स्थलों में सन्देह तो हो सकता है कि जो शब्द समासगत हैं, उनकी समस्त रूप से पद संज्ञा होती है, अत: समासगत एक शब्द, जो अब पद नहीं पदांशमात्र है, का परामर्श सर्वनाम द्वारा न होकर शब्द द्वारा ही कथन होना चाहिए, किन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसे स्थलों में भी स्वशब्द वचन उचित मार्ग नहीं है, वहां भी सर्वनाम द्वारा ही परामर्श होना चाहिए। कारण यह है कि सर्वनाम शब्दों में दो प्रकार की परामर्श योग्यता विद्यमान है, शाब्दी तथा आर्थी। यदि वाक्यगतशब्द समस्त न होकर स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त हो रहा है, तो वह प्रधान होकर अपने अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। ऐसे शब्दों का सर्वनाम परामर्श योग्य होना शाब्दी योग्यता कहलाती है। जैसे :—

चारुता वपुरभूषयदासां तामनूननवयौवनयोग:।
तां पुनर्मकरकेतनलक्ष्मी: तां मदस्तमपि वल्लभसङ्ग:॥[1]

इस पद्य में चारुता आदि पद असमस्त रूप में प्रयुक्त हैं, अतएव प्रधानतया कर्तृत्वेन विवक्षित हैं, उनका पुन: तत् शब्द द्वारा परामर्श

१. शिशुपालवध १०.३३

किया गया है, अतः यहां तत् शब्द में शाब्दी परामर्श योग्यता विद्यमान है, ऐसा कहा जा सकता है।

यदि कोई पद समस्त होकर प्रयुक्त हो रहा हो तो वह पद प्रधानतया विवक्षित न होकर अन्य के सम्बन्धीके रूप में प्रयुक्त होने से अप्रधान माना जाएगा, ऐसे स्थलों में भी उन प्रधान पदों का सर्वनाम शब्द द्वारा परामर्श किया जाता है, उसे आर्थी परामर्श योग्यता कहा जाएगा। जैसे :—

'भाति सितभूतिलिप्तः शशांक मौलिस्तदंशुनिचित इव'

यहां तत् पद द्वारा शशाङ्क पद का परामर्श हो रहा है, किन्तु वह शशाङ्क शब्द 'शशाङ्कमौलिः' समस्त पद में विद्यमान होने से अप्रधानतया है, अतः ऐसे स्थलों पर सर्वनाम द्वारा जो परामर्श होता है, वह आर्थी योग्यतावश होता है। इसी प्रकार—

जयति निशापतिमौलिर्दधन्महाकालविभ्रममजस्रम्।
तत्तमसामिव लक्ष्म्या कण्ठविषच्छाययाच्छुरितः॥'

इस पद्य में अन्य पदार्थ शंकर के लिए प्रयुक्त गुणीभूत निशापतिपद है, इस निशापति शब्द में भी गुणीभूत निशा शब्द है, उसका परामर्श तत् शब्द द्वारा तृतीय चरण में किया गया है। इस प्रकार समास में प्रयुक्त होने के कारण अप्रधान शब्द का सर्वनाम द्वारा परामर्श आर्थी योग्यता द्वारा माना जाएगा। उपर्युक्त दोनों ही उदाहरणों में सर्वनाम द्वारा परामृश्यमान संज्ञा शब्द पर्याप्त अन्तर पर प्रयुक्त है, किन्तु फिर भी प्रथम पद्य में शशाङ्क सम्बन्धि अंशु का ग्रहण होने से तथा द्वितीय पद्य में निशा सम्बन्धी तमस् का ग्रहण होने से तत् शब्द उक्त दोनों पदार्थों का बोध कराने में समर्थ हो जाता है। उक्त दोनों सम्बन्धियों अंशु तथा तमस् के अभाव में केवल तत् शब्द से उनका (शशाङ्क तथा निशा का) परामर्श होना सम्भव न था। जैसाकि हम निम्नलिखित पद्य में देख सकते हैं—

जयति जगत्त्रयजनको नगेन्द्रतनयानिरुद्धार्धदेहः।
सा च भुवनैक जननी यया विना सोऽपि हि विहस्त.॥

इस पद्य में स्त्रीलिंग में प्रयुक्त तत् शब्द द्वारा समासगत होने के

कारण नगेन्द्रतनया का सम्बन्धि निर्देश न होने के कारण परामर्श होना उचित नहीं है, साथ ही पुल्लिग में प्रयुक्त तत् शब्द (सः पद) द्वारा किसका परामर्श हो यह विचारणीय रहता है, क्योंकि उक्त सर्वनाम से सर्वाधिक निकटवर्ती नगेन्द्र शब्द है, जो तनया के साथ समस्त होकर अप्रधानतया प्रयुक्त है। इसके अतिरिक्त इसी पद्य में 'जगत्त्रयजनक:' तथा 'निरुद्धार्धदेह:' पदों द्वारा शंकर पदार्थ का निर्देश हुआ है, अतः तत् शब्द दोनों में किसका परामर्शक हो ? यह आशंका उठ सकती है, जिसका समाधान उपर्युक्त सिद्धान्त से होगा। अर्थात् चूंकि शशाङ्क और निशापति के सम्बन्धी अंशु और तमस् की भांति नगेन्द्र के किसी सम्बन्धी का निर्देश नहीं किया गया है, अतः सः पद द्वारा नगेन्द्र का परामर्श न होकर 'जगत्त्रय जनक' शंकर रूप पदार्थ का ही परामर्श होगा।

उपर्युक्त पद्य में 'तनया' के स्थान पर 'सुतया' पाठ विपर्यास कर देने पर उक्त शब्द समासगत न रहेगा। ऐसी स्थिति में सम्बन्धि निर्देश के अभाव में भी 'सा' पद द्वारा नगेन्द्र तनया के परामर्श में कोई दोष न रह जाएगा। प्रकृत उदाहरण 'जक्षुबिसम्' इत्यादि में सम्बन्धी शब्द प्रसून का निर्देश होने पर बिस का परामर्श स्वतः ही सम्भव है। ऐसी स्थिति में बिस शब्द के पुनरुपादान में पुनरुक्ति दोष होगा। अतः दोषनिवारण के लिए 'जक्षुबिसं विकचमस्य दधुः प्रसूनम्' इत्यादि रूप में पाठ करना अधिक उचित होगा। ऐसा पाठ करने पर आर्थ प्रक्रम भेद दोष का भी निराकरण हो जाएगा।

व्यक्ति विवेक के प्रसिद्ध प्राचीनतम टीकाकार आचार्य रुय्यक महिमभट्ट के उक्त विवेचन से सहमत नहीं है। उनका कथन है[1] कि

---

१. यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते 'इति न्यायेनात्रातिप्रौढितया ग्रन्थकारो निजायत्तां पदार्थव्यवस्थां कर्त्तुमारब्धः, येन 'तदंशुनिचित' इति 'तत्तमसाम्' इति च शशाङ्कस्य निशायाश्च तच्छब्देन परामर्शमघटमानमपि समर्थ्यते, जक्षुर्बिसं धृतविकासिबिसप्रसूना' इत्यत्र च विसप्रसूनशब्दस्य संज्ञापदस्यापि विसशब्दाश्रयेण सूक्ष्ममेक्षिकया पौनरुक्त्यं दोषमुद्भावयति। न चैतत् समर्थनं हृदयहारि, यस्माच्छशाङ्कमौलिरिति च निशापतिमौलिरिति च संज्ञाशब्दावेतौ संज्ञाशब्दानां च विद्यमानस्याप्यर्थानुगमस्य न प्रयोजकत्वं रुढेः प्राधान्यात्। ततश्चात्र न शशाङ्कार्थो न निशार्थः कश्चित्। किन्तूपायमात्रेण-

'इस प्रसंग में ग्रन्थकार समस्त परम्पराओं से स्वतन्त्र होकर एकमात्र स्वयं द्वारा ही स्वीकृत पदार्थव्यवस्था कर रहे हैं। जिसके फलस्वरूप 'तदंशुनिचित' तथा 'तत्तमसाम्' इन वाक्यांशों में तत् द्वारा क्रमशः शशाङ्क तथा निशा का अवबोध होता है, ऐसा स्वीकार करते हैं, यद्यपि वह उचित नहीं है, साथ ही 'जक्षुर्बिसान् धृतविकासिबिसप्रसूनाः' इत्यादि पद में बिस शब्द का आश्रयण कर 'बिसप्रसून' शब्द के प्रयोग में पुनरुक्ति दोष उद्‌भावना करते हैं, इनकी (आचार्य महिमभट्ट की) उपर्युक्त दोनों ही व्यवस्थाएं उचित नहीं हैं, क्योंकि शशाङ्क-मौलि' एवं निशापति शब्द समस्त होकर संज्ञा पद के रूप में व्यवहृत हो रहे हैं। शब्द शास्त्र के आचार्यों की यह एक सामान्य व्यवस्था है कि रूढ़ि संज्ञा पदों का यदि विग्रह के अनन्तर कोई यौगिक अर्थ प्राप्त भी होता हो

तावर्थावाश्रित्य संज्ञिविशेष एवात्र विवक्षितः। एवञ्च संज्ञ्यन्तर्गतयोः शशाङ्कनिशयोस्तच्छब्दपरामर्शो न सहृदयहृदयान्यावर्जयतीति हठसमर्थन-मेतत्। किं च शशाङ्कमौलिरित्यत्र वरं शशाङ्कस्य भवतु सर्वनाम्ना परामर्शः तस्य वक्राकृतेस्तत्र सन्निहितत्वात्, निशापतिमौलिरित्यत्र तु निशायाः परा-मर्शः पापात् पापीयान्, निशापतेरेवोक्तक्रमेण तत्र सन्निहित्वात्। निशाया उपलक्षणमात्रत्वेनोपयोगिन्यास्तत्र सम्भवाभावात्। यत्र च तस्य एव न सम्भवस्तत्र का वार्ता तमसाम्। तदयम् 'अन्धो मणिमविन्दत्, तम-नङ्गुलिरानयद्' इति न्याय आयातः। अपि च यत्र प्रसारितानुगमेन शब्देन संज्ञिनः प्रत्यायनं क्रियते, परं तत्रानुगमोत्कर्षाद् भवति सर्वनामपरामर्शः। यथा—

'उत्सवाय जगतः स जायतां रोहिणीरमणखण्डमण्डनः।
तत्प्रभाभिरिव पूरितं वपुर्भाति यस्य सितभस्मगुण्ठितम्॥'

अत्र हि पदव्यापिनी संज्ञान्वर्थत्वमेवोत्कर्षयति। तेनात्र परामर्शो नाप्रतीतिकरः। प्रकृते तु तादृश्यपि गतिर्नास्ति। आस्तां वा प्रकृतम्। अत्रापि हि रोहिणीरमणेत्यादौ यदि सूक्ष्मेक्षिका क्रियते, तदा संज्ञाप्राधान्यात् तदंशस्य सर्वनामपरामर्शो नादुष्टतां भजते। प्रकृते तु पापात् पापीयान् परामर्शः। कृतं चात्र समर्थनं ग्रन्थकृता। तदेतदस्य विश्वमगणनीयं मन्य-मानस्य स्वात्मनः सर्वोत्कर्षशालितास्थापनमिति।

—व्यक्ति विवेक व्याख्यान, पृ. २९२-२९३ चौखम्बा संस्करण।

तो वह गृहीत नहीं होता।'[1] फलत: रूढ़ि की प्रधानता के कारण 'शशाङ्क मौलि' पद में न तो शशाङ्क पद का कोई अर्थ रह जाता है और न निशापति शब्द में निशा शब्द का ही। क्योंकि ये दोनों पद समस्त पद (शशाङ्कमौलि अथवा निशापति आदि) में उपाय मात्र के रूप में व्यवहृत होकर शंकर और चन्द्र अर्थ की प्रतीति कराते हैं। फलत: उक्त समस्त पदों के अंश विशेष से चन्द्र निशा आदि का बोध कराना सहृदय जनों को उचित नहीं लगता। अत: महिम भट्ट को उपर्युक्त पद व्यवस्था हठ मात्र है। चूंकि शंकर की आकृति में वक्र चन्द्रमा की सत्ता है, इस आधार पर शशाङ्क मौलिपद में शशाङ्क की कल्पना चाहे को भी जा सके, किन्तु निशापति मौलिपद में विद्यमान निशा शब्द से निशा का परामर्श करना तो अत्यन्त ही हेय है, क्योंकि उपक्रम से निशापति की ही उपस्थिति हो सकती है, निशापद वहां उपलक्षण मात्र है, अत: उसकी प्रतीति कथमपि सम्भव नहीं है।

इस प्रकार के समस्त संज्ञा पदों की उपस्थिति में खण्ड भाग का स्वतन्त्र अर्थ लेना वहीं उपयुक्त माना जा सकता है, जहां अन्वर्थ संज्ञा मानकर संज्ञापद में उत्कर्ष को प्रतीति होतो हो तो ऐसी स्थिति में उस खण्डांश का सर्वनाम द्वारा परामर्श ही उपयुक्त माना जाएगा। यथा—

उत्सवाय जगत: स जायतां रोहिणीरमणखण्डमण्डन:।
तत्प्रभाभिरिव पूरितं भाति वपु र्यस्य सितभस्मगुण्ठितम्॥

इस पद्य में शंकर वाचक 'रोहिणीरमणखण्डमण्डन' पद में विद्यमान रोहिणीरमण शब्द अन्वर्थता के कारण संज्ञा में उत्कर्ष का आधान करता है, अतएव रुय्यक के अनुसार उसका तत् द्वारा परामर्श करना उतना सहृदयहृदय उद्वेजक नहीं माना जा सकता, किन्तु प्रकृत में ऐसी स्थिति नहीं है। वस्तुत: अधिक सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो यहां भी रुढ़ि अर्थ की प्रधानता के कारण रोहिणीरमण का तत् शब्द द्वारा परामर्श दोषमुक्त नहीं कहा जा सकता। निशापति मौलि आदि में निशा का परामर्श तो कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता, यद्यपि

---

१. रुढ़िर्योगाद्बलीयसी।

ग्रन्थकार ने यहां समर्थन किया है, यह उनकी अहंमन्यता मात्र है।

वस्तुतः भाषा व्यवहार में जब दो पद समस्त होकर किसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, तो प्रारम्भ में उनका यौगिक अर्थ ही प्रतीति होता है किन्तु धीरे-धीरे प्रयोग परम्परा में प्रवाहित हो जाने पर उन पदों का यौगिक अर्थ उपेक्षित एवं रुढ़ि अर्थ का उदित होने लगता है। कालान्तर में वे पूर्णतः रुढ़ि बन जाते हैं, पंकज और कुशल अनुकूल प्रतिकूल आदि शब्द की प्रयोग परम्परा इसको साक्षी है। आचार्य रुय्यक के द्वारा उत्थापित आलोचना का यही भाषा वैज्ञानिक आधार है। किन्तु इतना होने पर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक यौगिक शब्द के रुढ़ि के रूप में प्रसिद्ध हो जाने पर उस शब्द द्वारा यद्यपि रुढ्यर्थं ही प्रधानतया प्रतीति होता है तथापि छाया रूप से यौगिक अर्थ भी प्रतीत हुए विना नहीं रहता, यही कारण है कि पर्यायवाची विभिन्न शब्दों में प्रतीति भेद स्थिर रहता है। फलतः आचार्य महिमभट्ट के उपर्युक्त विवेचन की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

अब तक पौनरुक्त्य का उदाहरण सहित सामान्य परिचय दिया गया है। यह पौनरुक्त्य पांच प्रकार का हो सकता है।

१. प्रकृति पौनरुक्त्य
२. प्रत्यय पौनरुक्त्य
३. प्रकृति प्रत्यय पौनरुक्त्य
४. पद पौनरुक्त्य
५. वाक्य पौनरुक्त्य

अब हम क्रमशः पौनरुक्त्य के इन भेदों पर विचार करेंगे।

प्रकृति पौनरुक्त्य :—जहां किसी अर्थ की प्रतीति के हेतु कोई साधन विद्यमान है, वहां उक्त अर्थ की प्रतीति के लिए किसी प्रकृति का प्रयोग करना **प्रकृति पौनरुक्त्य** माना जाएगा। यहां प्रकृति पौनरुक्त्य में यद्यपि केवल प्रकृति का प्रयोग नहीं होता, अपितु प्रत्ययान्त प्रकृति (पद) का ही प्रयोग होता है, किन्तु उस पद में प्रकृत्यर्थं ही पुनरुक्त होता है प्रत्ययार्थं नहीं; अतः उस प्रयोग को **प्रकृति पौनरुक्त्य** ही कहा जायेगा। जैसे—

**'अश्वीयसंहतिभिरुद्धतमुद्धुराभिः
भूरेणुजालमखिलं वियदाततान।'**

इस पद्य में अश्व शब्द से 'छ' प्रत्यय का प्रयोग समूह अर्थ में किया गया है साथ ही समूहार्थक संहतिशब्द का भी प्रयोग किया गया है, जो अनावश्यक रूप से पुनः प्रयुक्त है। यहां केवल 'अश्वाः' पद (बहुवचनान्त अश्व शब्द) के प्रयोग से ही अश्व समूह की प्रतीति हो जाती है, अतः समूहार्थक छ प्रत्यय तथा उसी अर्थ के अभिधायक संहति शब्द का प्रयोग पुनरुक्त है।

उपर्युक्त पद्य में यद्यपि ग्रन्थकार ने 'च' शब्द द्वारा अश्व शब्द से विहित 'छ' प्रत्यय तथा 'भिस्' विभक्ति की प्रकृति संहति शब्द दोनों की पुनरुक्ति को स्वीकार किया है, किन्तु 'संहति' शब्द को लक्ष्य मान कर इसे प्रकृति पौनरुक्त्य नाम दिया गया है।

वस्तुतः उपर्युक्त पद्य में कवि ने अश्वों के समूह की अतिविशालता की विवक्षा वश छ प्रत्यय तथा संहति शब्द का प्रयोग किया है, फलतः राजा की अति प्रवृद्ध अश्व सैन्य शक्ति की व्यंजना होकर राजा के प्रति अनुराग भाव की व्यंजना होती है। ऐसी स्थिति में इस पुनरुक्ति को पौनरुक्त्य दोष न मानकर कवि विवक्षा-प्रयुक्त पुनरुक्ति मानना अधिक उचित होगा। जैसा कि हम प्रयोग परम्परा में किसी विशेष उद्देश्य से एक शब्द का ही दो बार प्रयोग पाते हैं।[२]

---

१. केशाश्वाभ्यां यञ्छौ। 'पाणिनीय अष्टाध्यायी ४.२.४८
अर्थ 'आभ्यां' (केशाश्वाभ्यां) यथाक्रममेतौ वा स्तः समूहे। कैश्यम्, कैशिकम् अश्वीयम् आश्वम्। —अन्नंभट्टकृत व्याकरणमिताक्षरा

२. (क) यो वा एतावेवं वेदापहत्यपाप्मानमनन्ते स्वर्गेलोके लोके प्रतितिष्ठति, प्रतितिष्ठति। सामवेदीय तलवकारोपनिषद्—४.३४ पृ. ५२
भाष्य-अतिशयद्योतनार्थोऽभ्यासो ग्रन्थसमाप्तिद्योतनार्थो वा। भीमसेनभाष्य। पृ. ५३ कल्याण प्रेस काशी से प्रकाशित
यहां अतिशय, ग्रन्थसमाप्ति अथवा अवश्यंभाविता अर्थ में 'प्रतितिष्ठति' पद का पुनः प्रयोग किया गया है।

(ख) ...तेजस्विनावधीतमस्तु माविद्विषावहै। ओम् शान्तिः शान्ति शान्तिः।
—कठोपनिषद् ६.१९ प्रकाशक वही
यहां समस्त दुःखशान्ति की विवक्षा से शान्ति शब्द की तीन बार आवृत्ति हुई है।

आचार्य पाणिनि भी नित्य वीप्सा वर्जन सामीप्य सुन्दर सम्पत्ति कोप कुत्सन (निन्दा) भर्त्सन पीड़ा आदि की प्रतीति के लिए कुछ विशिष्ट शब्दों के पुनः प्रयोग का समर्थन करते हैं।[1] चूंकि आचार्य पाणिनि शब्द प्रयोग की व्यवस्था दे रहे हैं, अतः कुछ विशिष्ट अर्थों में ही शब्द की पुनरुक्ति की व्यवस्था दे रहे हैं अर्थ पुनरुक्ति स्वतः अन्तर्निहित है। इसी प्रकार किसी अर्थ विशेष पर बल देने के लिए, कुछ विशिष्ट अर्थ की अभिव्यंजना के लिए अर्थ मात्र का भी पुनर्वचन

(ग) नमः परम ऋषिभ्यः नमः परम ऋषिभ्यः।

—प्रश्नोपनिषद् ६.८ प्रकाशक वही

यहां प्रश्न समाप्ति द्योतन के लिए वाक्य का ही पुनः प्रयोग किया गया है।

(घ) तस्यैते कथिताः ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मनः।

—श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.२३ प्रकाशक वही।

यहां परिसमाप्ति अथवा अवश्य अर्थ में वाक्यांश पुनरुक्त है।

(ङ) स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते, न च पुनरावर्त्तते। न च पुनरावर्त्तते। छान्दोग्योपनिषद्। भाष्य······द्विरभ्यासः उपनिषद्विद्या परिसमाप्त्यर्थः।

—शांकर भाष्य—(गीताप्रेस से प्रकाशित) पृ. ९४३-९४६

(च) क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद् गिरः खेमरुतां चरन्ति।

—कुमार संभव ३.७२

प्रस्तुत पद्य में संहर पद की आवृति भय की अभिव्यंजना के लिए है।

(छ) 'गतः गतः', विरहात्पीड्यमानस्येयमुक्तिः।

.—सिद्धान्तकौमुदी पृ. ९४९

सेण्ट जोसप्स इण्डिस्ट्रियल प्रेस त्रिचनापल्ली से प्रकाशित

यहां गत शब्द का पीडा अर्थ के लिए पुनः प्रयोग उदाहृत है।

(ज) भर्त्सने चौर चौर घातयिष्यामि त्वाम्। —वही पृ. ९४७

यहां धमकाना अर्थ में क्रमशः चोर शब्द का पुनः कथन किया है।

१. नित्यवीप्सयोः परे वर्जने उपर्यध्यधसः सामीप्ये। वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु। आबाधे च। प्रकारे गुण वचनस्य।

—पाणिनीय अष्टाध्यायी अध्याय ८ पाद २, सूत्र ४,५,७,८,१०,१२

अनुपयुक्त नहीं है।

उचित पुनरुक्ति के उदाहरण के रूप में हम निम्नलिखित गद्य को देख सकते हैं—

'तस्मान्ममायं तृतीयः पुत्रो भविष्यति' इत्येवमुक्त्वा तमपि स्व-स्तनक्षीरेण परां पुष्टिमनयत्।[1]

इस गद्य खण्ड में तस्मान्ममायं तृतीयः पुत्रो भविष्यति, इस वाक्य के व्यवच्छेदनार्थ इति तथा एवं दो पदों का प्रयोग हुआ है।

प्रत्यय पुनरुक्ति :—भाषाविज्ञान की दृष्टि से वाक्य या पद के दो अनिवार्य तत्त्व होते हैं 'अर्थ तत्त्व' और 'सम्बन्ध तत्त्व'।[2] सम्बन्ध तत्त्व विभिन्न अर्थ तत्त्वों को परस्पर सन्निहित कर पदार्थ रूप मुक्ताओं को वाक्यार्थ रूप एकावली के रूप में परणत होने में मुख्य रूप से हेतु बनते हैं। सम्बन्ध तत्त्व (प्रत्यय) आदि के अभाव में अर्थ तत्त्व (प्रकृति धातु आदि) किसी भाव की प्रतीति नहीं करा सकते। इसीलिए वैयाकरणों का सिद्धान्त है कि 'न केवल प्रकृति का प्रयोग किया जाना चाहिए और न केवल प्रत्यय का।[3] प्रत्यय भी प्रकृति के साथ मिलकर उन विशिष्ट अर्थों का अभिधान करते हैं, जिन अर्थों में उस प्रत्यय का विधान किया गया होता है। जैसे क्रियापदों में प्रयुक्त लट् लिट् लुट, लृट आदि प्रत्यय' वर्तमान भूत भविष्यत् के अभिधायक होते हैं। क्त क्तवतु आदि प्रत्यय भूतकाल अर्थ में विहित होने पर भूतकाल आदि का अभिधान करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं प्रत्येक प्रकृति के साथ प्रयुक्त प्रत्यय

---

१. हितोपदेश।

२. (क) वाक्य का विश्लेषण करने पर हमें पता चलता है कि उसमें दो तत्त्व मिले रहते हैं कुछ ध्वनियां अर्थतत्त्व का बोध कराती हैं, और अन्य उन अर्थतत्त्वों के परस्पर सम्बन्ध का। —पृ. ७१-७२

—सामान्य भाषा विज्ञान (बाबूराम सक्सेना)
हिन्दीसाहित्यसम्मेलन प्रयाग

(ख) वाक्य में दो तत्त्वों की अनिवार्य स्थिति है—अर्थतत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व चीनी आदि अयोगात्मक भाषाओं को छोड़कर सभी भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व प्रत्यय उपसर्ग आदि के रूप में अर्थतत्त्व से जुड़कर शब्द के अंग बन जाते हैं। —पृ. २०२-२०३

—सरल भाषा विज्ञान (मनमोहन गौतम)

३. न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्ययः।

किसी न किसी विशेष अर्थ का अभिधान करने के लिए ही होते हैं। फलतः एक अर्थ का अभिधान हो जाने पर तदर्थाभिधायक अन्य प्रत्यय का प्रयोग प्रत्यय पुनरुक्ति कही जायेगो। जैसे—

'विसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः ॥' (मेघदूत १.११)

इस पद्य खण्ड में मत्वर्थ की प्रतीति बहुव्रीहि समास द्वारा ही हो जाती है। अतः मतुप् प्रत्यय का प्रयोग पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है। अतः 'पाथेयवन्तः' पाठ न कर 'विसकिसलयच्छेदपाथेयाः' पाठ करना चाहिए था।

इसी प्रकार—

त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीम्। (कुमारसम्भव ५.१६)

इस पद्य खण्ड में बहुव्रीहि समास द्वारा ही प्रत्यय के अर्थ की प्रतीति हो जाती है। अतः यहां भी 'वतु' प्रत्यय के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष माना जाएगा।

जैसाकि वैयाकरणों का सिद्धान्त भी हैं—

कर्मधारय समास तथा मत्वर्थीय प्रत्ययों की अपेक्षा बहुव्रीहि समास का प्रयोग अधिक प्रशस्य माना जाएगा क्योंकि बहुव्रीहि का प्रक्रम सदा ही लाघव पूर्ण होता है।'

---

१. (क) कर्मधारयमत्वर्थीयाभ्यां बहुव्रीहिर्लघुत्वात्प्रक्रमस्य। कात्यायनवचन व्यक्ति विवेक व्याख्यान से उद्धृत पृ. १५१

(ख) कर्मधारयान्मत्वर्थीयानुपपत्तिर्लघुत्वात्प्रक्रमस्य इति बहुव्रीहिणैव भवितव्यम्। काव्यालंकार सूत्रवृति २.५८

(ग) वा० समानाधिकरणसमासाद् बहुव्रीहिः भाष्य-समानाधिकरणसमासाद्बहुव्रीहिर्भवति विप्रतिषेधेन। समानाधिकरणस्यावकाशः—वीरः पुरुषोवीरपुरुषः। बहुव्रीहेरवकाशः कण्ठेकाल इति। इहोभयं प्राप्नोति वीरपुरुषको ग्रामः। बहुव्रीहि र्भवति विप्रतिषेधेन। वा०—कदाचित्-कर्मधारयः सर्वधनाद्यर्थः। भाष्यम्……किं प्रयोजनम्? कर्मधारय-प्रकृतिभिर्मत्वर्थीयैरभिधानं यथा स्यात्। किं च कारणं न स्यात्? बहुव्रीहिणोक्तत्वान्मत्वर्थीयस्य…इह हि सर्वे मनुष्याः अल्पेनाल्पेन महतो महतोऽर्थानाकाङ्क्षन्ति……तत्र कर्मधारयप्रकृतिभिर्मत्वर्थीयैर-

इसी प्रकार—

वासो जाम्बवपल्लवानि जघने गुंजस्रजो भूषणम् ।।

इस पद्य खंड में जम्बु या पल्लव शब्द के मध्य षष्ठो समास हो जाने पर जम्बु शब्द से विहित अण् प्रत्ययार्थ का अभिधान स्वत: ही हो जाता है।[1] अत: अण् प्रत्यय के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष माना जाएगा।

इसी प्रकार—

'तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः'

इत्यादि पद्य में तत् और मातङ्ग शब्दों में षष्ठी तत्पुरुष समास करने से ही 'छ' प्रत्यय के अर्थ की प्रतीति हो सकती है, अतएव यहां 'तस्येदम्' इस अर्थ में 'छ' प्रत्यय का प्रयोग पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है।

इसी प्रकार—

'येनाकुम्भनिमग्नवन्यकरिणां यूथैः पयः पीयते'

इस पद्य में वन और करि शब्दों में षष्ठी समास से ही यत् प्रत्यय के अर्थ का अभिधान हो सकता है, ऐसी स्थिति में य प्रत्यय का प्रयोग[3]

भिधानमस्तु किं बहुव्रीहिणेति। बहुव्रीहिणा भविष्यति लघुत्वात्। ....कथं गौरखरवदरण्यम्, गौरमृगवदरण्यम्, कृष्णसर्पवान् वल्मीकः, लोहितशालिमान् ग्रामः? (उत्तर) अस्त्यत्रविशेषः, जात्यात्राभिसम्बन्धः क्रियते कृष्णसर्पो नाम सर्पजातिः सास्मिन्वल्मीकेऽस्ति। यदा ह्यन्तःरेण जातिं तद्वता अभिसम्बन्धः क्रियते, कृष्णसर्पो वल्मीक इत्येव तदा भवति।

महाभाष्य (वर्णोवर्णन) २.१.३.६९. पृ ४०८-४११

(घ) न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेदर्थप्रतिपत्तिकरः इति निषेधादिनिप्रत्ययपक्षोऽपि जघन्य एव। —मल्लिनाथ

(ङ) कर्मधारयगर्भितान्मत्वर्थीयाद् बहुव्रीहिरेव वरम्, अपरया प्रक्रियाया गौरवापत्तेः। भूमिनिन्दार्थानामपि अस्त्यर्थानुयायित्वात्, न पौनरुक्त्यपरिहारः शक्यक्रियः। एकावली—पृष्ठ १७९

१. शिशुपाल वध १.६४

२. वृद्धाच्छः पा० अष्टाध्यायी ५ २.११४, त्यदादीनि च वही १.१.७४ इतिवृद्धसंज्ञा

३. तत्रभवः (अष्टाध्यायी ४.३.५३) इत्यस्मिन्नर्थे पाशादिभ्यो यः ४.२.४९

पौनरुक्त्य दोष युक्त है।

तद्धित प्रत्यय के प्रयोग में सर्वत्र इसी प्रकार पौनरुक्त्य अवश्य ही होता है, ऐसी बात नहीं। यदि किसी अर्थ विशेष की प्रतीति समास आदि से नहीं हो सकती तो ऐसे अर्थों में विहित तद्धित प्रत्यय कभी पौनरुक्त्य दोषयुक्त न होगा।

जैसे :—

'अथ भूतानि वार्त्रघ्नशरेभ्यस्तत्र तत्रसुः'[1]

इस पद्य में वृत्रघ्न पद से अपत्य अर्थ की प्रतीति के लिए अञ् तद्धित प्रत्यय का प्रयोग हुआ, जिसकी कि प्रतीति समास आदि द्वारा सम्भव नहीं है, अतः यहां प्रत्यय की पुनरुक्ति नहीं है।

३. **उभय पौनरुक्त्य** :—जब प्रकृति तथा प्रत्यय दोनों के ही अर्थ का अभिधान किन्ही अन्य शब्दों अथवा समासादि उपायों द्वारा हो रहा हो तो ऐसी स्थिति में उन प्रकृत्ति तथा प्रत्ययों का प्रयोग होने पर उभय पौनरुक्त्य कहा जाएगा। जैसे—

छायामपास्य महतीमपि वर्त्तमानाम्
आगामिनीं जगृहिरे जनतास्तरूणाम्।[2]

इस पद्य में बहुवचनान्त जनता शब्द का प्रयोग किया गया है, किन्तु यहां जन समूह अर्थ की प्रतीति केवल (बहुवचनान्त) जन शब्द द्वारा ही हो सकती थी, तथापि समूहार्थक तल् प्रत्यय[3] तथा बहुवचन जस् विभक्ति का प्रयोग हुआ है, अतः इन दोनों का ही प्रयोग होने से पौनरुक्त्य दोष है।

पद पौनरुक्त्य :—पद विषयक पौनरुक्त्य वह है जहां पूर्व अभिहित अर्थ के अभिधान के लिए पद का प्रयोग किया गया हो। जैसे—

दलत्कन्दलभाग्भूमिः सलम्बाम्बुदमम्बरम्।
वाप्यः फुल्लाम्बुजयुजो जाता दृष्टेर्विषं मम॥

---

१. किरात १५.१
२. शिशुपालवध ५.१५
३. ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्। पाणिनीयाष्टाध्यायी ४.२.४२

इस पद्य में बहुव्रीहि समासान्त 'दलत्कन्दला' भूमि पद द्वारा अंकुरित होते हुए कन्दलों से युक्त भूमि अर्थ की प्रतीति हो सकती है, इसी प्रकार 'लम्बाम्बुदम् अम्बरम्' पद द्वारा बहुव्रीहि समास द्वारा ही मेघाच्छन्न आकाश की एवं 'फुल्लाम्बुजाः वाप्यः' द्वारा विकसित कमलों से युक्त वापी की प्रतीति हो सकती है, अतः इसी अर्थ के लिए बहुव्रीहि समास के साथ ही क्रमशः ण्विप्रत्ययान्त 'भाक्' पद सह अव्यय (स) तथा युज् का प्रयोग पुनरुक्ति दोषपूर्ण माना जाएगा। इसके निराकरण हेतु निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास करना चाहिए।

इयं भूमिः दलत्कन्दा अम्बरं लम्बदाम्बुदम्।
वाप्यः फुल्लाम्बुजाश्चेमे जाता दृष्टेर्विषम्मम ।।

प्रस्तुत पाठ विपर्यास द्वारा जहां पुनरुक्ति दोष का निराकरण होता है, वहीं विशेषण पूर्वक विशेष्य के प्रक्रान्त का प्रयोग तृतीय चरण में निर्वाह न होने के कारण उत्पन्न प्रक्रम दोष का भी निराकरण हो जाता है, क्योंकि विपर्यास पाठ में प्रथम विशेष्य का एवं उसके उत्तर में विशेषण का तीनों चरणों में समान रूप से प्रयोग होने से प्रक्रम भेद दोष नहीं रह जाता।

विशेष्य पौनरुक्त्य :—वाक्य में प्रयोग के आधार पर पद अनेक प्रकार के हो सकते हैं—विशेष्य, विशेषण, संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि। इनमें विशेषण का प्रयोग विशेष्य गत वैशिष्ट्य की प्रतीति के लिए किया जाता है। ये विशेषण दो प्रकार के हो सकते हैं—

१. साधारण विशेषण
२. अनन्य साधारण विशेषण

कुछ विशेषण जो जिस किसी विशेष्य के साथ प्रयुक्त हो सकते हैं सामान्य विशेषण कहे जाते हैं। जैसे—लाल, छोटा, बड़ा आदि। इसके विपरीत कुछ विशेषण ऐसे हैं, जो अपने यौगिक अर्थ द्वारा साथ में प्रयुक्त विशेष्य का वैशिष्ट्य बताने में समर्थ तो है, किन्तु प्रयोग परम्परा के कारण जिस किसी विशेष्य के साथ उनका प्रयोग नहीं हो सकता, वे नियत विशेष्य के साथ ही प्रयुक्त होते हैं, इस प्रकार के विशेषण अनन्य साधारण विशेषण कहे जाते हैं—यथा—पंकज, नीलकण्ठ, चन्द्रशेखर आदि। इस प्रकार के अनन्य साधारण विशेषणों

के साथ यदि नियत विशेष्य का प्रयोग न किया जाए तो भी नियत साहचर्य के कारण उस विशेष्यार्थ की प्रतीति अनिवार्यतः हो जाती है, अतः इनका प्रयोग होने पर विशेष्य का प्रयोग पौनरुक्त्यजनक होता है। जैसे—

'पायात्स शीतकिरणाभरणो भवो वः'

इस पद्य में 'शीतकिरणाभरणः' (अर्थात् चन्द्र है आभरण जिसका) विशेषण का प्रयोग हुआ है, यह विशेषण केवल शंकर के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है, अन्य के लिए नहीं; क्योंकि चन्द्राभरण शंकर के अतिरिक्त कोई अन्य है ही नहीं। फलतः यहां उक्त विशेषण द्वारा ही विशेष्यभूत भव अर्थ की प्रतीति हो जाती है; अतः यहां विशेष्य पद के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष माना जाएगा।

इसी प्रकार—

चकासतं चारु चमूरुचर्मणा
कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम्।

इस पद्य में नागेन्द्र तथा इन्द्रवाहन दो पदों का प्रयोग है, क्योंकि दोनों ही शब्द यौगिक हैं, अतः अन्यतर को इतर का विशेष्य माना जा कता है। इनमें किसी एक के प्रयोग से ही अभीष्ट अर्थ की प्रतीति हो जाती है, अतः इतर के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष माना जाएगा।

जहां विशेषण द्वारा विशेष्य मात्र की प्रतीति न होकर विशेष्य गत वैशिष्ट्य विशेष की प्रतीति अभीष्ट होती है, वहां विशेषण और विशेष्य दोनों का ही प्रयोग होना चाहिए, अतः वहां पौनरुक्त्य दोष न होगा। जैसे :—

तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेःधैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये॥'

उपर्युक्त पद्य में पिनाकपाणि शब्द द्वारा हर (शंकर) गत वैशिष्ट्य-विशेष कवि विवक्षित है, अतः यहां 'पिनाकपाणि' विशेषण के साथ ही हर शब्द के प्रयोग में पौनरुक्त्य नहीं माना जाएगा।

अब यहां एक सन्देह हो सकता है कि उक्त श्लोक में जिस प्रकार

---

१. कुमार सम्भव ३.१०

वक्ता द्वारा कामदेव के लिए प्रयुक्त कुसुमायुध शब्द से विशेष्यगत वैशिष्ट्य ही विवक्षित है, विशेष्यमात्र नहीं; फिर भी विशेष्य का प्रयोग नहीं किया गया है एवं कामदेव रूप अर्थ की प्रतीति हो ही जाती है। इसी प्रकार 'पिनाकपाणि' विशेषण द्वारा भी विशेष्यगत वैशिष्ट्य की विवक्षा रहने पर भी हर रूप विशेष्य की प्रतीति हो जाएगी, फिर हर शब्द के प्रयोग को पुनरुक्ति क्यों न माना जाए ?

उपर्युक्त प्रश्न का युक्तियुक्त समाधान देते हुए आचार्य महिमभट्ट ने कहा है कि 'कुर्याम्' पद में उत्तम पुरुष के प्रयोग द्वारा ही अस्मदर्थ का अभिधान हो जाता है, अत: वक्ता के वाचक काम देव के प्रयोग की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु दूसरी ओर विशेष्यभूत हर अर्थ की प्रतीति का कोई अन्य साधन नहीं है, अत: हर शब्द का प्रयोग होना आवश्यक ही है।

पौनरुक्त्य के प्रसंग में आचार्य महिमभट्ट की यह भी मान्यता है कि एक विशेष्य के लिए प्रयुक्त धर्म तुल्यविभक्तिक सभी अन्य विषयों के साथ अन्वित हो जाता है। अत: तुल्य विभक्ति में विद्यमान अन्य विशेष्य के लिए उसी या तदर्थक विशेषण का प्रयोग पौनरुक्त्य दोष उत्पन्न करता है। जैसे—

स्वाभाविकं विनीतत्त्वं तेषां विनयकर्मणाम्।
मुमूर्च्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम्॥[२]

इस पद्य में 'विनीतत्व' के लिए 'स्वाभाविक' विशेषण दिया गया है, वह विशेषण बाधक के अभाव रहने से समान विभक्ति में प्रयुक्त 'तेज' के लिए भी अर्थत: सम्बद्ध हो सकता है, अत: तेज के साथ 'सहजं' विशेषण का प्रयोग पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है।

इसी प्रकार—

कैरवेन्दीवरच्छायौ नौम्युमाधवमाधवौ।
ब्रह्मार्चितब्रह्मनुतौ निहतान्धककालियौ॥

इस पद्य में प्रथम 'धव' शब्द तथा द्वितीय ब्रह्म शब्द पुनरुक्त है, क्योंकि इस संश्लिष्ट वाक्य में दो अप्रधान वाक्य हैं—१. कैरवसदृश

---

१. उत्तमपुरुषेणैवास्मदर्थस्य विशेष्यस्य प्रतिपादितत्वात्तदनुपादानासिद्धेः।
व्यक्ति विवेक पृ. २६८

२. रघुवंश १०.७९

वर्ण वाले, ब्रह्मा द्वारा पूजित, तथा अन्धक के वधकर्ता उमाधव (पति) को मैं प्रणाम करता हूं। २. नीलकमल सदृश वर्ण वाले ब्रह्मा द्वारा कृत प्रणाम कालिय के वध कर्ता माधव (लक्ष्मीपति अर्थात् विष्णु) को मैं प्रणाम करता हूं। दो वाक्यों के संश्लेष के अनन्तर जैसे कैरव तथा इन्दीवर शब्दों का द्वन्द्व समास कर उभय सम्बद्ध छाया पद का एक बार ही प्रयोग किया गया है।[1] इसी प्रकार अन्धक और कालिय पद को भी द्वन्द्व समास में लाकर निहत पद का एक बार ही प्रयोग किया गया है, तथा वह निहत पद दोनों से ही सम्बद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'उमा और मा पदों का तथा अर्चित और नुत पदों का द्वन्द्व समास कर इनके साथ भी क्रमशः धव तथा ब्रह्म पद का एक बार ही प्रयोग होना चाहिए, किन्तु कवि ने इनका दो दो बार प्रयोग किया है, अतः यह प्रयोग पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है। यदि इन पदों के पुनः प्रयोग को अनिवार्य माना जाता है, तो अन्य दोनों पदों, छाया तथा निहत का भी पुनः प्रयोग क्यों न अनिवार्य माना जाए ?

यहां शंका हो सकती है कि उमाधवमाधवौ एवं 'ब्रह्मार्चित ब्रह्मनुतौ' पदों में तत्पुरुषगर्भ द्वन्द्व समास, ब्रह्मार्चित ब्रह्मनुतौ' एवं उमामाधवौ पदों में द्वन्द्वगर्भतत्पुरुष समास व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से निर्दोष है, तो अन्यतम के प्रयोग को दोषपूर्ण क्यों माना जाए ?

इस शंका के उत्तर में आचार्य महिमभट्ट का कथन है कि यह ठीक है कि दोनों ही प्रयोग व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से निर्दोष है किन्तु वाक्य व्यवहार में प्रधानता वाक्यार्थ प्रतीति की होती है, अतः व्यवहार में उसका ही अनुसरण करना उचित है, केवल शास्त्र (व्याकरणशास्त्र) का नहीं और इसीलिए जितने पदों के प्रयोग से वाक्यार्थ प्रतीति सम्भव है, उतने पदों का ही प्रयोग करना उचित है अतिरिक्त पदों का नहीं।

इसी प्रसंग में पुनः शंका हो सकती है कि व्याकरणशास्त्र भी प्रतीति की उपेक्षा करके प्रवृत्त नहीं होता है, अतः शास्त्र का अनुगमन प्रतीति का स्वतः अनुगमन होगा, इस आधार पर शास्त्र समर्थित

---

१. द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते।
वैयाकरण प्रसिद्ध वाक्य

पद प्रयोग, जिसमें अतिरिक्त पद प्रयोग हो रहा हो, भी अनुचित क्यों होगा ?

इसका उत्तर स्पष्ट है कि क्योंकि प्रत्येक पद का प्रयोग वाक्य में अपना अर्थ प्रदान करता है, अतः अतिरिक्त पद के प्रयोग से अतिरिक्त अधिक अर्थ की प्रतीति होगी एवं शब्द प्रयोग अर्थ प्रतीति के लिए है अतः अर्थ प्रतीति हो जाने पर शब्द प्रयोग से क्या लाभ ?'[1] इस सिद्धान्त के अनुसार जहां दो प्रकार से अर्थ प्रतीति सम्भव होती हो, वहां जिस उपाय से लाघव के साथ पूर्ण अर्थ प्रतीति हो जाए, उसी उपाय का अनुसरण करना उचित होगा और इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रस्तुत प्रकरण में तत्पुरुषगर्भ द्वन्द्व तथा द्वन्द्वगर्भ तत्पुरुष दोनों के समान रूप से शास्त्र सम्मत तथा अर्थ प्रत्यायक होने पर लाघव के कारण 'द्वन्द्व गर्भ तत्पुरुष का प्रयोग ही अधिक उचित है, तत्पुरुष गर्भ द्वन्द्व का प्रयोग नहीं। 'ऐसे स्थलों में तत्पुरुष का समर्थन अथवा आश्रयण करने पर द्वन्द्व समास के प्रयोग का कहीं अवसर ही न रह जाएगा' यह कल्पना करना भी उचित न होगा, क्योंकि 'जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ'[2] आदि स्थलों पर द्वन्द्व के प्रयोग के लिए अवकाश रहेगा ही।

इस प्रकार उपर्युक्त पद्य में प्रथम 'धव' पद एवं द्वितीय 'ब्रह्म' पद के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष है।

इसी प्रकार—

द्विषद्वधूलोचनचन्द्रकान्त निष्यन्दनेन्दूद्वयसन्निभोऽयम्।

इत्यादि पद्य में चन्द्रकान्तमणि के निष्यन्दन व्यापार का शब्दतः कथन किया गया है, जबकि चन्द्रोदय होने पर चन्द्रकान्तमणि के निष्यदन व्यापार की अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण ही प्रतीति हो सकती है। अतएव अर्थतः प्रतीत होने वाले अर्थ के अभिधान के लिए किये गये शाब्द प्रयोग को भी पुनरुक्त दोष माना जाएगा।

किन्तु इस प्रसंग में स्मरण रखना चाहिए कि अप्रसिद्ध अर्थ के

---

१. 'तदर्थावगत्यर्थो हि शब्दप्रयोगः। अर्थश्चेदवगतः किं शब्दप्रयोगेण' इति।

—व्यक्ति विवेक पृ. ३१७-१८

२. रघुवंश १.१

वाचक पदों के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष न होगा।

जैसे—

'संसारसंभवनिराकरणैकरेखा'

इस वाक्य में अप्रसिद्धि के कारण निराकरण पद के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष की प्रतीति नहीं होती। यद्यपि रेखा पद हेय और उपादेय के विभाजन की अवधि के रूप में प्रयुक्त है एवं प्रयत्न करने पर निराकरण अर्थ की प्रतीति भी हो सकती है, किन्तु अप्रसिद्धि के कारण वह प्रतीति कष्टसाध्य है, अतः उसकी प्रतीति के लिए निराकरण पद के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष नहीं माना जाएगा।

इसी प्रकार—

त्वष्टुः सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसम्पत्प्रसरस्य सीमा'[१]

इस पद्य में भी पूर्व पद्य की भांति हेय और उपादेय को विभाजन अवधि के अभिधान के लिए सीमापद प्रयुक्त है। सीमा अर्थ की प्रतीति होने पर अभिमत अर्थ 'प्रसर' की प्रतीति हो सकती है, किन्तु वह प्रतीति अप्रसिद्धि के कारण कष्ट साध्य है, अतः 'प्रसर' पद का प्रयोग कर उसका शाब्द कथन किया गया है, फलतः प्रसर पद के प्रयोग में भी पौनरुक्त्य दोष मानना उचित न होगा।

इसके विपरीत 'द्विषद्वधूलोचन' आदि पद्य में 'सन्निभ' पद का प्रयोग किया गया है, वह पुनरुक्त है, क्योंकि 'इन्दु उदय सदृश सन्निभा अर्थात् प्रभा है जिसकी'[२] इस विग्रह के अनुसार 'राजा इन्दु उदय के सदृश है' इस अर्थ की प्रतीति हो जाती है, यह सादृश्य किस वैशिष्ट्य की विवक्षा के लिए है यह विचार करते ही उद्देश्य के रूप में प्रभा (सन्निभा) अर्थ की प्रतीति अर्थतः हो ही जाएगी, अतः उस (सन्निभा) पद का प्रयोग पौनरुक्त्य दोषयुक्त है।

इसी प्रकार—

---

१. शिशुपालवध ३.३५

२. इन्दूदयस्य इव सन्निभा यस्य

अयथार्थक्रियारम्भैः पतिभिः किं तवेक्षितेः।
अरुध्येतामितीवास्य नयने वाष्पवारिणा।[1]

इस पद्य में वारि शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि वाष्प (अश्रु) सदा ही जलरूप होता है, अन्य रूप में नहीं, अतः जलार्थक वारि पद के विना भी उसकी जलरूपता उक्त हो जाती है; फिर भी उक्त अर्थ के अभिधान के लिए 'वारि' पद प्रयुक्त है, अतः वह पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है। यहां 'वाष्पवारिणा' पद के स्थान पर 'वाष्पसम्पदा' पद का प्रयोग करना श्रेयस्कर होगा। इस पाठ विपर्यास से न केवल पौनरुक्त्य का परिहार होगा, अपितु 'सम्पदा' शब्द को स्त्रीलिंगता द्वारा द्रौपदी के प्रति उसके 'सखीत्व' अर्थ की अभिव्यक्ति होने से कुछ और भी चारुत्व का उदय हो जाएगा। हां यदि वारि शब्द के प्रयोग से वाक्य में कुछ चारुत्व की वृद्धि होती हो अथवा उसका कुछ विशिष्ट प्रयोजन हो तो ऐसे पदों के प्रयोग में दोष का अभाव माना जा सकता है। जैसे :—

'पृथ्वीपाल ! प्रतापस्ते वैद्युतेनाग्निना समः।
यो वैरिवनितावाष्पवारिणा वर्द्धतेऽधिकम्।।

इस पद्य में भी 'वाष्प' के साथ वारि पद का प्रयोग हुआ है किन्तु राजा के प्रताप के प्रति प्रयुक्त उपमान वैद्युत अग्नि[2] के उपमानत्व साधन के लिए वारि पद का प्रयोग किया गया है, अतः वह पुनरुक्त नहीं कहा जाएगा।

इसी भांति :—

---

१. शिशुपाल वध

२. उष्णस्पर्शवत्तेजः। तद्द्विविधम्। नित्यमनित्यं च। नित्यं परमाणुरूपम्। अनित्यं कार्यरूपम्। तत्पुनस्त्रिविधम् दिव्यौदर्याकरजभेदात्। अविन्धनं दिव्यं विद्युतादिः। (अन्नंभट्ट कृत तर्क संग्रह) इत्यादि वाक्यों में वैद्युताग्नि को अविन्धन अर्थात् वारि से बढ़ने वाला कहा गया है, यहां भी वाष्प के साथ वारि शब्द का प्रयोग होने से वैरिवनिता वाष्प से वृद्धि को प्राप्त होने वाले राजा के प्रताप की वैद्युताग्नि से समता सिद्ध होती है।

साहायकार्थमिव फूत्कृतमारुतेन
सन्धुक्षितः सपदि यस्य पृषत्कवह्निः।[१]

इस पद्य में 'मारुत' पद का प्रयोग किया गया है। क्योंकि फूत्कार सदा ही 'मारुत' रूप ही होता है, अतः मारुत पद का प्रयोग उक्तार्थ की प्रतीति के लिए ही होने से पुनरुक्त कहा जा सकता है। किन्तु पृषत्क (वाणों) को वह्निरूपता में सहायक होने से मारुत पद के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष नहीं माना जाएगा।

किन्तु उपर्युक्त 'अयथार्थे' आदि पद्य में वाष्प पद के साथ 'वारि' पद के प्रयोग का कोई विशिष्ट प्रयोजन नहीं है, अतएव उसके प्रयोग को पुनरुक्ति दोष माना जाएगा।

इसी प्रकार चेतना और मूढ़ता आदि चित्त धर्म हैं, अतः इन पदों के साथ चित्त पद के प्रयोग की अपेक्षा नहीं होती, फिर भी चित्त धर्मता की प्रतीति होती है। उदाहरणार्थ हम—

"तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राघवःस्खलितवीर्यमात्मनि।"[२]

"शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते।"

तथा :

'मूढो नात्ममयः क्वचित्'

इत्यादि पद्यों को देख सकते हैं। इनमें केवल 'मूढः' पद का प्रयोग है, किन्तु मूढता ऐकान्तिक चित्त धर्म है, इस संस्कार के कारण सहृदय पाठक को अनायास ही 'मूढचित्त वाला' इस अर्थ की प्रतीति हो जाती है। इसीलिए कवि ने यहां 'चित्त' पद का प्रयोग नहीं किया है।

यदि संस्कारवशात् ही प्रतीति होने वाले अर्थ के वाचक पद का प्रयोग किया जाए तो उसे पौनरुक्त्य दोषपूर्ण माना जाएगा।

---

१. क्योंकि अग्नि को 'मरुत्सखा' कहा गया है, वायु से अग्नि प्रदीप्त होती है, यहां फूत्कार से वाण वर्षा में प्रदीप्ति होती है तथा कवि यहां वाण पर वह्नित्व (अग्नित्व) का आरोप करना चाहता है, उस आरोप की सिद्धि में फूत्कार की मरुतरूपता सहायक होगी, इसीलिए मारुत पद का प्रयोग सोद्देश्य है, अतः वह पुनरुक्त नहीं है।

२. रघुवंश ११.८३

जैसे—

'अवहितचेतसः पथि जनस्य कुतः स्खलितम्।

इस वाक्य में 'चेतसः' पद का प्रयोग किया गया है क्योंकि अवधान (अवहितत्व अर्थात् सावधानता) चित्त का धर्म है, अतः 'अवहितः' कहने से ही 'सावधान चित्तवाला' इस अर्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा ही हो जाएगी, अतः उक्त पद (चेतस पद) का प्रयोग पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है।

इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि 'अवहितः पुरुषः' सावधान पुरुष है, इत्यादि वाक्यों में जब अवहितत्व को पुरुष का धर्म कहा जाता है तब वह कथन मुख्यवृत्ति से नहीं होता, अपितु चित्त सम्बद्ध होने के कारण ही पुरुष को चित्तधर्म (अवहितत्व) विशिष्ट मान कर गुणवृत्ति से होता है। अतः उपर्युक्त पद्य में चेतस पद का प्रयोग पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है।

इसी प्रकार—

अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।[1]

तथा—

'व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।'[2]

इत्यादि प्रयोगों में मूढ़ता के चित्त-(धी) के ही धर्म होने के कारण चित्त अथवा धी अर्थ की आर्थ उपस्थिति हो जाने पर भी चेतन तथा धी पद का प्रयोग कर मूढ़ता की चित धर्मता अथवा धीधर्मता का शाब्द कथन पौनरुक्त्य दोषपूर्ण होगा।

इसी प्रकार—

'उदितवपुषि नाथे प्रविकसितात्मसु कुलेषु कमलानाम्।
जगति प्रमुदितमनसि च कोऽन्यो विमनायते घूकात्॥'[3]

---

१. रघुवंश ८.८८

२. किरातार्जुनीय

३. क्योंकि उपर्युक्त प्रयोगों में 'उदितवपुषि' तथा 'प्रविकसितात्मसु' पदोंमें बपुष् तथा आत्मन् शब्द स्वरूपवाची है, स्वरूप प्रत्येक पदार्थों के साथ अव्यभिचरित रूप से रहता है, अतः उसकी अर्थ सामर्थ्यात् उपस्थिति होनी ही है,

इस पद्य में वपुष् आत्म और मनस् शब्दों के प्रयोग के बिना भी अर्थ सामर्थ्यात् इन पदार्थों की प्रतीति होकर निर्विघ्न रूप से वाक्यार्थ की प्रतीति हो सकती है, अतः इन पदों के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष मानना अनुचित न होगा।

इसी प्रकार—

किं पुनरीदृशे दुर्जाते जातामर्षनिर्भरे च मनसि नास्त्येवावकाशः शोकक्रियाकरणस्य'।

इस वाक्य में 'शोकक्रियाकरण' पद का प्रयोग किया गया है, इस समस्त पद में 'क्रिया' शब्द सामान्य क्रिया का वाचक है तथा 'शोक' शब्द विशेष क्रिया का वाचक है। विशेष सदा ही सामान्य व्याप्य होता है। अतः शोकरूप विशेष क्रिया भी 'क्रिया' सामान्य से अव्यभिचरित ही होगी। इस स्थिति में 'शोक' पद के प्रयोग से ही सामान्य क्रियार्थ की आर्थ उपस्थिति हो जाएगी, अतः यहां क्रिया पद का प्रयोग पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है। इसी प्रकार 'करण' शब्द भी क्रिया वाचक ही है। इस क्रियार्थ की प्रतीति उपरिनिर्दिष्ट प्रकार से होने पर 'करण' शब्द का प्रयोग भी पौनरुक्त्य पूर्ण है। निदान इस गद्य खण्ड में क्रिया और करण शब्द के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष है।

इसी प्रकार—

पातु वस्तारकाकान्तकलाकलितशेखरः।
जगत्त्रयपरित्राणक्रियाविधिविचक्षणः ।

इस पद्य में 'परित्राणक्रियविधिविचक्षणः' समस्त पद प्रयुक्त हैं। इसमें भी पूर्वोक्त प्रकार से 'परित्राण' क्रिया विशेष के प्रयोग से ही 'क्रिया सामान्य रूप अर्थ की प्रतीति अर्थतः हो जाएगी; अतः सामान्य क्रिया वाचक 'क्रिया' पद का एवं क्रिया अर्थ का ही अभिधान करनेवाले 'विधि' शब्द का प्रयोग पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है।

इसी प्रकार 'प्रमुदित मनसि' पद में मे शब्द प्रमोद क्रिया का कर्त्ता है एवं क्रिया कर्त्ता के विना सम्भवव नहीं हो सकती, अतः यहां कर्तृ पद मनस् भी अव्यभिचरित हुआ, अतः सामर्थ्यात् उसकी भी उपस्थिति हो जाएगी। फलतः उपर्युक्त पद्य में वपुष्, आत्मन् तथा मनस् शब्दों के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष होगा।

इसी प्रकार—

संकल्पकल्पितां कान्तां सर्वत्रोत्पश्यतोऽनिशम् ।
वियोगदुःखानुभवक्लेशो वत तथापि मे ॥

प्रस्तुत पद्य में संकल्प अनुभव और क्लेश तीनों पदों का प्रयोग पौनरुक्त्य पूर्ण है। क्योंकि कल्पना संकल्प के बिना सम्भव ही नहीं है, अतः कल्पना अर्थ के अव्यभिचरित करणभूत संकल्प की आर्थ प्रतीति अवश्यंभावनी है। फलतः प्रतीत अर्थ की प्रतीति के लिए प्रयुक्त होने से 'संकल्प' पद पुनरुक्त है। इसी भांति वियोग दुःख एक विशेष अनुभव है, विशेष सामान्य से व्यभिचरित नहीं होता। जैसाकि हम पूर्व उदाहरणों से भी देखते आ रहे हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार वियोगदुखपद से अनुभवार्थ रूप विशेष अनुभव की प्रतोति सामान्य अनुभव प्रतीति के साथ ही होगी, अतः अर्थतः सामान्य अनुभव के प्रतीत होने पर उसी अर्थ के वाचक अनुभव पद का प्रयोग भी पुनरुक्तिपूर्ण है। इसी प्रकार क्लेश शब्द भी दुख पर्याय ही है, उसके अर्थ की प्रतीति भी दुःख पद द्वारा हो रही है, अतः उक्तार्थाभिधायक होने से क्लेश पद भी पुनरुक्त है। निदान उपर्युक्त पद्य में संकल्प, अनुभव और क्लेश पद के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष है।

आचार्य महिमभट्ट के अनुसार उपर्युक्त पद्य में एक और दोष है, वह है अयुक्त समासता। क्योंकि विशेष और सामान्य अर्थाभिधायी पदों का परस्पर षष्ठी समास नहीं होता, और विशेषण विशेष्य भाव के अभाव में सामान्य पद का विशेष्य पद के साथ विशेषण समास भी नहीं होता, अतः यहां वियोगदुखानुभवक्लेशः' पद में समास विधान भी उपयुक्त नहीं है।

इसी प्रकार—

अगाधापारसंसारसागरोत्तारसेतवे ।
देहार्धकृतकान्ताय कन्दर्पद्वेषिणे नमः ॥

इस पद्य में अगाध और अपार विशेषण संसार के लिए प्रयुक्त हो रहे हैं, जो कि सागर के सामान्य धर्म है, इसलिए तथा सेतु सम्बन्ध के कारण 'संसार' पर सागर का आरोप अर्थतः सिद्ध ही है, पुनः शाब्द आरोप पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार—

चुम्बने विपरिवर्त्तिताधरं हस्तरोधि रसनाविघट्टने।
विघ्नितेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मथेन्धनमभूद् वधुरतम् ॥[1]

इस पद्य में मन्मथ पर अनल का आरोप किया गया है, किन्तु वह शाब्द न होकर आर्थ है एवं इस आर्थ आरोप में ही अतिशय चारुत्व की अनुभूति होती है, उसी प्रकार संसार पर सागर का आर्थ आरोप भी अधिक चारुत्व का हेतु होगा।

महिम भट्ट के अनुसार इस प्रसंग में यह तर्क उचित न होगा कि संसार पर सागर के आरोप की प्रतीति में पाठक को आयास करने की अपेक्षा होगी, क्योंकि सेतु उतार हेतु ही होता है, तथा संसार की सागर रूपता के अभाव में सेतु पद का प्रयोग सम्भव न होता, अतः उक्त सेतु पद का प्रयोग भी संसार की सागर रूपता की प्रतीति में हेतु होगा। निदान पाठक को अतिरिक्त आयास के बिना ही संसार की सागर रूपता की आर्थ प्रतीति हो जाती है। इस स्थिति में उक्त अर्थ की प्रतीति के लिए सागर पद का प्रयोग पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है।

वस्तुतः यहां 'उत्तार' शब्द की ही पुनरुक्ति है। शेष अंश परम्परित रूपक का उदाहरण है। परम्परित रूपक के लक्षण के अनुसार[2] संसार में सागर का आरोप शंकर में सेतु के आरोप का उपाय है, अतः यहाँ पौनरुक्त्य दोष न मानकर परम्परित रूपक की योजना का साधन मानना अधिक उचित होगा।

इसी भाँति सेतु चूंकि उत्तरण के लिए ही होता है, अतः सेतु पद के प्रयोग से प्रयोजनभूत उत्तार क्रियार्थ के बोधक 'उत्तार' पद का प्रयोग भी पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है।

इसी प्रकार 'सकलकलाकनकनिकषपाषाण' आदि वाक्यों में उपर्युक्त प्रकार से कनक तथा पाषाण आदि पदों का प्रयोग भी पौनरुक्त्य दोषपूर्ण होगा।

निम्नलिखित पद्य में नव (९) पदों के प्रयोग में पुनरुक्ति दोष है।

---

१. रघु० १९-२७

२. नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यत्।
तत्परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा ॥

करकलितनिशातोत्खातखड्गाग्रधारा—
दृढ़तरविनिपातोच्छिन्नदुष्टारिकण्ठः ॥

इत्यादि पद्य में प्रतिभा के अभाव में कवि ने केवल श्लोकपूर्ति के लिए आठ अनावश्यक पदों का प्रयोग किया है।

क्योंकि शत्रु संहार हेतु व्यवहृत होता हुई खड्ग अनिवार्य रूप से हाथ में पकड़ी हुई (करकलित) होगी। साथ ही उसका तीव्र (निशात) होना भी आवश्यक है, क्योंकि तीव्रता (शान चढ़ाए) बिना उससे शत्रु छेदन नहीं हो सकता। इसी प्रकार कोश (म्यान) से उत्खात (निकले) हुए बिना भी वह व्यापार रत नहीं हो सकती; अतएव आर्थ प्रतीति होने के कारण उपरिनिर्दिष्ट चारों ही पद (कर, कलित, निशात और उत्खात पद) अधिक प्रयुक्त हैं। क्योंकि इन पदार्थों का अभिधान अर्थ सामर्थ्य से हो जाता है, अतः उक्त अर्थों के अभिधायक करकलितादि चार पदों का प्रयोग पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है।

इसी प्रकार क्योंकि अग्रधारा के बिना खड्ग का दुष्टारिकण्ठछेदन में औचित्य नहीं हो सकता; अतः अग्रधारा रूप अर्थ की प्रतीति भी अर्थ सामर्थ्य से हो जाएगी। फलतः अग्रधारा पद का प्रयोग भी पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है।

इसी प्रकार इस पद्य में 'दृढ़तरविनिपात' पदार्थ की प्रतीति भी कण्ठच्छेदन द्वारा ही अर्थ सामर्थ्य से हो जाएगी। क्योंकि दृढ़तर विनिपात के बिना कण्ठच्छेदन ही सम्भव नहीं है; अतः उक्त दोनों पद्यों (दृढ़तर एवं विनिपात पदों) का प्रयोग भी पौनरुक्त्य दोषयुक्त है।

इस प्रकार प्रस्तुत पद्य में अरि की वध्यता के कारण ही उसमें दुष्टत्व-रूप अर्थ का बोध हो जाएगा, पुनः उसी अर्थ की प्रतीति के लिए अरि का दुष्टत्वविशेषण पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है।

इसी प्रकार हम देखते हैं उपर्युक्त पद्य में कर, कलित, निशात, उत्खात अग्रधारा, दृढ़तरविनिपात तथा दुष्ट इन आठ पदों का प्रयोग पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है। केवल खड्ग छिन्न अरि तथा कण्ठ ये चार पद ही सारभूत प्रयुक्त हो रहे हैं। कवि ने उन अनपेक्षित आठ पदों का प्रयोग केवल छन्द की पूर्ति के लिए किया है, किसी अर्थ विशेष की प्रतीति के लिए नहीं।

इसी प्रकार—

शीधुरसविषयपानक्रियावशावाप्तजन्ममदविवशा।
गलदंशुकदृश्यमुखी सुखायते किमपि कमितुरचिरोढा॥'

इस पद्य में 'शीधु' 'मद' 'विवशा' केवल इन तीनों पदों के प्रयोग से ही जिस अर्थ की प्रतीति होती है, प्रथम पंक्ति गत अन्य अनेक शब्दों के प्रयोग से उसमें कुछ भी अतिरिक्त अर्थ की वृद्धि नहीं होती; अतः अन्य सातों पदों (रस, विषय, पान क्रिया, वश, अवाप्त, तथा जन्म) का प्रयोग पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है। केवल शीधुमदविवशा इतना वाक्य ही पर्याप्त है।

इसी प्रकार—

मदिराद्रवपानवशावाप्तोदयमदविघूर्णितात्मैव।
तव तरुणि मदनदीपनमिदमक्षियुगं समाभाति॥

प्रस्तुत पद्य 'हे युवति मदिरा द्रव के कारण उदित मद से उत्पन्न विघूर्णन के सदृश काम को उद्दीप्त करने वाले तुम्हारे ये दोनों नेत्र (नेत्र युगल) प्रतीत हो रहे हैं' इस वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, जबकि यह समस्त अर्थ केवल 'मदिराक्षि' पद द्वारा सम्बोधन करने से ही प्रतीत हो सकता है, अतः इन दो पदों के अतिरिक्त शेष सभी (सोलह) पदों का प्रयोग पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है।

आचार्य भरत ने मदिराक्षि की परिभाषा देते हुए कहा भी है कि 'तरुण मद होने पर नेत्रों के अपाङ्ग (Corners) विकसित हो जाते हैं, शेष नेत्र भाग शिथिल, क्षीण-सा हो जाता है तथा नेत्र तारक अत्यन्त चंचल हो जाते हैं।'

---

१. आघूर्णमानमध्या या क्षामाचाञ्चितलोचना।
दृष्टिर्विकसितापांगा मदिरा तरुणे मदे।

—भरत नाट्यशास्त्र ८.८२ ओरियण्टल इंस्टीट्यूट बड़ौदा-१९३४

नाट्य शास्त्र संग्रह में उपर्युक्त पद्य का पाठ निम्नलिखित प्रकार से प्राप्त होता है—

दृष्टिर्विकसितापाङ्गा क्षामीभूतविलोचना।
आघूर्णमानतारा स्यान्मदिरा तरुणे मदे। —नाट्यशास्त्र संग्रह

सरस्वती महल लाइब्रेरी तंजोर संस्करण १९५३

इस प्रकार केवल 'मदिराक्षि' सम्बोधन से ही अविकल पद्यार्थ की प्रतीति सम्भव होने पर भी इतने विशाल वाक्य का प्रयोग दोषपूर्ण है। फलतः इस पद्य गत 'द्रव' आदि सोलह पदों का प्रयोग पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है।

इस प्रकार उपर्युक्त पद्य वाक्य में वाक्यार्थ की दृष्टि से उपादेय 'मदिराक्षि' सम्बोधन पद के अतिरिक्त अन्य एक अथवा एकाधिक पदों के प्रयोग से इसी वाक्य को अनेक पदों की पुनरुक्ति के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया जा सकता है।

निम्नलिखित उदाहरण में क्रिया पद का प्रयोग नहीं है फिर भी क्रियार्थ की आर्थ प्रतीति में कोई अन्तराय नहीं होता—

मा भवन्तमनलः पवनो वा, वारणो मदकलः परशुर्वा।
वज्रमिन्द्रकरविप्रसृतं वा स्वस्ति तेऽस्तु लतया सह वृक्ष।

यहां वज्रमिन्द्रकरः 'मा भवतु' इस अर्थ की प्रतीति केवल मा पद तथा वाक्यान्तर में प्रयुक्त स्वस्ति तेऽस्तु' पदों के द्वारा हो जाती है, अतः वज्रमिन्द्रकरः 'मा भवतु' इस क्रियांश वाचक पद का प्रयोग नहीं किया गया है।

इसी प्रकार

मा धाक्षीन्मा भाङ्क्षीन्मा भैत्सीज्जातुचिद् बत भवन्तम्।
सुकृतेरध्वन्यानां मार्गतरो स्वस्ति तेऽस्तु लतया सह वृक्ष।[1]

इस पद्य में दहन, भंजन, और भेदन क्रिया के निषेध द्वारा ही इन क्रियाओं के कर्तृभूत 'अनल' 'पवन' तथा काष्ठ छेदक बढ़ई आदि कारक पदों के अर्थ की प्रतीति अनायास हो जाती है, अतः इनका (कारक पदों का) प्रयोग पुनरुक्ति की सम्भावनावश नहीं किया गया है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वाक्यगत जिन पदों के प्रयोग अथवा अप्रयोग से वाक्यार्थ प्रतीति में कोई अन्तर नहीं आता ऐसे वाक्यों का प्रयोग करने से रसाभिव्यक्ति में परम्परया अन्तराय उपस्थित होता है, अतः इसे पद पौनरुक्त्य दोष माना जाता है।

---

१. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति ५-१-१९ पृ० १५४

वाक्य पौनरुक्त्य

वाक्य में प्रयुक्त कुछ पदों के द्वारा जैसे अन्य पदार्थों की प्रतीति अर्थतः हो जाती है, इसी प्रकार महावाक्य में प्रयुक्त लघुवाक्यों द्वारा अनेक वाक्यार्थों की भी आर्थ प्रतीति हो जाती है, ऐसे प्रतीत वाक्यार्थों के वाचक वाक्यों का प्रयोग भी पौनरुक्त्य दोषपूर्ण होगा। जैसे—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः।[1]

इस पद्य के पूर्वार्ध में अविवेक शब्द द्वारा अविमृश्यकारितारूप अर्थ का आपत्ति के कारण के रूप में कथन किया गया है तथा इस अर्थ के अभिधायक 'अविवेकः परमापदां पदम्' इस अन्वय वाक्य के द्वारा अविमृश्यकारिता तथा आपद के कार्यकारणभाव का प्रतिपादन किया गया है। इसके द्वारा ही कारणाभाव रूप विमृश्यकारिता का आर्थ अनुवाद होकर कार्याभावरूप सम्पति की सत्ता अर्थतः अभिहित हो जाती है। अतएव इस अर्थतः अभिहित विमृश्यकारिता जनित सम्पत्ति का पुनः **'वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः'** इस व्यतिरेक 'वाक्य द्वारा शब्द अभिधान पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है। यह अभिधान चूंकि एक पद द्वारा न होकर वाक्य द्वारा हो रहा है, अतः इसे वाक्य पौनरुक्त्य दोष की संज्ञा दी जाएगी।

इसी प्रसंग में आचार्य महिमभट्ट ने किसी अज्ञातनामा आचार्य का वाक्य उद्धृत किया है "साधर्म्येणापि प्रयोगे अर्थाद्वैधर्म्येणान्वयगतिः, असति तस्मिन् साम्याभावे हेतोरन्वयाभावात्। तथा वैधर्म्येणान्वयगतिः असति तस्मिन् साध्याभावे हेत्वभावस्यासिद्धेरिति नावश्यं वाच्यद्वयप्रयोगः'।[2]

अर्थात् किसी साध्य की सिद्धि के लिए साधर्म्य द्वारा अन्वय वाक्य के प्रयोग होने पर अर्थ सामर्थ्य से वैधर्म्येण अन्वयार्थ भी अभिहित हो जाता है, अर्थात् व्यतिरेक वाक्य के प्रयोग के बिना ही व्यतिरेक वाक्यार्थ की भी प्रतीति हो जाती है। यदि केवल अन्वय वाक्य के

---

१. किरात २.३०
२. व्यक्ति विवेक पृ० ३२६

प्रयोग होने पर भी अन्वय व्यतिरेक उभय वाक्यार्थ की प्रतीति न हो सके, तो साहचर्य नियम के अभाव में साध्य के साथ हेतु का अन्वय भी न हो सकेगा।

इसी प्रकार वैधर्म्य वाक्य का प्रयोग होने पर अर्थात् व्यतिरेक व्याप्ति के अवसर पर व्यतिरेक वाक्य का प्रयोग होने पर भी अन्वय-वाक्यार्थ की भी प्रतीति हो जाती है। यदि व्यतिरेकवाक्य द्वारा उभयायार्थ की प्रतीति सम्भव न होती तो साध्याभाव स्थल में हेत्वभाव की सिद्धि भी न हो सकेगी। तात्पर्य यह है कि अन्वय वाक्य के प्रयोग होने पर व्यतिरेकार्थ की और व्यतिरेक वाक्य का प्रयोग होने पर अन्वयार्थ की समान रूप से प्रतीति होती है, यही कारण है न्याय में एक साथ अन्वय वाक्य और व्यतिरेक वाक्य का प्रयोग प्रायः नहीं होता।

उपर्युक्त सिद्धान्त की स्पष्टता के लिए एक उदाहरण देखना उचित होगा—

'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' अर्थात् पर्वत अग्नि युक्त है, क्योंकि वह धूम युक्त है।'

इस वाक्य द्वारा पर्वत पक्ष में साध्य वह्नि का होना, 'धूम' हेतु के द्वारा सिद्ध किया जा रहा है। यहां अन्वय वाक्य का प्रयोग किया गया है, व्यतिरेक वाक्य का नहीं।[1] अर्थात् धूम की सत्ता है, अतः अग्नि की भी सत्ता है, इस भावात्मक वाक्य का प्रयोग किया गया है। किन्तु इस अन्वय वाक्य से ही अप्रयुक्त व्यतिरेक वाक्यार्थ की भो प्रतीति हो जाती है कि 'जहां अग्नि नहीं वहां धूम नहीं है' (यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति)। अन्वय व्यतिरेकि हेतु के स्थलों में 'यदि अन्वय वाक्य से ही उभय वाक्यार्थों की प्रतीति नहीं हो' अर्थात् अन्वयवाक्य से ही निश्चय न हो जाए कि जहां अग्नि नहीं है वहां धूम भी नहीं है, तो साहचर्य नियम अर्थात् व्याप्ति का ज्ञान[2] भी सम्भव न होगा। एवं

---

१. किसी वस्तु के होने पर अन्य वस्तु का होना अन्वय, तथा किसी वस्तु का अभाव होने पर अन्य वस्तु का अभाव होना व्यतिरेक कहाता है।
'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः, तदभावेतदभावो व्यतिरेकः।

२. 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः, यत्र वह्नि र्नास्ति, तत्र धूमोऽपि नास्ति' इति साहचर्यनियमो व्याप्तिः —तर्क संग्रह। पृ० ६१

साहचर्य नियम के अभाव में पक्ष में हेतु का ज्ञान होने पर भी साध्य का परामर्श नहीं हो सकेगा, क्योंकि परामर्श के लिए व्याप्ति का ज्ञान होना नितरां आवश्यक है,[१] तथा परामर्श के अभाव में साध्य और हेतु का अन्वय न होने पर पक्ष में साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती, फलतः पर्वत रूप पक्ष में वह्नि रूप साध्य की सत्ता सिद्ध न हो सकेगी।[२]

इसीप्रकार वैधर्म्य द्वारा अर्थात् व्यतिरेक वाक्य का अनुमान वाक्य में प्रयोग होने पर अन्वयार्थ की भी प्रतीति हो जाती है, जैसे यत्र वह्निः नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति 'इस व्यतिरेक वाक्य से भी' धूम के रहने पर वह्नि अवश्य ही होगी, 'इस अन्वयार्थ की भी प्रतीति होगी। यदि ऐसा न होता तो साध्य वह्नि के अभाव में धूमरूप हेतु का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। चूंकि वह्नि के अभाव में धूम की सत्ता नहीं रह सकती, अर्थात् जहां वह्नि का अभाव होगा वहां धूम का भी अभाव आवश्यक है। इसलिए यह भी निश्चित है कि जहां धूम होगा वहां वह्नि की सत्ता भी अवश्य होगी। अतएव चाहे अन्वय वाक्य का प्रयोग किया जाए, चाहे व्यतिरेक वाक्य का, साध्य की सिद्धि समान रूप से होती है। यही कारण है कि न्यायशास्त्र में अन्वय व्यतिरेकि हेतु, जिनमें अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति समान रूप से हो सकती है, के साथ ही केवलान्वयि हेतु तथा केवलव्यतिरेकि हेतु भी स्वीकार किये गये हैं,[३] तथा इन दोनों प्रकार के हेतुओं से भी उसी

---

१. व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। —तर्क संग्रह पृ० ६०

२. स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योर्लिङ्गपरामर्श एव करणम्। —तर्क संग्रह ६८

३. (क) लिङ्गं त्रिविधम्, अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि चेति। अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि। यथा वह्नौ साध्ये धूमवत्त्वम्। यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानसमित्यन्वयव्याप्तिः। यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा महाह्रदः इति व्यतिरेकव्याप्तिः।

अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयि। यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् पटवत् अत्र प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति, सर्वस्यापि प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च।

व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकि। यथा पृथिवी इतरेभ्यो-भिद्यते, गन्धवत्त्वात्। यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद् गन्धवत् यथा

भांति साध्य सिद्धि हो जाती है, जैसे अन्वयव्यतिरेकि हेतु से साध्य सिद्धि होती है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार न्याय वाक्य में साधर्म्य-वाक्य द्वारा अथवा व्यतिरेक वाक्य (वैधर्म्य वाक्य) द्वारा समान रूप से साध्य की

जलम्। न चेयं तथा, तस्मान्न तथेति। अत्र यद्गन्धवत्तदितरभिन्न-मित्यन्वयदृष्टान्तो नास्ति पृथिवीमात्रस्य पक्षत्वात्।

—तर्कसंग्रह पृ० १८

ओरियेण्टलबुक एजेन्सी पूना १९३१

(ख) अनुमानं हि त्रिविधं केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि, अन्वयव्यतिरेकि, अन्वयव्यतिरेक भेदात्। तत्रासद्विपक्षः केवलान्वयी, यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वादित्यादौ, तत्र हि सर्वस्यैवाभिधेयत्वाद्विपक्षासत्त्वम्।

असत्सपक्षः केवलव्यतिरेकी, यथा पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वादि-त्यादौ, तत्र हि जलादित्रयोदशभेदस्य पूर्वमनिश्चततया निश्चितसाध्यवतः सपक्षस्याभावात्।

सत्सपक्षविपक्षोऽन्ययव्यतिरेकी, यथा वह्निमान्धूमाद् इत्यादौ, तत्र सपक्षस्य महानसादेः विपक्षस्य जलह्रदादेः सत्त्वात् इति।

—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृ० ४९८-९९

निर्णय सागर प्रेस बम्बई (१९३३)

(ग) तच्चानुमानं त्रिविधम्, केवलान्वयिसाध्यकं, केवलव्यतिरेकिसाध्यकम्, अन्वयवव्यतिरेकिसाध्यकञ्चेति।

तत्र केवलान्वयिसाध्यकमनुमानमिदं वाच्यं ज्ञेयत्वादित्यादि। तत्र साध्यस्य वाच्यत्वस्य केवलान्वयित्वात्। केवलान्वयित्वं चात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वम्, भवति च वाच्यत्वमत्यन्ताभावाप्रतियोगि वाच्यत्वस्य सर्वत्र सत्त्वेन कुत्र-चिदपि तस्य अत्यन्ताभावात्।

केवलव्यतिरेकि साध्यकानुमानञ्च तत् यद् अगृहीतान्वयव्यतिरेकि साध्यकम्, अस्यार्थः यस्य साध्यम् अगृहीतान्वयं सत् व्यतिरेकि, अत्यन्ता-भावप्रतियोगि तत्केवलव्यतिरेकि साध्यकमनुमानम्। यथा पृथिवी जलादिभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्, इत्यनुमानम्। तत्र जलादिभेदरूपं यत् साध्यं तद-गृहीतान्वयं, गन्धवत्त्वेन हेतुना सहजलादिभेदस्य क्वचिदपि अन्वय सहचारस्य अनिश्चयात्।···तद् व्यतिरेकि च तद् व्यतिरेकस्य जलादावेव सत्त्वात्, अतः एतदनुमानेऽगृहीतान्वयव्यतिरेकि साध्यकानुमानत्वमस्तीति।

सिद्धि होती है एवं दोनों प्रकार के वाक्यों के प्रयोग की अपेक्षा नहीं होती; इसी भांति काव्यवाक्य में भी चाहे साधर्म्य वाक्य द्वारा कथन किया जाए अथवा वैधर्म्य वाक्य द्वारा वाच्यार्थ की प्रतीति में अन्तर नहीं होना चाहिए। अतएव प्रस्तुत पद्य 'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदाम्पदम्' इत्यादि पद्य में द्वितीय चरण द्वारा भी जब कह दिया गया कि जहां जहां अविवेक है, वहां वहां आपदाएं हैं (यत्र यत्राविवेकस्तत्र तत्र आपदामास्पदम्), इस अन्वयार्थ की प्रतीति के अनन्तर ही 'जहां जहां अविवेक का अभाव अर्थात् विवेकिता है, वहां वहां आपत्ति का अभाव अर्थात् सम्पदाएं हैं। 'यत्र यत्र अविवेकाभावः अर्थात् विवेकिता अस्ति, तत्र तत्र आपदामभावः, सम्पदः भवन्ति' इस व्यतिरेकार्थ की प्रतीति भी अर्थ सामर्थ्य से हो जाएगी, अतः इस व्यतिरेकार्थ की प्रतीति के लिए कवि द्वारा पद्य के उत्तरार्ध 'वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः' में वैधर्म्येण कथन पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है। चूंकि यह पौनरुक्त्य प्रकृति प्रत्यय अथवा पद का न होकर सम्पूर्ण वाक्य का है, अतः इसे वाक्य पौनरुक्त्य दोष कहा जाएगा।

इसी प्रकार :—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥[1]

इस पद्य में पूर्वार्ध में धर्म की ग्लानि का कथन हुआ है, तथा उत्तरार्ध में अधर्म के अभ्युत्थान का, यह पुनरुक्त प्रयोग है। चूंकि धर्म और अधर्म तथा हानि और अभ्युत्थान छाया और आतप की भांति अन्योन्याभावेन सदा ही स्थित रहते हैं, अतएव 'धर्म की हानि के कथन

यस्य साध्यं गृहीतान्वयं सत् व्यतिरेकि तद् अन्वयव्यतिरेक्यनुमानम्। यथा—पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यादिकम्। अत्र पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यादिकम्। अत्र वह्निरूपं यत्साध्यं तत् गृहीतान्वयं, महानसादौ वह्निधूमयोः सहचारनिश्चयात्, वह्निस्वरूपम् यत्साध्यं तद् व्यतिरेकि च तदभावस्य जलादौ सत्त्वादिति।
—भाषारत्न पृष्ठ १७२-१७४

१. गीता ४.७

से अधर्म के अभ्युत्थान की' तथा अधर्म के अभ्युत्थान के कथन से धम की हानि की अथवा अधर्म की हानि कथन से धर्म के अभ्युत्थान की एवं धर्म के अभ्युत्थान के कथन से अधर्म की हानि की प्रतीति अर्थतः अनायास ही होगी। इसी व्यवस्था के अनुसार उपर्युक्त पद्य के पूर्वार्ध में धर्म की हानि कथन से अधर्म के अभ्युत्थान का कथन भी अर्थतः हो ही जाता है। इस स्थिति में उत्तरार्ध में अभिहित का अभिधान होने से पौनरुक्त्य दोष होगा। चूंकि यह पौनरुक्त्य वाक्य द्वारा हो रहा है, अतः इसे भी पूर्व उदाहरण की भांति वाक्य पौनरुक्त्य की संज्ञा दी जाएगी।

अन्त में हम पुनः संक्षेप में कह सकते हैं कि पौनरुक्त्य के सम्वन्ध में आचार्य महिमभट्ट की निम्नलिखित मान्यताएं हैं—

पौनरुक्त्य दो प्रकार का है (१) आर्थ पौनरुक्त्य (२) शाब्द पौनरुक्त्य।

१. अर्थ सामर्थ्य से सिद्ध अर्थ का पुनः किसी भी शब्द द्वारा अभिधान होने पर चूंकि अर्थ की प्रतीति दो बार होती है, अतः उसे आर्थ पौनरुक्त्य कहते हैं।

२. शाब्द पौनरुक्त्य—किसी अर्थ विशेष के अभिधान के लिए प्रयुक्त शब्द के तात्पर्य भेद से पुनः प्रयोग को शाब्द पौनरुक्त्य कहते हैं।[1]

इस प्रकार पौनरुक्त्य के दोनों भेदों में अर्थ पौनरुक्त्य को दोष तथा द्वितीय शाब्द पौनरुक्त्य को अलंकार माना जाता है। आलंकारिकों ने इस शाब्द पौनरुक्त्य को लाटानुप्रास संज्ञा दी है।[2]

---

१. सामर्थ्यसिद्धस्यार्थस्य यथार्थी पुनरुक्तता।
तात्पर्यभेदाच्छब्दस्य द्विरुक्तिः शाब्दचपीष्यते।
—व्यक्तिविवेक संग्रह श्लोक २.४६ पृष्ठ ३२७ चौखम्बा संस्करण।

२. पौनरुक्त्यमिति द्वेधा गौणमुख्यतया स्थितम्।
तत्र दूषणमेवायमपरं भूषणं मतम्।
शब्दालंकारनिपुणैर्लाटानुप्राससंज्ञया।
—व्यक्तिविवेक संग्रह श्लोक २.४६, पृ० ३२७ चौखम्बासंस्करण

अर्थ पौनरुक्त्य, जिसे हम दोष के रूप में स्वीकार कर रहे हैं, वह प्रकृति-अर्थपौनरुक्त्य, प्रत्ययार्थपौनरुक्त्य पदार्थपौनरुक्त्य, वाक्यार्थ-पौनरुक्त्य आदि भेद से अनेक प्रकार का है।[1]

जिस पद के प्रकृति के अथवा प्रत्यय के अर्थ का अभिधान किसी भी प्रकार शब्दतः अथवा अर्थतः पूर्व हो चुका हो, वह क्रमशः प्रकृत्यर्थ पौनरुक्त्य अथवा प्रत्ययार्थ पौनरुक्त्य कहाता है। ऐसे पदों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।[2]

किन्हीं दो पदों में पाणिनि सूत्रोंद्वारा विहित बहुव्रीहि समास द्वारा मत्वर्थ की प्रतीति हो रही है, किन्तु उसी समस्तपद को कर्मधारय समास युक्त मानकर मत्वर्थीय प्रत्यय का प्रयोग स्पष्ट ही पौनरुक्त्य दोषपूर्ण होगा।[3]

किसी एक शब्द से किसी अर्थ विशेष की प्रतीति के लिए किसी तद्धित प्रत्यय का विधान हुआ हो, उस तद्धितान्त पद का उसी (तद्धित प्रत्यय से अभिहित) अर्थ की प्रतीति के लिए किसी अन्य पद के साथ समास उचित नहीं है; क्योंकि उस स्थिति में तद्धित प्रत्यय का प्रयोग निरर्थक होने लगेगा। अतः ऐसे प्रयोग को भी पौनरुक्त्य पूर्ण माना जाएगा।[4]

जहां विशेषण पद द्वारा विशेष्यगत कुछ वैशिष्टच अभिप्रेत हो, वहां विशेष्य के साथ विशेषण का प्रयोग उचित है। अन्यथा विशेषण पद के प्रयोग को पौनरुक्त्यदोष पूर्ण माना जाएगा।[5]

---

१. प्रकृतिप्रत्ययार्थोऽस्य पदवाक्यार्थ एव च।
विषयो बहुधा ज्ञेयः स क्रमेणोपदर्श्यते ॥ —वही २.४९

२. अभिन्न एव यत्रार्थः प्रकृतेः प्रत्ययस्य च।
तत्पौनरुक्त्योपहतं पदमादौ विवर्जयेत्। —वही २.५०

३. विहितस्य बहुव्रीहेः कर्मधारयशंकया।
शब्दस्य मत्वर्थीयादे र्व्यक्तैव पुनरुक्तता। —वही २.५१

४. यस्मिन्यत्तद्धितोत्पत्तिरर्थस्तेनैव जातुचित्।
न तदन्तः समस्येत तद्धितव्यर्थताभयात् ॥ —वही २.५२

५. विशेषणवशादिच्छेद्विशिष्टं यत्र संज्ञिनम्।
युक्ता तत्र विशेष्योक्तिरन्यथा पौनरुक्त्यकृत्। —वही २.५३

जहां एक बार ही प्रयुक्त साम्यवाचक पद द्वारा अन्य पदार्थों में भी साम्य की प्रतीति अर्थ सामर्थ्य से ही सम्भव हो, वहां पुनः साम्याभिधायी पद का प्रयोग पौनरुक्त्य पूर्ण होगा।[1]

जैसे वैशिष्टय के अभाव में अर्थ द्वारा अभिहित अव्यभिचरित कारक की उक्ति को पौनरुक्त्य माना जाता है, उसी प्रकार अनुमित, व्यंजनावादी की भाषा में अभिव्यक्त, अर्थ का कथन भी पौनरुक्त्य दोष पूर्ण होगा।[2]

यदि किसी अर्थ विशेष के अभिहित होने पर अन्य अर्थ की उक्ति पूर्व अर्थ के अभिधानवश ही हो जाती हो, तो पूर्व अर्थ के अभिधान के अनन्तर अन्य अर्थ का अभिधान भी पौनरुक्त्य का हेतु होता है।[3]

यदि किसी पदार्थ को उपचारतः (लक्षणा द्वारा) अन्य पदार्थ के धर्म से युक्त अथवा उससे सम्बद्ध कह दिया गया हो, तो पूर्व पदार्थ पर उत्तर पदार्थ का शब्दतः आरोप करके रूपक योजना नहीं करनी चाहिए, अन्यथा पौनरुक्त्य दोष होगा। अर्थतः आरोप कर रूपक योजना में दोष न होगा।[4]

यदि प्रयुक्त पदों के द्वारा ही किसी अन्य अर्थ की भी प्रतीति हो जाती हो, तो उस अन्य अर्थ की प्रतीति के लिए शेष पदों का प्रयोग पौनरुक्त्यपूर्ण होगा।[5]

यदि कर्तृ प्रधान क्रिया हो तथा उक्त क्रिया द्वारा प्रधानभूत कर्ता की स्वतः प्रतीति हो रही हो, अथवा कोई क्रिया विशेष किसी एक

---

१. सकृदेव प्रयुक्तेन यत्र साम्याभिधायिना।
अन्येषामुपमानत्वं सामर्थ्यादवगम्यते।
तत्रासकृत्प्रयोगोऽस्य पौनरुक्त्याय कल्पते॥ —वही २.५४-५५

२. यद्वदव्यभिचारस्य कारकस्याविशेषणा।
अर्थस्यानुमितस्योक्ति र्नीत्येति पुनरुक्तताम्॥ —वही २.५५-५६

३. यद्वशाद् यदभिव्यक्तिस्तदुक्तौ नाददीत तत्। —वही २.५६

४. यो यद्धर्मोपचारेण यत्सम्बन्धान्वितोऽपि वा।
तस्य तद्रूपणार्थोष्टा न शाब्दी पौनरुक्त्यतः॥ —वही २.५७

५. प्रयुक्तान्तर्गतैरेव यत्र सोऽर्थः प्रतीयते।
प्रयोगस्तत्र शेषाणां पदानां पौनरुक्त्यकृत्॥ —वही २.५८

निश्चित कारण (प्रधान साधक) द्वारा ही साध्य हो, तो करण की स्वतः प्रतीति होने पर क्रमशः कर्ता और कारण का प्रयोग पौनरुक्त्य पूर्ण होगा।[1]

उपर्युक्त कर्तृ पौनरुक्त्य तथा करण-पौनरुक्त्य दोष समास विषयक हैं। ये दोष उन लोगों के प्रयोगों में प्रायः मिलते हैं, जो प्रतीति की अपेक्षा न कर व्याकरण के नियमों की ही अपेक्षा करते हैं। यही कारण है कि कवि समाज में समास को निकष के रूप स्वीकार किया जाता है।[2]

समास में अथवा वृत्ति (असमास) में विशेष्य से व्यभिचरित न होने वाले विशेषण का प्रयोग होने पर पुनः विशेष्य का भी प्रयोग पौनरुक्त्य दोष का हेतु होगा।[3]

यदि कोई पदार्थ विशेष किसी स्वरूप विशेष से नित्य युक्त है, तो विशेष प्रयोजन के अभाव में उक्त पदार्थ के अभिधान के अनन्तर उक्त स्वरूप का भी अभिधान पौनरुक्त्यपूर्ण होगा।[4]

यदि कोई धर्म विशेष किसी धर्म से नित्य सम्बद्ध है, अव्यभिचरित है तो उस स्थिति में उन धर्म और धर्मी का परस्पर समास नहीं होता। क्योंकि समास होने पर उपमा रूप अन्य अर्थ की प्रतीति होने लगती है।[5]

---

१. कर्तर्यङ्गनि रूढायां तत्क्रियायां च नेष्यते।
वाक्साधकतमाङ्गानामौचित्यादेव तद्गतेः। —वही २.५९ पृ० ३२९-३०

२. दोषद्वयमिदं प्रायः समासविषयं मतम्।
यतोऽवक्रभूयिष्ठा लक्षणैकपरायणैः॥
कृताः प्रतीतिविमुखैर्दृश्यन्तेऽनेकधा हि ते।
समासमत एवाहुः कवीनां निकषं परम्॥ —वही २.६०.६१

३. वृत्तावितरथा चोक्ते नान्यभाजि विशेषणे।
विशेष्योक्तिरयुक्तैव स्यात्तदव्यभिचारतः॥ —वही २.६२

४. यो यदात्मा तदुक्त्यैव तस्यार्थस्य गतिर्यतः।
तेन प्रयोजनाभावे द्वयोक्तिः पुनरुक्तिकृत्॥ —वही २.६३

५. यो यस्य नियतो धर्मः तस्य तेन न धर्मिणा।
समासः शस्यतेऽन्यार्थस्तत एव हि तद्गतेः॥ — वही २.६४

क्योंकि शोक त्याग आदि अनेक क्रियाएं ऐसी है कि जो सदा ही करणार्थक प्रत्यय से ही प्रतीत होती है, अतः यदि करण (क्रिया) अर्थ का कथन न किया जाए, तो तद्रूप होने से उन (शोकत्याग आदि) क्रियाओं की प्रतीति भी असम्भव हो जाती है, अतः त्याग क्रिया और पाक क्रिया आदि समस्त पदों में क्रिया पद का भी शब्दतः कथन किया जाता है; किन्तु यहां भी क्रियार्थक करण आदि किसी अन्य पद का पुनः प्रयोग न होना चाहिए, क्योंकि उसके अर्थ की प्रतीति पूर्व हो चुकी है।[1]

इसी प्रकार जिस पद के प्रयोग होने अथवा न होने पर अर्थ प्रतीति में कोई अन्तर नहीं आता, ऐसे पदों का भी प्रयोग न करना चाहिए क्योंकि उक्त प्रयोग कवि की रचना में पुनरुक्ति दोष उत्पन्न करते हैं।[2]

इसी भांति अन्वयार्थ द्वारा चूंकि व्यतिरेकार्थ का आक्षेप हो जाता है एवं व्यतिरेकार्थ द्वारा अन्वयार्थ का आक्षेप हो जाता है, अतः किसी एक स्थल पर दोनों के कथन में पौनरुक्त्य दोष होगा।[3]

ये पुनरुक्ति के कुछ प्रकार है, जिनका दिग्दर्शनमात्र कराया जा सका है। वस्तुतः समस्त पौनरुक्य प्रकारों का कथन सम्भव ही नहीं है।[4]

उपर्युक्त प्रकृति प्रत्यय पद वाक्य आदि के अर्थ पौनरुक्त्य के अतिरिक्त उपमा आदि अलंकार अथवा उनके अंग विशेष की भी पुनरुक्ति की प्रतीति यदि शब्द प्रयोग के बिना हो सकती है, तो उनके अभिधायक पदों के प्रयोग की सहृदय सराहना नहीं करते।

---

१. क्रियाप्रतीतिः करणप्रत्ययाव्यभिचारिणी।
तदप्रतीतौ तादात्म्यात्सैवानवसिता भवेत्॥
यदेतत्त्यागपाकादौ क्रियेत्युक्तेर्निबन्धनम्।
तद्व्यक्तिर्यद्वशाद्यस्य तदुक्तौ नाददीत तत्॥ —वही २.६५-६६

२. प्रयुक्ते चाप्रयुक्ते च यस्मिन्नर्थगतिः समा।
न तत्पदमुपादेयं कविनावकरो हि सः॥ —वही २.६७

३. अन्योन्यापेक्षकत्वे सत्यन्वयव्यतिरेकयोः।
उभयोरुक्तिरेकस्य नात्येति पुनरुक्तताम्॥ —वही २.६८

४. पुनरुक्तिप्रकाराणामिति दिङ्मात्रमीरितम्।
विवेक्तुं को हि कात्स्र्येन शक्नोत्यवकरोत्करम्॥ —वही २.६९

निम्नलिखित पद में उपमा अलंकार के अंग उपमा वाचक 'इव' पद का पुनः कथन पौनरुक्त्य पूर्ण होने से सदोष है।

निर्याय विद्याऽथ दिनादिरम्याद्
बिम्बादिवार्कस्य मुखान्महर्षेः।
पार्थाननं वह्निकणावदाता
दीप्तिः स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे ॥[1]

उपर्युक्त पद्य में महर्षि मुख और अर्कबिम्ब विद्या और दीप्ति तथा पार्थानन और पद्म के बीच उपमानोपमेय भाव प्रतिपादन कवि का अभीष्ट है, जिसके अभिधान के लिए दो बार 'इव' शब्द का प्रयोग किया गया है, जबकि पुनः प्रयोग के बिना भी अभिमत उपमाननोपमेय भाव की प्रतीति में कोई बाधा नहीं होती।[2] अतः यहां पुनः 'इव' शब्द के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष माना जाएगा।

इस प्रसंग में यदि यह शंका की जाए कि 'यहां एक से अधिक उपमान और उपमेय हैं, अतः एकाधिक बार उपमा वाचक इव के प्रयोग को पौनरुक्त्य क्यों माना जाए ?

इस आशंका का अत्यन्त स्पष्ट समाधान यह है कि यदि प्रथम इव शब्द को अर्क बिम्ब और महर्षि मुख के बीच उपमानोपमेय भाव का वाचक मानकर पार्थानन और पद्म के मध्य उपमावाचक का पुनः प्रयोग आप आवश्यक मानते हैं, तो फिर विद्या और दीप्ति के मध्य उपमानोपमेय बोधन के लिए तृतीय उपमा वाचक का भी प्रयोग होना चाहिए। यदि तृतीय शब्द के प्रयोग के बिना विद्या और दीप्ति के मध्य उपमानोपमेय भाव की प्रतीति में बाधा का अनुभव नहीं होता, अपितु प्रथम 'इव' ही उपमानोपमेय भाव का बोध करा देता है, तो द्वितीय 'इव' के प्रयोग की ही अपेक्षा क्यों अनिवार्य है ? तात्पर्य यह है कि वाक्यार्थ बोध के समय जैसे प्रथम इव पद अर्क बिम्ब और महर्षि

---

१. किरातार्जुनीयम्
२. "जैसे दीप्ति अर्क बिम्ब से निकल कर पद्म को प्राप्त होती है, उसी प्रकार महर्षि के मुख से निकल कर विद्या पार्थ (अर्जुन) के आनन को प्राप्त हुई।" इस प्रकार वाक्यार्थ होने पर एक बार ही उपमानवाचक के प्रयोग से उपमानोपमेय भाव की प्रतीति अनायास हो जाती है।

मुख में उपमानोपमेय भाव का बोध कराकर विद्या और दीप्ति के मध्य भी उपमानोपमेय का बोध कराता है, उसी प्रकार वही इव पद पद्म और पार्थानन के मध्य भी उपमानोपमेय भाव की प्रतीति कराएगा ही। अत: द्वितीय इव पद के प्रयोग की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार यहां पौनरुक्त्य दोष है, जिसके निराकरण हेतु 'स्फुरत्पद्ममभिप्रपेदे' इस प्रकार पाठ विपर्यास करना उचित होगा।

इसी प्रकार

दिने दिने सा परिवर्धमाना
लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा।
पुपोष लावण्यमयान्विशेषान्
ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तरणि ॥[1]

इस पद्य में भी पूर्व उदाहरण की भांति ही उपमावाचक 'इव' पद का दो बार प्रयोग हुआ है, जो अनावश्यक है। क्योंकि यहां 'जैसे चन्द्र रेखा प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त करती हुई अन्य कलाओं को प्राप्त करती है, उसी प्रकार पार्वती ने लावण्यमय विशेषों को प्राप्त किया।' इस प्रकार वाक्यार्थ प्रतीत होने पर एक बार ही उपमावाचक पद के प्रयोग से समस्त उपमानोपमेयभाव की प्रतीति अनायास ही जाती है। अत: यहां द्वितीय 'इव' पद के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष है।

इसी प्रकार

यं समेत्य च ललाटरेखया युञ्जत:सपदि शम्भुविभ्रमम्।
चण्डमारुतमिव प्रदीपवच्चेदिपस्य निरवाद्विलोचनम्।[2]

इस पद्य में उपमा वाचक 'इव' पद तथा 'वतु' प्रत्यय दोनों का ही प्रयोग किया गया है, अत: यहां पौनरुक्त्य दोष है। अत: दोषनिर्वारण हेतु यहां तृतीय चरण में महिमभट्ट के अनुसार '**दैपमर्चिरिव चण्ड-मारुतम्**' इस प्रकार पाठ विपर्यास करना उचित होगा।

व्यक्तिविवेक के टीकाकार आचार्य रुय्यक ने उपर्युक्त पाठ विपर्यास को अधिक प्रयास साध्य होने से अस्वीकार कर '**चण्डमारुत-**

१. कुमारसम्भव १.२५
२. शिशुपालवध

नवप्रदीपवत्' पाठ करने की व्यवस्था दी है। उनका कहना है कि 'इस प्रकार केवल 'मि' वर्ण के स्थान पर 'न' वर्ण का व्यत्यास (परिवर्तन) करने से थोड़े परिवर्तन से ही दोषनिवृत्ति हो जाती है, साथ ही सौन्दर्य भी बढ़ जाता है।[1]

आचार्य महिमभट्ट और आचार्य रुय्यक के पाठ विपर्यास की तुलना करने पर इतना तो मानना ही होगा कि रुय्यक के पाठ विपर्यास में केवल एक ध्वनि 'मि' के स्थान पर ही परिवर्तन करना होता है, जबकि महिमभट्ट कृत पाठ में परिवर्त्तन में पूरा तृतीय चरण ही परिवर्त्तित करना होता है, अतः लाघव है। साथ ही आचार्य महिमभट्ट के पाठ में तृतीय चरण का प्रथम पद ही तद्धितान्त प्रयुक्त हो रहा है, जो सौन्दर्य में व्याघात भी पहुंचाता है।[2] फिर भी महिमभट्ट द्वारा प्रस्तावित पाठ परिवर्त्तन ही निर्दोष होने के कारण अधिक प्रशस्त। क्योंकि रुय्यक कृत पाठ परिवर्त्तन में चण्डमारुत पद समस्त (समास गत) हो जाता है, जबकि उपमेय ह्रद असमस्त रूप से प्रयुक्त है। ऐसी स्थिति में एक उपमान का समस्त प्रयोग प्रक्रम भेद दोष उपस्थित कर सहृदय हृदय को अत्यधिक उद्विग्न कर देता है। फलतः आचार्य महिमभट्ट निर्दिष्ट पाठ परिवर्तन को अधिक उचित मानना चाहिए।

अथवा

महिमभट्ट कृत पाठ में प्रथम वृद्धिजन्य वैरस्य के निराकरणहेतु **'दीपिकार्चिरिव चण्डमारुतम्'** इत्यादि पाठ परिवर्त्तन किया जा सकता है। ऐसा पाठ करने पर दीप शब्द से ह्रस्वार्थक 'क' प्रत्यय के प्रयोग

---

१. एवं हि 'मि शब्दस्थाने नशब्दमात्रकरणेन स्तोकमात्रव्यत्यासेन सौकर्येण दोषपरिहारप्रतीतिः सौन्दर्यञ्च। —व्य० वि० व्याख्यान पृ० ३०० चौखम्बा संस्करण

२. (क) अथ विशेषतोवर्जनीयाः। तत्र मधुररसेषु···त्वप्रत्यय यङन्तानि यङ्लुगन्तानि अन्यानि च शाब्दिकप्रियाणि मधुररसे न प्रयुञ्जीत। —रसगंगाधर पृष्ठ २५०-५६

(ख) अन्यानि चेदृशानि कृत्तद्धितान्तानि शाब्दिकप्रियाणि न प्रयुञ्जीत इत्यर्थः। —रस गंगाधर चन्द्रिका, टीका, पृष्ठ २४६ —चौखम्बा संस्करण १६५५

से दीप का अनुत्कर्ष प्रतीत होकर प्रतिनायक भूत उपमेय के अनुत्कर्ष की प्रतीत होगी तथा उसके फलस्वरूप नायक कृष्ण के अतिशय उत्कर्ष की प्रतीति भी अनायास हो जाएगी।

इसी प्रकार

नवचन्द्रिकाकुसुमकीर्णतमः कबरीभृतो मलयजार्द्रमिव।
ददृशे ललाटतटहारिहरेः हरितो मुखस्य हिमरश्मिदलम्।[1]

प्रस्तुत पद्य में द्वितीय चरण के अन्त में इव शब्द का प्रयोग हुआ है, जबकि इवार्थ प्रतीति तृतीय चरण गत हारि पद द्वारा हो जाती है।[2] अतः इव शब्द के प्रयोग में पौनरुक्त्यदोष है।

पौनरुक्त्य के इस प्रसंग में यह सोचना उचित न होगा कि 'हारि और इव दोनों पदों से ही यदि उपमानार्थ की प्रतीति होती है, तो प्रथम प्रयुक्त इव को उपमानार्थक मान कर हारि पद के प्रयोग में पौनरुक्त्य को सम्भावना क्यों न की जाए क्योंकि हारिपद के अभाव में यथा स्थान इव के प्रयोग में क्रम दोष उपस्थित होगा। कारण यह है कि वाक्य संघटना की दृष्टि से उपमार्थक पद का प्रयोग ललाट तट के अनन्तर होना चाहिए 'मलयजार्द्रम्' के अनन्तर नहीं। फलतः इव के प्रयोग से ही पौनरुक्त्य मानना चाहिए, हारिपद के प्रयोग में नहीं।[3]

इन उदाहरणों में इव' उत्प्रेक्षा बोधक है' ऐसा मानकर भी पौन-

---

१. शिशुपालवध ९.२८

२. ललाटतटहारि-ललाट तटवत् हर्तुं शीलमस्य, अर्थात् ललाट तट के सदृश (मन को) हरण का स्वभाव है जिसका इस प्रकार विग्रह कर उपमानार्थक कर्तर्युपमाने' इस सूत्र से णिनि प्रत्यय कर सिद्ध होता है। अतः 'ललाटतट-हारि' पद से उपमानोपमेय भाव का कथन हो जाता है, हारि में शीलार्थक प्रत्यय मानने पर भी उपमार्थ की प्रतीति होगी। जैसाकि दण्डी ने स्वीकार किया है: तमन्वेत्यनुवध्नाति तच्छीलैः तन्निषेधति। तस्य चानुकरोतीति शब्दाः सादृश्यसूचकाः। —काव्यादर्श

३. हारिपद में उपमानार्थ अथवा शीलार्थक णिनि प्रत्यय सुबन्त उपपद होने पर ही होता है, अन्यथा नहीं (सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये, कर्तर्युपमाने, अष्टाध्यायी ३.२.८२, ८३) अतएव असमस्तहारिपद से उपमानार्थ की प्रतीति नहीं होती।

रुक्त्य का परिहार करना उचित न होगा, क्योंकि यहां उत्प्रेक्षा के द्वारा चन्द्रखण्ड के वैशिष्ट (चारुत्व) में कोई वृद्धि नहीं होती।

उपर्युक्त उदाहरण में पौनरुक्त्य दोष के परिहार के लिए आचार्य महिमभट्ट ने निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास की व्यवस्था दी है—

नव चन्द्रिकाकुसुमकीर्णतमः कबरीभृतो मलयजार्द्रमिव।
ददृशे ललाटतटमिन्द्रदिशो वदनस्य हारि हिमरश्मिदलम्।

आचार्य महिमभट्ट कृत उपर्युक्त पाठ विपर्यास में पुनरुक्त दोष का निराकरण तो हारि पद को असमस्त कर देने से हो जाता है। क्योंकि उपमानार्थक या तच्छीलार्थक णिनि प्रत्यय सुबन्त उपपद रहने पर ही होता है, अन्यथा नहीं। किन्तु आचार्यने अभी पहले इसी उदाहरण में हारि पद की अपुनरुक्तता सिद्ध करने के लिए इव पद के यथास्थान प्रयोगों में क्रमभेद दोष का दर्शन कराया था, जबकि यहां 'हारि' पद का असमस्त प्रयोग कर पुनरुक्ति का निराकरण करते हुए उपस्थित उस क्रम भेद दोष की ओर उनका ध्यान नहीं गया है, अतएव उक्त पाठ विपर्यास करने पर क्रमभेद दोष की सत्ता वैरस्य जनक है।

उक्त दोष के परिहार के लिए कविकृत पाठ के द्वितीय चरण के अन्त में इव पद के स्थान पर 'अथ' पद का परिवर्तन कर शेष अविकल पाठ करना ही अधिक उचित होगा। इस स्थिति में पद्य का स्वरूप निम्नलिखित रहना चाहिए—

नवचन्द्रिकाकुसुमकीर्णतमः कबरीभृतो मलयजार्द्रमथ।
ददृशे ललाटतटहारि हरे हंरितो मुखस्य हिमरश्मिदलम्॥

इसी प्रकार

वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव।
अनन्ता वाङ्मयस्याहो गेयस्येव विचित्रता॥[1]

इस पद्य के द्वितीय चरण में प्रयुक्त इव शब्द से ही उपनार्थ की प्रतीति हो जाती है, अतः द्वितीय इव शब्द का प्रयोग पौनरुक्त्य दोष जनक है। इसके निराकरण हेतु निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास करना उचित होगा—

---

१. शिशु० २.७२

गेयस्य वाङ्मयस्याहो अपर्यन्ता विचित्रता ॥

(उपमा की भांति) रूपक अलंकार का प्रयोग होने पर इव शब्द के प्रयोग की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि उसके प्रयोग के बिना ही सादृश्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। अतः ऐसे स्थलों पर उपमावाचक इवादि शब्दों के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष होगा।

यथाः—

निर्मोकमुक्तिमिव गगनोरगस्य लीलाललाटिकामिव
त्रिविष्टपस्य' इत्यादि।[1]

प्रस्तुत गद्यखण्ड में ग्रन्थकार के अनुसार उपमारूपक अलंकार है। उपमा रूपक अलंकार की साधिका है, प्रधान अलंकार रूपक है, उपमा नहीं, अतः उपमालंकार की प्रतीति रूपकमुखेन ही हो जाएगी। क्योंकि रूपक अलंकार में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप किया जाता है, तथा आरोप सादृश्य के बिना सम्भव नहीं है, अतः उपमार्थ की प्रतीति तो होगी ही, उपमान वाचक इवादि का प्रयोग हो या न हो। इस प्रकार अनायास ही रूपक द्वारा उपमार्थ की प्रतीति हो जाने पर उस उपमार्थ की ही प्रतीति के लिए इव आदि की योजना करना पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है। सादृश्य रहने पर ही रूप्यरूपकभाव रहता है, अन्यथा नहीं, इसीलिए उसके रहने पर सादृश्य (उपमान) वाचक पदों की अपेक्षा नहीं रहती है। जैसा कि हम निम्नलिखित पद्य में देख सकते हैं।

आलानं जयकुञ्जरस्य दृशदां सेतुर्विपद्वारिधेः,
पूर्वाद्रिः करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः।
संग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो।
राजन् राजति वीरवैरिवनितावैधव्यदस्ते भुजः ॥[1]

इस पद्य में जयरूप हाथी का आलान अर्थात् बन्धन स्तम्भ तुम्हारे बाहु सुशोभित होते हैं यह वाक्यार्थ होगा। यहां भुजा आदि पर आलानत्व आदि का आरोप जय आदि पर कुञ्जरत्व आदि के आरोप का हेतु होता है, फलतः यहां परम्परित रूपक माना जाता है। इस

१. हर्षचरित पृष्ठ ४५ —कलकता संस्करण १६३६

प्रकार हम देखते हैं कि इस पद्य में रूपक द्वारा ही भुज तथा आलान आदि में उपमानोमेय भाव अभिहित हो जाता है, एतदर्थं अन्य वाचक पदों की अपेक्षा नहीं होती।

इसी भांति प्रस्तुत प्रसंग में भी रूपक अलंकार द्वारा ही उपमानोपमेय भाव का अभिधान होने पर उपमान वाचक इव पद की योजना में पौनरुक्त्य दोष है।

आचार्य महिमभट्ट ने उपर्युक्त गद्य खण्ड में रूपक (उपमारूपक) अलंकार की कल्पना है, जबकि अन्य विद्वान् यहां उत्प्रेक्षा अलंकार मानते हैं।[1] वस्तुतः यहां उपमा रूपक की अपेक्षा उत्प्रेक्षारूपक की योजना स्वीकार करना अधिक उपयुक्त है। क्योंकि निर्मोकमुक्ति की सम्भाव्यमानतया प्रतीति हो रही है। तथा गगन पर रूपक का आरोप होने के अनन्तर निर्मोकमुक्ति स्वतन्त्ररूप से प्रतीत नहीं होती, अपितु गगनरूपी उरग के सम्बन्धी के रूप में ही प्रतीत होती है। साथ ही वह अध्यवसाय सिद्ध रूप में नहीं, अपितु साध्य रूप में प्रतीत हो रहा है; अतः यहां उत्प्रेक्षालंकार मानना ही अधिक उचित होगा। इसके अतिरिक्त शुद्ध सादृश्य प्रतिपादन की इच्छा होने पर मुक्त निर्मोकमिव' ऐसा पाठ करना अधिक उचित होता, क्योंकि सादृश्य की प्रतिपिपादयिषा होने पर धर्मविशिष्ट धर्मी का ही कथन अपेक्षित होता है, धर्म का नहीं। क्योंकि यहां धर्मी का कथन न होकर धर्म (निर्मोकमुक्ति) का कथन हुआ है, अतः यहां उत्प्रेक्षा ही माननी चाहिए, उपमा नहीं।

यहां शंका हो सकती है कि उक्त गद्य खण्ड में प्रस्तुत उपमेय मन्दाकिनी है, जोकि स्त्रीलिंग पद है, तथा भिन्न लिंग पदों की उपमा को दोषपूर्ण माना जाता है। अतः दोष परिहार के लिए ही स्त्रीलिंग में 'निमोकमुक्ति' पाठ किया गया है, उत्प्रेक्षा की विवक्षा से नहीं। किन्तु इस शंका का आधार सबल नहीं है, कारण कि साधारण धर्म

---

१. समुल्लिखितवाक्यार्थव्यतिरिक्तार्थयोजनम् उत्प्रेक्षा...सम्भावनानुमानेन सादृश्यलक्षणेनोभयेन वा कारणद्वितयेन संवलितवृत्तिना प्रस्तुतव्यतिरिक्तार्थान्तरयोजनम्। काल्पनिकसादृश्योदाहरणं यथा। यथा वा, निर्मोकमुक्तरिव या गगनोरगस्य इत्यादि। वक्रोक्तिजीवित पृ० ४२३-४२६ डा० नगेन्द्र सम्पादित १९५५ (आत्माराम एण्ड संस दिल्ली)

का निर्देश न होने पर अथवा निर्देश होते हुए भी उभयरूप न होने पर भिन्न लिंग और भिन्न संख्या वाले पदार्थों में भी उपमानोपमेय भाव होता ही है।[1] जैसे 'स्त्रीव गच्छति षण्ढोऽयम्' तथा 'हन्त आवहन्ति दोषा इव नृपतीनां गुणाः इह (सहैव) दुर्विनयम्' इत्यादि वाक्यों में उपमानोपमेय भाव स्वीकार किया ही जाता है। फलतः उपमा की विवक्षा होने पर 'निर्मोक इव' पाठ ही होना चाहिए था। चूंकि उत्प्रेक्षा में यहां क्रियामात्र का उत्प्रेक्षण हो रहा है, अतः उसके अनुसार ही 'निर्मोक मुक्ति' पाठ किया गया है। निदान उक्त गद्य खण्ड में उत्प्रेक्षारूपक अलंकार मानना ही अधिक उपयुक्त होगा। उपमारूपक नहीं।

इसी प्रकार—

अङ्गुलीभिरिव केशसंचयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनी मुखं शशी॥[2]

इस पद्य में 'चुम्बति इव' उत्प्रेक्षार्थ के अभिधान के लिए 'इव' शब्द का प्रयोग किया गया है। आचार्य महिमभट्ट के अनुसार यहां उत्प्रेक्षार्थ की प्रतीति लक्षणा प्राप्त अर्थ द्वारा ही हो जाएगी, इसलिए यहां उत्प्रेक्षा बोधक इव पद की पुनरुक्ति है, अतः यहां भी पौनरुक्त दोष माना जाएगा।

वस्तुतः यहां तथा इसीप्रकार के अन्य अलंकार के स्थलों में दोष की कल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि शब्द और अर्थ की विच्छिति विशेष ही अलंकार है, तथा कविप्रतिभा के आनन्त्य से विच्छिति के प्रकार भी अनन्त है, उन्हें सीमित क्या संख्यात भी नहीं किया जा सकता है, जैसी की पूर्वाचार्यों की मान्यता है—

'वाक्य का वक्रभाव (पदवक्रता से भिन्न) अन्य ही है। जिसके सहस्रों भेद हो सकते हैं और उसमें इस उपमादि रूप से प्रसिद्ध समस्त

---

१. साधारणधर्मस्यानिर्देशे निर्दिष्टस्यापि वा द्वैरूपाभावे भिन्नलिंगसंख्ययोरपि 'स्त्रीव गच्छति षण्ढोऽयम' इत्यादौ हन्तावहन्ति दोषा इव नृपतीनां गुणाम् इह (सहैव) दुर्विनयम् इत्यादौ चोपमानोपमेयभावस्येष्टत्वात्।'

—व्यक्तिविवेक व्याख्यान पृ० ३०२ चौखम्बा संस्करण, पृ० ४४

२. कुमार सम्भव ८.६३

अलंकार वर्ग का अन्तर्भाव हो जाएगा।[1]

ध्वनिकार भी अलंकार आदि वाच्यार्थों की अनन्तता स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं[2]। उनका कथन है कि—

शुद्ध अर्थात् निरपेक्ष वाच्य अर्थ की भी अवस्था देश काल आदि के वैशिष्ट्य से स्वभावतः अनन्तता हो ही जाती है हजारों लाखों बृहस्पति मिल कर भी यत्नपूर्वक उसका वर्णन करें, तो भी जगत् की प्रकृति (उपादान कारण) के समान उसकी भी सीमा की समाप्ति नहीं हो सकती।'

प्राकृत भाषा के किसी अन्य विद्वान ने भी कहा है कि—'आज भी वाणी का परिस्पन्द प्रशान्त नहीं है।'[3]

इस प्रकार विच्छित्ति की अनन्तता होने पर एक विच्छित्ति की अपेक्षा पौनरुक्त्य मानने पर, रूपक आदि अलंकारों की अपेक्षा उपमा अलंकार में पौनरुक्त्य मानना होगा क्योंकि उपमा की उपेक्षा रूपक अतिशयोक्ति आदि बलवान् है। किन्तु ऐसा नहीं माना जाता, इसका

---

१. वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालंकारवर्गोऽयं सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति॥
—वक्रोक्ति जीवित १.२० पृ० ८७

२. न चार्थानन्त्यं व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव, यावद् वाच्यार्थापेक्षयापीति प्रतिपादयितुमुच्यते :—
अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः॥ ४.७
वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः।
निबद्धापि क्षयं नेति प्रकृतिर्जगतामिव॥ ४.१०

यथाहि जगत्प्रकृतिरतीतकल्पपरम्पराविर्भूतविचित्रवस्तुप्रपंचा सती पुनरिदानीं परिक्षीणापरपदार्थनिर्माणशक्तिरिति न शक्यतेऽभिधातुम्। तद्वदेवेयं काव्यस्थितिरनन्ताभिः कविमतिभिरुपभुक्तापि नेदानीं परिहीयते, प्रत्युत नवनवाभिर्व्युत्पत्तिभिः परिवर्धते।
—ध्वन्यालोक पृ० ४९४ ४९५,

३. अज्जवि अभिण्णमुद्दो पजअइ वाआ परिप्फन्दो।
(अद्यापि भिन्नमुद्रः प्रजयति वाचः परिस्पन्दः। इति छाया)
—व्यक्तिविवेक व्याख्यान मे रुय्यक द्वारा उद्धृत पृ० ३०३

मुख्य कारण विच्छिति विशेष एवं उनकी विवक्षा की अनन्तता है। जैसाकि हम देखते हैं, कभी केवल सादृश्यमात्र की विवक्षा होती है, कहीं सादृश्य के साथ ही उपमानोपमेय में अभेद की, अभेद की स्थिति में भी कभी आरोप विवक्षित होता है और कभी अध्यवसाय। अध्यवसाय की विवक्षा में भी कभी अध्यवसाय में साध्यत्व विवक्षित होता है और कभी सिद्धत्व। इस प्रकार विच्छिति विशेष की विवक्षा से कविगण नवीन अलंकारों का प्रयोग करते आए हैं। अतः संक्षेप की खोज करते हुए पौनरुक्त्य दोष की कल्पना करना उचित नहीं है। मुख्यतः काव्य लक्षणशास्त्र नहीं होता, जहां लाघव की अपेक्षा की जाए। काव्य में तो नव नवीन योजना में ही वस्तुतः चारुत्व रहता है।

यह उक्ति वैचित्र्य कवियों का तो स्वाभाविक गुण है ही, किन्तु यह शास्त्रकारों को भी अपनी ओर आकृष्ट किए बिना नहीं रहता। तभी तो जिन वैयाकरणों के लिए सामान्य धारणा है कि 'वे अर्ध मात्रा के लाघव से ही पुत्रोत्सव सदृश आनन्द का अनुभव करते हैं (अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः) उन वैयाकरणों के आचार्य पाणिनि भी विकल्प के लिए कहीं 'वा' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो कहीं 'अन्यतरस्याम्' जैसे विशाल शब्द का भी। तभी तो उनके व्याख्याकारों को कहना पड़ा है कि 'पाणिनि की सूत्र रचना विचित्र है कभी तो अक्षर लाघव का आश्रय लेते हैं और कभी प्रतिपत्ति लाघव (सुबोधता) का।'[1] इत्यादि

इसी प्रकार यहां भी रूपक का बन्ध करने के अनन्तर भी उत्प्रेक्षा आदि का निर्बन्ध विशिष्ट उत्कर्ष की ही सृष्टि करता है दोष की नहीं,

---

१. (क) विचित्रा हि सूत्रस्य कृतिः भगवतः पाणिनेः। क्वचिदक्षरलाघवमाश्रयते क्वचित्प्रतिपत्तिलाघवमिति। —सुबोधिनी पृ० ५६२

(ख) ईशः से (७.२.७७) ईडजनोर्ध्वे च (७.२.७८) योगविभागो वैचित्र्यार्थः। —सिद्धान्त कौमुदी १८८-१८६ त्रिचनापल्ली संस्करण

(ग) ईशः से, ईड जनोर्ध्वेंच (७, १ ७७-७८) वैचित्र्यार्थोयोगविभागः।
—व्याकरणमिताक्षरा पृ० ७६३ चौखम्बा १६०६ सस्करण

(घ) विचित्रा हि सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः।
—वामनजयादित्यकाशिका, पृ० ६४५ चौखम्बा १६५२ संस्करण

सहृदय का हृदय ही इसका साक्षी है।[1]

किन्तु महिमभट्ट की दृष्टि से उपर्युक्त पद्य में 'इव' पद का प्रयोग अनावश्यक है, क्योंकि पद्य में 'चुम्बति' क्रिया पद का प्रयोग किया गया है। यह चुम्बन क्रिया सचेतन कर्तृत्व की अपेक्षा रखती है, जबकि शशि में उसका अभाव है; फलतः मुख्यार्थ बाध होकर चुम्बन सदृश क्रियार्थ की लक्षणा से प्रतीति होगी। अतएव यहां उत्प्रेक्षा वाचक इव शब्द की पुनरुक्ति होने से पौनरुक्त्य दोष होगा।

इसी प्रकार—

स्मरहुताशनमुर्मुरपूर्णतां दधुरिवाम्रवणस्य रजः कणाः।
निपतिताः परितः पथिकव्रजानुपरि ते हरितेपुरतो भृशम्॥[2]

---

१. शब्दार्थयोर्विच्छित्ति रलंकारः। विच्छित्तिश्च कविप्रतिभोल्लासरूपत्वात् कविप्रतिभोल्लासस्य चानन्त्यादनन्तत्वं भजमाना न परिच्छेत्तुं शक्यते। अत एवोक्तम् ध्वनिकृता:—
वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः।
निबद्धापि क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥इति
अन्यत्राप्युक्तम्—
एवञ्च यदि विच्छित्त्यन्तरापेक्षया, तस्य विच्छित्त्यन्तरस्य पौनरुक्त्यम्, तदोपमायाः रूपकाद्यपेक्षया पौनरुक्त्यं स्यात्। उपमापेक्षया हि रूपकमतिशयोक्तिर्वा बलीयसी। न चैवं प्रयुज्यते, विवक्षायाः नानात्वात्। तथाहि क्वचित्सादृश्यमात्रं विवक्षितम्, तत्रापि क्वचिदभेदः। तस्मिन्नपि क्वचिदारोपः क्वचिदध्यवसायः। अध्यवसायेऽपि क्वचित्साध्यत्वं क्वचित्सिद्धत्वम् इत्यादि क्रमेणानन्तप्रकारं विच्छित्तिवैचित्र्यम्। तत्रापि संयोजनक्रमेण नवं विच्छित्तिवैचित्र्यमानुभूयमानम् आश्रितं च महाकविभिः कथं संक्षेपरुचित्वे-नोपद्रूयते। न हीदं वाक्यं लक्षणशास्त्रम् येन मात्रालाघवं चिन्त्यते। तत्रापि वा नियमेन न लाघवमाश्रितं महद्भिः। तथाहि वा ग्रहणस्यास्थानेऽन्यतरस्यां ग्रहणमपि कृतम् इति विच्छित्तिवैचित्र्यं तैरप्याश्रितमेव। तदुक्तं विचित्रा हि सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः इति। एवञ्चात्र रूपके उत्प्रेक्षादिनिबन्धः कमपि गुणमुत्कर्षयति न दोषमिति सहृदयैर्निपुणं निरूपणीयम्।
—व्यक्तिविवेक व्याख्यानम् पृ० ३०३-३०४ चौखम्बा संस्करण

२. शिशु पा० ६.६

इस पद्य में महिमभट्ट अनुसार 'देधुः' पद से मुख्यार्थ बाध होने पर धारण क्रिया सदृश क्रियार्थ की लक्षणा द्वारा ही प्रतीति हो जाएगी, अतः उपमार्थक इव पद का प्रयोग होने से पौनरुक्त्य दोष है।

वस्तुतः इस पद्य में भी पूर्व पद्य की भांति 'इव' पद सादृश्य का बोधक न होकर उत्प्रेक्षा का बोधक है एवं लक्षणा द्वारा सादृश्य अर्थ की प्रतीति भले ही हो सके, उत्प्रेक्षा रूप अर्थ की प्रतीति सम्भव नहीं है, अतः इव के प्रयोग में दोष मानना उचित नहीं है।

इसी प्रकार—

तृप्तियोगः परेणापि न महिम्ना महीयसाम्।
पूर्णश्चन्द्रोदयाकांक्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः।[1]

इस पद्य में दृष्टान्त पद में पुनरुक्ति है। क्योंकि यहां सामान्य का पृथक्-पृथक् दो वाक्यों में निर्देश दिया गया है, अतः वाक्यार्थ गतत्वेन साम्य होने से प्रतिवस्तूपमा अलंकार होगा।[2] तथा अलंकार उक्त होने के कारण ही सादृश्य रूप अर्थ की प्रतीति स्वतः हो जाएगी, फलतः सादृश्याभिधायक दृष्टान्त पद के प्रयोग की अपेक्षा नहीं है। अतः उसका प्रयोग पौनरुक्त्य दोष जनक है।

इस प्रसंग में दृष्टान्त पद को देख कर यह कल्पना करना उचित न होगा कि यहां दृष्टान्त पद दृष्टान्त अलंकार के अवबोधन के लिए है। क्योंकि दृष्टान्त पद के होने मात्र से दृष्टान्त अलंकार की प्रतीति नहीं हो सकती। जैसाकि हम वाक्य में देखते हैं, सम्बन्ध अर्थ की प्रतीति षष्ठी विभक्ति द्वारा होती है, सम्बन्ध पद द्वारा।[3] काव्य में रस आदि की प्रतीति विभाव अनुभाव और व्यभिचारिभावों के द्वारा होती है, श्रृंगार

१. शिशु पा० २.३१

२. वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वयेपृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तुपमा (वृत्ति)··· इवाद्यनुपादाने सकृन्निर्देशे दीपकतुल्ययोगिते। असकृन्निर्देशे तु शुद्धसामान्य-रूपत्वं बिम्बप्रतिबिम्बभावो वा। नाद्यः प्रकारः प्रतिवस्तूपमा।

—अलंकार सर्वस्व पृ० ९४
निर्णयसागर प्रेस, संस्करण १९३९

३. षष्ठी शेषे (पाणिनि अ० २.३.५०)
कारकप्रातिपादिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावसम्बन्धः शेषः, तत्र षष्ठी स्यात्।
—सिद्धान्त कौमुदी पृ० ४५५

आदि पदों द्वारा नहीं।[१] इसी प्रकार दृष्टान्त अलंकार की प्रतीति दृष्टान्त पद से नहीं हो सकती। उसके लिए तो 'सामान्य धर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभावेन दो वाक्यों में पृथक् निर्देश आवश्यक होता है।[२] यह वस्तु स्वभाव ही है कि वह अभिधीयमान होकर उतना हृदयावर्जक नहीं होता, जितना कि प्रतीयमान होकर।[३]

उदाहरण स्वरूप हम कालिदास के निम्नलिखित पद्य को ले सकते हैं—

संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतंगस्य मुनेश्च धेनुः॥[४]

इस पद्य में सम्बन्धित्वेन सूर्य एवं महर्षि में तथा प्रधानतया प्रभा

---

१. (क) रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। स हि रसादिशब्देन श्रृंगारादिशब्देन वाभिधीयेत। न चाभिधीयते तत्प्रयोगे विभावाद्यप्रयोगे तस्याप्रतीतेः तदप्रयोगेऽपि विभावादि प्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधानद्वारेणेन प्रतीयते इति निश्चीयते। तेनासौ व्यंग्य एव (न वाच्यः)॥ —मम्मट, काव्य प्रकाश पृ० २१७

(ख) न हि केवलश्रृंगारिदिशब्दमात्रभाजिविभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्वप्रतीतिरस्ति।...

—ध्वन्यालोक पृ० २८, दीधिति संस्करण

२. वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तूपमा। तस्यापि बिम्बप्रतिबिम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्तः।

—अलंकार सर्वस्व पृ० ९६

३. (क) प्रत्यक्षोऽपि ह्यर्थः साक्षात्संवेद्यमानः सचेतसां न तथा चमत्कारमातनोति यथा स एव सत्कविना वचनगोचरतां गमितः।...सोऽपि च तेषां न तथा स्वदते यथा तैरेवानुमेयतां नीतः इति स्वभाव एवायं न पर्यनुयोगमर्हति। तदुक्तम्—

नानुमितो हेत्वाद्यैः स्वदतेऽनुमितो यथा विभावाद्यैः।
न च सुखयति वाच्योऽर्थः प्रतीयमानः स एव यथा॥

—व्य० वि० पृष्ठ ७४

(ख) साररूपोह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरां शोभामावहति। —ध्वन्यालोक पृ० ४७१ (दिल्ली संस्करण)

४. रघुवंश २.१५

और धेनु के बीच उपमानोपमेय भाव है किन्तु उस उपमानोपमेयभाव का कथन न कर दीपक अलंकार के माध्यम से उसकी प्रतीति कवि ने कराई है इसी प्रकार रूपक तुल्ययोगिता आदि अलंकारों में भी उपमा अलंकार रहता तो अवश्य है, किन्तु वाच्य रूप से नहीं, प्रतीयमान रूप से। तथा उस स्थिति में उसमें चमत्कार की वृद्धि ही होती है।

अतएव हम कह सकते हैं कि 'वाच्य की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ सहृदय जनों को अधिक आनन्दित करता है। यही कारण है कि अलंकारों में उपमा की अपेक्षा रूपक आदि (प्रतीयमान संश्लिष्ट) अलंकारों को कवियों अथवा सहृदय जनों ने अधिक श्रेष्ठ माना है।'[1]

फलतः दृष्टान्त पद का प्रयोग दृष्टान्त अलंकार की सूचना हेतु नहीं माना जा सकता। वह केवल सादृश्यमात्र के बोधक के रूप में ही यहां प्रयुक्त है। जबकि सादृश्य अभिधान प्रतिवस्तुमालंकार द्वारा हो जाता है, तो अभिहित का अभिधायक होने से दृष्टान्त पद का प्रयोग पुनरुक्त ही माना जाएगा। इस प्रकार यहां पौनरुक्त्य दोष सिद्ध होता है।

इसी प्रकार

शिशिरकालमपास्य गुणोऽस्य नः क इव शीतहरस्य कुचोष्मणः।
इति धिया तरुषः परिरेभिरे घनमतो नमतोऽनुमतान्प्रियाः।[2]

इस पद्य में परिरम्भण क्रिया के हेत्वर्थ के अभिधान हेतु 'इति', धिया', तथा 'अतः' पद प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु प्रथम अभिहित इति पद द्वारा ही हेत्वर्थ का अभिधान होने जाने पर पुनः 'धी' (धियापद) तथा 'अतः' पदों का प्रयोग पुनरुक्ति दोषपूर्ण है।

जैसाकि **'अश्वेति विद्रुतमनुद्रवतान्यमश्वम्'** इत्यादि प्रयोगों में हम इति शब्द द्वारा ही हेत्वर्थ का अभिधान देखते हैं। अतः यहां पुनरुक्ति परिहार के लिए निम्नलिलिखित पाठ विपर्यास करना उचित होगा—

'इति निरस्तरुषः परिरेभिरे घनघनं नमतोऽनुमतान् प्रियाः।'

---

१. वाच्यात्प्रतीयमानोऽर्थस्तद्विदां स्वदते स्वयम्।
रूपकादिरतः श्रेयानलंकारेषु नोपमा। —व्य० वि० संग्रह श्लोक २.३९

२. शिशुपालवध ६.६५

आचार्य महिमभट्ट ने इस पद्य में 'इति यतोऽस्तरुषपरिरेभिरे:' इत्यादि पाठ विपर्यास की व्यवस्था की है, किन्तु वह उचित नहीं है। कारण यह है कि इस पाठ विपर्यास से पुनरुक्ति का निवारण हो सकता है, किन्तु फिर भी 'यत:' तथा 'अत:' पद की कोई उपयोगिता सिद्ध नहीं होती।

व्यक्तिविवेक के टीकाकार मधुसूदन शास्त्री 'इतिसमस्तरुष:' इत्यादि पाठभेद करने की व्यवस्था देते हैं, किन्तु शास्त्री जी के इस पाठ में भी 'अत:' शब्द की पुनरुक्ति का निराकरण नहीं हो सका है। किन्तु उपरिनिर्दिष्ट पाठ व्यत्यास करने पर उक्त दोषों का निराकरण पूर्णत: हो जाता है। हां 'नमतो' पद की आवृत्ति के अभाव में जहां यमकालंकार में कमी आती है, वहीं 'भृशं' अर्थ में 'घनं' पद की आवृत्ति से चारुत्व का भी समावेश हो जाता है।

इसी प्रकार—

आ: किमर्थमिदं चेत: सतामम्भोधिदुर्भगम्।
इति मत्वेव दुर्वेधा: परदु:खैरपूरयत्॥

इस पद्य में 'इति' पद द्वारा ही, 'मन्' धातु द्वारा प्राप्त अर्थ का बोध हो जाता है, पुन: उसी अर्थ के लिए 'मन' धातु की क्रिया के प्रयोग में पौनरुक्त्य है।

इस दोष के निराकरण हेतु 'इति क्रुधेव तद्वेधा' इत्यादि पाठ करना उचित होगा। इस पाठ विपर्यास से पुनरुक्ति के निराकरण के साथ ही ब्रह्मा के प्रति 'दुष्टत्व' कथन का भी परिहार हो जाता है।

कारकपुनरुक्ति

सम्पूर्ण अर्थ का बोधन कराने वाले कारक और क्रिया का समूह ही वाक्य है, अतएव प्रत्येक वाक्य में प्रधानतया एक (तथा गौण रूप से अनेक भी) क्रिया अनिवार्यत: प्रयुक्त होती है, साथ ही वाक्य में उससे संबद्ध क्रिया कारकों का भी प्रयोग होता है। किन्तु कभी कभी क्रिया की अनुपपद्यमानता के कारण प्रयोग बिना ही कर्त्ता अथवा अन्य कारक विशेष की उपस्थिति हो जाती है, इस प्रकार अर्थत: उपस्थित होने पर कारक विशेष का शब्दत: प्रयोग किया जाए, तो पुनरुक्ति दोष

होगा।

निम्नलिखित उदाहरण में हम कर्त्तृ पद का अनावश्यक अत एव पुनः प्रयोग देख सकते हैं—

पतितोत्पतितैः शत्रुशिरोभिः समराङ्गणे।
यः कन्दुकैरिवोच्चण्डः क्रीडन्लोकै र्व्यलोक्यत ॥

इस पद्य में विलोकन क्रिया का कर्त्ता लोक है। क्योंकि सचेतन कर्त्ता के अभाव में विलोकन क्रिया सम्भव नहीं हो सकती, अतएव कर्त्ता के रूप में 'लोक' अर्थ की उपस्थिति स्वतः ही हो जाती है, अतः क्रिया द्वारा उक्त अर्थ (कर्तृ रूप अर्थ) के लिए 'लोक' शब्द के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष है।

यदि ऐसे स्थलों पर कर्त्ता में कुछ वैशिष्टच विवक्षित हो तथा उस वैशिष्ट्य के अवबोधन के लिए विशेषण विशिष्ट कर्ता का प्रयोग हो, तो पौनरुक्त्य नहीं माना जाएगा। जैसाकि आचार्य वामन ने भी अपने ग्रन्थ में प्रतिपादित किया है, उनका कहना है कि 'विशेष अर्थ के अवबोधन हेतु उक्तार्थक पद के प्रयोग में भी दोष नहीं होता।'[1] उदाहरण हेतु निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है—

जनैरजातस्खलनै र्न जातु द्वयेऽप्यमुच्यन्त विनीतमार्गाः॥ इति

इस पद्य में अत्याग (न अमुच्यन्त) रूप क्रिया का कर्त्ता बहुवचनान्त जन है, जिसकी स्वतः आर्थी उपस्थिति हो सकती है; तथापि 'अजातस्खलन' रूप वैशिष्ट्य अभिधान के लिए 'अजातस्खलने' विशेषण-विशिष्ट कर्तृ पद में उक्तार्थ की पुनरुक्ति होने पर पौनरुक्त्य दोष नहीं होगा।[2]

कर्म पद का पौनरुक्त्य

क्रिया द्वारा ही अव्यभिचरित रूप से उपस्थित कर्मपद का भी

---

१. विशेषणस्य च। —काव्यालंकार सूत्र (वामन) २.२.१८
(वृत्ति) विशेषणस्य विशेषप्रतिपत्त्यर्थमुक्तार्थस्य पदस्य प्रयोगो (भवति)।
—काव्यालंकार सूत्रवृत्तिः पृ० ६०-६१
कामधेनुयुक्त कलकत्ता संस्करण (१९२२)

२. वही २.२.१८

शब्दत: प्रयोग होने पर पुनरुक्तिदोष होगा जैसे—

उवाच दूतः तमचोदितोऽपि गां नहीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदति ।।[1]

इस पद्य में प्रयुक्त वचन क्रिया (उवाच) के कर्म के रूप में वाणी रूप अर्थ की स्वत: प्रतीति हो जाती है, उसके लिए 'गां' पद का प्रयोग अनावश्यक है, अतएक पौनरुक्त्य दोष का हेतु भी है।

कर्म में कुछ वैशिष्ट्य बोध हेतु यदि विशेषण सहित कर्म का प्रयोग किया गया हो, तो पौनरुक्त्यदोष न होगा। जैसा कि हम निम्नलिखित पद्य में देख सकते हैं—

'शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युत:'।[2]

प्रस्तुत पद्य खण्ड में 'अवोचत' क्रिया का कर्म अव्यभिचरित होने से स्वत: अभिहित हैं, तथापि वैशिष्ट्य बोध हेतु 'शुचिस्मित' विशेषण के साथ कर्म भूत 'वाचं' पद के शाब्द कथन में पौनरुक्त्य दोष नहीं माना जाएगा।

करण पौनरुक्त्य

यदा दृशा कृशाङ्ग्याऽस्मि दृष्टो जातं तदैव मे।
प्रजागरगरग्रस्तसमस्तप्रसरं मन: ।।

इस पद्य में दर्शन क्रिया का करण नेत्ररूप अर्थ अव्यभिचरित होने से ही अभिहित है, अत: 'दृशा' पद द्वारा उसका पुन: अभिधान होने से यहाँ पौनरुक्त्य दोष होगा। यहां दोष निवारण हेतु 'दृशा' पद के स्थान पर 'तया' पद परिर्वात्तित कर दिया जाए, तो पौनरुक्त्य निवृत्ति के साथ ही 'तया' पद द्वारा व्यंग्य अतिशय मनोज्ञत्व आदि अर्थ की उपस्थिति से अधिक चारुत्व का भी लाभ होगा।

वैशिष्ट्य बोध के लिए सविशेषण करण पद के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष नहीं माना जाएगा। जैसे—

'तं विलोक्य सुरसुन्दरीजनो विस्मयस्तिमिततारया दृशा।'

---

१. किरातार्जुनीय ४.२०
२. शिशुपालवध

इस पद्य में विलोकन क्रिया द्वारा व्यभिचरित रूप से उपस्थित करण भूत 'नेत्र' अर्थ का दृशा पद द्वारा पुनः कथन 'विस्मयस्तिमित-तारया' विशेषण के साथ होने के कारण पौनरुक्त्यदोष का हेतु नहीं होगा।

इसीप्रकार अन्य कारकों के प्रयोग में भी पुनरुक्ति हो सकती है। जैसे—

स कदाचिद् दायाद्यैरुद्वेजितः अरघट्टघटीमारुह्य निष्क्रान्तः।[1]

प्रस्तुत पद्य में वाक्यार्थ के लिए 'कूपात्' पदार्थ अनिवार्यतः अपेक्षित है, किन्तु अर्थ सामर्थ्यात् उसकी उपस्थिति हो जाती है; अतः उसका शाब्द प्रयोग नहीं किया गया।

'स्थाने तिष्ठति' वाक्य में तिष्ठति क्रिया द्वारा ही अधिकरणभूत स्थान का बोध हो जाएगा, अतः 'स्थाने' पद के प्रयोग में पौनरुक्त्य दोष होगा। यहीं स्थाने पद को औचित्यबोधक मानने पर इसी वाक्य में पौनरुक्त्य नहीं होगा।[2] किन्तु—

विविक्ते स्थाने तिष्ठति, रम्ये स्थाने तिष्ठति आदि वाक्यों में सविशेषण अधिकरण (स्थान) के प्रयोग में कथमपि पौनरुक्त्य दोष नहीं होगा;

अलंकार पुनरुक्ति

शाब्द और आर्थ भेद से एक अलंकार का ही दो बार वाक्य में प्रयोग हो तो अलंकार पौनरुक्त्य दोष होगा।[3] जैसे—

उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा, यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ॥[4]

इस पद्य में 'शरजन्मना यथा' इत्यादि द्वारा उपमा का कथन हो

---

१. हितोपदेश

२. युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने-अव्ययार्थं

३. एकैवालंकृति र्यत्र शाब्दत्वार्थत्वभेदतः।
द्विरुच्यते तां, मन्यन्ते पुनरुक्तिमतिस्फुटाम्॥
—व्य० वि० संग्रह श्लोक २.४०

४. रघुवंश ३.२३

जाता है, पुनः उसी उपमा का शाब्द कथन 'तत्सदृशेन' तथा 'तत्समो' पद द्वारा किया जाना अलंकार पौनरुक्त्य दोष का हेतु है।

प्रस्तुत पद्य में यह मान कर पौनरुक्त्यदोष का परिहार नहीं दिखाया जा सकता कि 'शरजन्मना यथा' द्वारा निर्दिष्ट उपमानोपमेय भाव प्रतीयमान रघु के प्रभाव के निमित्त है।' क्योंकि विशिष्ट उपमा के निर्देश मात्र से ही प्रभाव आदि की भी प्रतीति स्वतः हो जाएगी; अतः अनेक बार उपमा का प्रयोग करने पर पौनरुक्त्य दोष अवश्य ही होगा।

आचार्य महिमभट्ट के अनुसार उपर्युक्त अलंकार पौनरुक्त्य के अतिरिक्त, उसे भी अलंकार पौनरुक्त्य माना जाएगा 'यदि किसी उपमेय की उपमा आदि द्वारा प्राप्त वैशिष्ट्य की प्रतीति सामर्थ्य मात्र से ही हो जाती है और उसी वैशिष्ट्य की प्रतीति के लिए उपमा रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग किया गया हो। जैसे—

स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः प्रियमिवागलितोरुपयोधरा।
जलधरावलिरप्रतिपालित स्वसमया समयाज्जगतीधरम्॥[1]

इस पद्य में जगतीधर एवं जलधराली प्रिय एवं प्रणयिनी के रूप में हैं, इस अर्थ की प्रतीति समासोक्ति अलंकार के द्वारा ही हो जाती है,[2] पुनः जगतीधर को प्रियतुल्य कहना पुनरुक्तिदोष का हेतु है।

इसी प्रकार—

निद्रावशेन भवताऽप्यनवेक्ष्यमाणा
पर्युत्सुकत्वमबला निशिखण्डितेव।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी
सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः॥[3]

प्रस्तुत पद्य में लक्ष्मी के लिए 'खण्डिता अबला' की उपमा दी गई है, जबकि लक्ष्मी द्वारा खण्डिता अबला सदृश वृत्तान्त कथन द्वारा ही

---

१. शिशुपालवध ६.२५

२. विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः।
—अलंकार सर्वस्व (रुय्यक) पृ० १०७

३. रघुवंश ५.६७

(समासोक्ति अलंकार से) तत्सादृश्य की प्रतीति हो जाती है, अतः शब्दतः उपमा का प्रयोग पौनरुक्त्य दोष का हेतु है।

इसी प्रकार

सुरभिसङ्गमजं वनमालया नवपलाशमधार्यत भङ्गुरम्।
रमणदत्तमिवार्द्रनखक्षतं प्रमदया मदयापितलज्जया॥

उपहितशिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके।
प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं प्रमदया मदयापितलज्जया॥[1]

प्रस्तुत पद्य में उपमा द्वारा ही समस्त अर्थ की प्रतीति सम्भव होने आर्द्र नखक्षत विशेषण प्रमदारूप अर्थ तथा उसका विशेषण 'मदयापित लज्जया' इन तीनों का ही प्रयोग पौनरुक्त्य का हेतु है, क्योंकि यहां पुल्लिग में प्रयुक्तसुरभिशब्द से रमण रूप अर्थ की प्रतीति तथा स्त्रीलिंग विशिष्ट वनमालाशब्द से कामनी रूप अर्थ की प्रतीति होती है, अतः इसका प्रयोग अनपेक्षित हुआ, साथ ही क्योंकि विशेषण किसी के व्यावर्त्तन के लिए ही प्रयुक्त होता हैं एवं यहां व्यावर्त्य की सत्ता है ही नहीं, अतः विशेषण का प्रयोग भी निरर्थक हुआ। जिस प्रकार कामुक के संगम से उत्पन्न अरुण मुख एवं नखक्षत को नायिका धारण करती है, उसी प्रकार वनमाला भी वसन्त समागम से उद्भूत लोहित नवीन एवं वक्र पत्रों को धारण कर रही है' इस प्रकार वाक्यार्थ प्रतीत होगा।

स्मरणीय है कि महाकवियों द्वारा प्रयुक्त लिंगविशेष ही समासोक्ति आदि अलंकारों की उद्भावना कराते हुए स्त्रीत्व (नायिकात्व) पुंस्त्व (नायकत्व) आदि अर्थ की प्रतीति करा देते हैं।

उदाहरणार्थ हम निम्नलिखित पद्य देख सकते हैं।

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती सकलंकमिन्दुं तापं रवेरप्यधिकं चकार॥[2]

---

१. किरातार्जुनीयम्

२. पाणिनि रचित, तथा वामनकाव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४.३.२७। साहित्यदर्पण पृ० ५३२, अलंकार सर्वस्व पृ० ११७ आदि में उद्धृत।

इस पद्य में इन्द्र धनुष् में नखक्षत साम्य एवं मेघ में स्तनसाम्य शाब्द है, तथा शरद् ऋतु में नायिकात्व, इन्दु में नायकत्व, तथा रवि में प्रतिनायकत्व की समासोक्ति द्वारा अभिव्यक्ति हो जाती है। इसी लिए कवि ने नायक नायिका अथवा प्रतिनायिका का शब्दतः कथन नहीं किया है।

इसी प्रकार

> अत्यन्तपरिणाहत्वाद् अत्यन्तश्लक्ष्णतावशात्।
> न काचिदुपमारोढुमूरू शक्नोति सुभ्रुवः॥

इस पद्य में अंगना की ऊरू द्वय मणि स्तम्भ के समान है, इस उपमार्थ की प्रतीति अर्थतः हो जाती है, इसीलिए कवि ने उसका शब्दतः कथन नहीं किया है।

इसी प्रकार

> आभोगिनेत्रपरिवर्त्तनविभ्रमेण, मूर्त्यानितम्बवलनाकुलतां वहन्त्या।
> यस्याशनैरविरलोत्कलिकाकलापपर्याकुलं हृदयमम्बुनिधेर्ममन्थे॥

प्रस्तुत पद्य में 'मूर्त्या अम्बुनिधेःहृदयं ममन्थे' (मूर्त्ति ने अम्बुनिधि के हृदय का मन्थन क्रिया), इस वाक्य में समासोक्ति अलंकारवश स्त्री-लिंग मन्थन क्रिया के कर्तृभूत मूर्त्ति पद से नायिका की तथा उक्त क्रिया के कर्म हृदय के सम्बन्धी पुल्लिंग अम्बुनिधि पद से नायक की प्रतीति स्वतः हो जाती है, साथ ही अम्बुनिधि और मूर्त्ति एवं नायक नायिका के बीचे उपमानोपमेयभाव का कथन भी हो जाता है। इसी-लिए कवि ने उनका शाब्द कथन नहीं किया है। शाब्द कथन होने पर पुनरुक्ति दोष की सम्भावना होती।

प्रस्तुत पद्य में हृदय पद का प्रयोग किया गया है, 'हृदय' जीव धारी प्राणी के शरीर का एक देश है, जो जड़ अम्बुनिधि में सम्भव नहीं है, अतः इस हृदय पद का मुख्यार्थ बाधित होकर मध्यभाग अर्थ की प्रतीति होगी। आचार्य महिमभट्ट ने ऐसे स्थलों पर प्रयुक्त लक्षणा को एक अलंकार के रूप में स्वीकार किया है।[1] सम्भवतः यहां वे वामन के

---

१. लक्षणायांश्चालंकारत्वमुपगतमेव। —व्यक्ति विवेक पृ० ३१२

'सादृश्याल्लक्षणावक्रोक्तिः ।'[1] सिद्धान्त का समर्थन करते हुए वक्रोक्ति अलंकार की ओर संकेत कर रहे हैं ।

ऐसे स्थलों पर जहां लक्षणा द्वारा किसी वाच्यार्थ पर अन्य सदृश लक्ष्यार्थ का आरोप किया जा रहा है, वहां सादृश्य को अधिक स्पष्ट करने के लिए 'यदि शब्दतः उपमानोपमेव भाव का कथन किया जाए तो क्या आपत्ति है' ? इस आशंका के समाधान के प्रसंग में आचार्य महिमभट्ट की मान्यता है कि :—

चूंकि एकत्र विद्यमान धर्म का अन्यत्र आरोप करने पर स्वतः सादृश्य का कथन हो जाता है, इसलिए वाक्य में लक्षणा द्वारा जिस उपमान के धर्म का जिस उपमेय पर आरोप किया गया उन लक्षणा द्वारा ही प्रतीत उपमान और उपमेय के मध्य उपमानोपमेय भाव का शब्दतः कथन सहृदय जनों को प्रिय नहीं है ।[2]

जैसे

अपरागसमीरणेरितः क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः ।
तरुवत् सुकरः सहिष्णुना रिपुरुन्मूलयितुं महानपि ।।[3]

इस पद्य में उन्मूलन शब्द का प्रयोग है। उन्मूलन वृक्ष आदि का सम्भव है, मानव का नहीं; अतः मुख्यार्थबाधित होकर लक्षणा द्वारा अर्थ की प्रतीति होगी। फलतः वृक्षगत उन्मूलन धर्म का रिपुगत विनाश रूप सदृश धर्म पर आरोप की यहां प्रतीति होगी; अतएव उपमान (वृक्ष) गत धर्म का उपमेय (रिपु) पर आरोप होने से[4] यहां शब्दतः उपमानोपमेय भाव का कथन नहीं किया जाना चाहिए, किन्तु कवि ने 'तरुवत्' पद का प्रयोग कर उपमानोपमेयभाव का शब्दतः कथन किया है, अतः वह दोषपूर्ण है ।

---

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति । (वामन) ४.३.८ पृ० १२६

२. यदर्थैकार्थाश्रयो धर्मो यत्र स्यादधिरोपितः ।
उपमानोपमेयत्वं न तयोः शाब्दमिष्यते ।

—व्य० वि० संग्रह २.४२ पृ० ३१२

३. किरातार्जुनीय २.५०

४. अत्र हि (लक्षणायां)··· स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगताःगुणा एवलक्ष्यन्ते।

—काव्यप्रकाश पृ० ४९

इसी प्रकार

अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्दधतं वपुःसुखमतापकरम्।
निरकासयद् रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका ॥[२]

इस पद्य में रूपक अलंकार का निबन्धन किया गया है। आचार्य महिमभट्ट के अनुसार यहां दिग् पद की स्त्रीलिंगता द्वारा स्त्रीत्व की तथा उस पर आरोपित कार्य द्वारा स्त्री गत वैशिष्ट्य गणिकात्व की प्रतीति अर्थतः ही हो जाती ही है, अतः उस विशिष्ट अर्थ की प्रतीति के लिए दिशा और वियत पर गणिकात्व एवं आलयत्व का शाब्द आरोप पुनरुक्त है।

आचार्य महिमभट्ट ने इस प्रसंग में अपने पक्ष के समर्थन हेतु किसी अज्ञात नामा आचार्य के वचन को उद्धृत किया है। जिसमें स्वीकार किया गया है कि—

यदि उभयार्थक पद लिंग विशेष अथवा गुणवृत्ति में विद्यमान पद उपमान विशेष में विद्यमान अर्थ की प्रतीति कराते हों, उस स्थिति में पुनः उस अर्थ का शाब्द कथन नहीं करना चाहिए।[२] जैसे—

राहुस्त्रीस्तनयोरकारि सहसा येनाश्लथालिंगन-
व्यापारैकविनोददुर्ललितयोःकार्कश्यलक्ष्मीर्वृथा।
तेनाक्रोशत एव तस्य मुरजित्तत्काललोलानल-
ज्वालापल्लवितेन मूर्धविकलं चक्रेण चक्रे वपुः ॥[३]

प्रस्तुत पद्य में कवि ने अनुप्रास योजना की ओर आकृष्ट होने के कारण पौनरुक्त्य की उपेक्षा कर पर्यायोक्ति अलंकार द्वारा अनुमित 'चक्र' पदार्थ के बोध के लिए चक्र शब्द का प्रयोग किया है, अतः दोषपूर्ण है, यहां दोष निवारण हेतु निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास किया जा सकता है—

---

१. शिशुपालवध ९.१०
२. उभयार्थपदनिबन्धो लिंगविशेषः पदञ्च गुणवृत्तिः।
उपमानविशेषाश्रयमर्थं गमयति स नहि पुनर्वाच्यः॥
—व्य० वि० पृ० ३१३

३. शिशुपालवध २०, ७८

ज्वालापल्लवितेन मूर्धविकलामस्त्रेण तेने तनु:।

प्रस्तुत पाठ विपर्यास से न केवल पौनरुक्त्य का निराकरण हो जाता है, अपितु अनुप्रास की सुषमा भी द्विगुणित हो उठती है।

इसी प्रकार

तं जिगीषुरिव शात्रवं ततो लोकलोचनपथोपरोधकम्।
रश्मिभि:कनकसायकोपमैरन्धकारमरुणोऽस्तमानयत् ॥

इस पद्य में लोचनपथावरोधक अतएव अपराधी अन्धकार का कनक सायक सदृश रश्मियों द्वारा अस्त गमन (विनाश) करना विजय की कामना करने वाले वीर का शत्रु के प्रति व्यापार ही है; अतएव तदर्थ कर्म और कर्त्ता के रूप में निबद्ध अन्धकार की शत्रु के रूप में और अरुण (सूर्य) की विजयेच्छु वीर के रूप में प्रतीति कराते हुए उनके सदृश व्यापार की भी प्रतीति कराता है, पुन: 'जिगीषु' और 'शात्रव' पदों द्वारा उस उपमानोपमेय भाव का शाब्द कथन पौनरुक्त्यदोष-पूर्ण है।

इसी प्रकार

परिहासरतिर्यश्च यश:कर्पूरपांसुभि:।
दिक्कामिनीमुखान्यारात् पटवासैरिवाकिरत् ॥

परिहास प्रेमी कामुक द्वारा कर्पूर रेणु (Camphor Powder) आदि द्वारा मुख में लेपन प्राय: स्त्री विषयक ही होता है, यह सर्वविदित है, अतएक उक्त व्यापार का दिशा-मुख से सम्बन्ध के कारण तथा दिशा पद की स्त्रीलिंगता के कारण अर्थत: समासोक्ति अलंकार द्वारा ही कामिनी रूपता की प्रतीति हो जाती है, अत: दिशाओं पर शब्दत: कामिनीत्व आरोप पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है। साथ ही कर्पूर पांशु की भी पटवास रूपता की अर्थत: प्रतीति होने पर कर्पूरपांशु पर पट-वास का शब्दत: आरोप भी पौनरुक्त्य दोषपूर्ण है। इसीप्रकार अर्थ सामर्थ्य से ही उपमानोपमेय भाव विशिष्ट रूपक की प्रतीति हो जाने पर 'पटवास इव' पद द्वारा शाब्द उपमानोपमेय भाव का कथन भी पौनरुत्यपूर्ण है।

अर्थ सामर्थ्यसिद्ध अर्थ के लिए शाब्द प्रयोग कविगण को कथमपि

प्रिय नहीं है, इसे हम प्रयोग परम्परा में स्पष्ट देखते हैं।

उदाहरणार्थं हम निम्नलिखित पद्यों को देख सकते हैं :—

महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः
प्रणयमगणयित्वा यन्ममापद्गतस्य।
अधरमिव मदान्धा पातुमेषा प्रवृत्ता
फलमभिनवपाकं राजजम्बूद्रुमस्य ॥[1]

इस पद्य में 'महदपि परदुःखशीतलं' के अनन्तर 'भवति इति' का कथन आवश्यक था, किन्तु अर्थ सामर्थ्य से ही इस अर्थ की प्रतीति हो जाने पर उसका शाब्द कथन कवि ने नहीं किया है।

इसी प्रकार

चन्दनासक्तभुजगनिश्वासानिलमूर्च्छितः।
मूर्च्छयत्येष पथिकान्मधौ मलयमारुतः॥

इस पद्य में उत्प्रेक्षा बोधक इव पद की अपेक्षा थी, किन्तु अर्थ सामर्थ्यात् इसकी प्रतीति हो जाने पर कवि ने उसका प्रयोग आवश्यक नहीं समझा।

इस प्रकार

अयं मन्दद्युतिः भास्वानस्तं प्रतियियासति।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान्॥[2]

निदर्शना अलंकार के उदाहरण भूत इस पद्य में 'मम इव' (श्रीमतः उदयःपतनाय) पद के प्रयोग की अपेक्षा रहते हुए भी कवि ने उसका प्रयोग केवल इसलिए नहीं किया है कि उसकी प्रतीति अर्थ सामर्थ्य से हो जाती है।

इस प्रकार महिमभट्ट के अनुसार हम कह सकते हैं कि जब उपमानोपमेयभाव, अभेदारोप आदि अर्थतः ही प्रतीत हों, तो शब्दतः उनका कथन नहीं करना चाहिए।

---

१. विक्रमोवर्शीयम् ४.१३
२. भामह काव्यालंकार ३.३४

वस्तुतः जैसाकि पहले स्पष्ट किया जा चुका है अलंकार विच्छित्ति विशेष है, उनका प्रयोग कविप्रतिभा के आनन्त्य के कारण अनन्त-स्वरूपों में हो सकता है, अतः किन्हीं दो चार समासोक्ति आदि अलंकारों में ही उन्हें सीमित करना अथवा उनके प्रयोग की व्यवस्था करना उचित नहीं है। केवल उन स्थानों पर ही अलंकारों के प्रयोग का निषेध किया जाना चाहिए, जबकि वे अलंकार रसादि की प्रतीति में बाधक रूप में प्रयुक्त हो रहे हों। किन्तु जो अलंकार रसनिष्पत्ति में बाधक नहीं होते, साथ ही रसाक्षिप्ततया जिनका निबन्धनसम्भव हो, वे अलंकार तो वास्तव में काव्य के अलंकार है, उनका काव्य में प्रयोग तो होना ही चाहिए।[1] जहां अलंकार योजना के लिए ही कवि अनुप्रासादि अलंकारों की योजना में प्रवृत्त होगा, वहां रसाक्षिप्तता का अभाव अनिवार्यतः हो जाएगा। ऐसी स्थिति में वे अलंकार अलंकार न रहकर अलंकाराभास हो जाएंगे, जो काव्य को काव्याभास बना देंगे। इसीलिए आचार्य आनन्दवर्धन ने भी प्रयत्नसाध्य अलंकारों की अनुपादेयता को सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया है।[2]

---

१. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः।।
ध्वन्यात्मभूते शृंगारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम्।।
विवक्षा तत्परत्वेन नांगित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता।।
निर्व्यूढावपि चांगत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलंकारवर्गस्यांगत्वसाधनम्।।

—ध्वन्यालोककारिका २.१६-१९

२. (क) शृंगारस्यांगिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः।। २.१४
ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।। —ध्वनिकारिका २.१४-१५

(ख) रसांगत्वे च तस्य लक्षणमपृथग्यत्ननिर्वर्त्यमिति। यो रसं बन्धुमध्यवसितस्य कवेरलङ्कारस्तां वासनामत्यूह्य यत्नान्तरमास्थितस्य निष्पद्यते स न रसांगम् इति। यमके प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तर-परिग्रहः आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः। —ध्वन्यालोक पृ० १४७

सप्तम अध्याय

प्रक्रमभेद दोष और उसकी समीक्षा

प्रक्रमभेद

मनुष्य सामान्यरूप से पराम्पराओं पर चलने वाला प्राणी है। लोक में आ रही परम्पराओं को वह केवल उन्हीं स्थितियों में छोड़ना चाहता है, जब उनके द्वारा उन्हें किसी प्रकार प्रत्यक्ष हानि की संभावना हो। परम्पराओं के निर्वाह का कुछ कारण यह भी है कि वह जिस मार्ग पर चल रहा होता है, उसका स्वभाव उस मार्ग के अनुरूप, उसमें आने वाली परिस्थितियों के अनुरूप बन जाता है। यही कारण है कि सरल मार्ग पर चलने वालों को कठिन मार्ग पर चलना आनन्द दायक नहीं हो पाता तथा साहसिक कार्य करने वाले व्यक्ति भी उन कार्यों में आनन्द नहीं ले पाते, जिनमें उनकी सरलता के कारण साहस की आवश्यकता नहीं हुआ करती। जीवन की यह प्रवृत्ति हमें साहित्य के क्षेत्र में भी उसीप्रकार प्राप्त होती है।

रंगमंच पर अभिनीत होते हुए अभिनय में सहृदय सामरस्य चाहता है, एक श्रृंखला और एक तारतम्य चाहता है, एक सूत्रबद्धता चाहता है। यदि उसे उसकी प्राप्ति नहीं होती तो वह उद्विग्न होता है, और उस रूपक को सदोष मान कर छोड़ देता है। यही कारण है कि प्रत्येक नाटककार बीज बिन्दु पताका प्रकरी तथा कार्य इन पांच अर्थ प्रकृतियों को परस्पर एक सूत्र में सम्बद्ध रखता है।[1]

---

१. (क) बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः।
अर्थप्रकृतयः पंच ताह्येताः परिकीर्त्तिताः। —दशरूपक १.१८

(ख) बीज—स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतु र्बीजं विस्तार्यनेकधा। दशरूपक १.१७
अर्थात् रूपक के आरम्भ में अल्परूप में संकेतित वह तत्त्व जो रूपक के फल का कारण है तथा इतिवृत्त में अनेक रूप में पल्लवित होता है, बीज कहलाता है।

काव्य में यदि किसी एक रस की प्रतीति के हेतु विभावादि की की योजना करके उसके अनन्तर ही कवि उस रस के विरोधी विभाव आदि की योजना कर देता है तो सहृदय पाठक उसे उचित नहीं मानता। इसीलिए आचार्य आनन्दवर्द्धन ने रस विरोधी तत्त्वों की गणना करते हुए सर्वप्रथम 'विरोधि रस सम्बन्धो विभावादि' की योजना को हेय माना है।[1] उन्होंने यद्यपि इस दोष का कोई नाम नहीं दिया है, किन्तु इसे रसप्रक्रमभेद कहा जा सकता है। इसी प्रकार आचार्य आनन्दवर्द्धन ने असमय रस का विच्छेद और असमय ही उसके प्रकाशन को भी उचित नहीं माना है।[2] चूंकि इन दोनों परिस्थितियों में भी प्रासंगिक रस का विच्छेद ही वैरस्य का हेतु होता है, अतः इसे भी रसप्रक्रमभेद नाम दिया जा सकता है।

आचार्य महिम भट्ट ने दोष विवेचन के प्रारम्भ में क्योंकि बहिरंग दोषों के विवेचन की ही प्रतिज्ञा की है,[3] अतः उक्त रसप्रक्रमभेद का प्रस्तुत प्रकरण के अन्दर परिगणन करना उचित नहीं समझा है।

साक्षात् रस से सम्बन्ध रखने वाले विभाव आदि की योजना के अतिरिक्त सुबन्त तिङन्त कृदन्त या तद्धितान्त शब्दविशेष, तथा कारक वचन उपग्रह (आत्मनेपद, परस्मैपद) आदि विविध प्रकार के शब्द वाक्य में प्रयुक्त होते हैं। ये सभी शब्द जहां पदार्थ बोध करा कर वाक्यार्थ प्रतीति में सहायक बनते हैं, वहीं वे सुप् तिङ् आदि वैशिष्टच

(ग) बिन्दु—अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्। वही १.७७
किसी दूसरी कथा से मुख्य कथा के विच्छिन्न हो जाने पर इतिवृत्त को जोड़ने और आगे बढ़ाने के लिए जो कारण होता है, वह बिन्दु कहलाता है।

(घ) पताका-प्रकरी = इतिवृत्त से सम्बद्ध दूर तक चलने वाली उपकथा को पताका तथा थोड़ी दूर तक ही चलने वाली उपकथा को प्रकरी कहते हैं।
सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्। —दशरूपक १.१३

१. विरोधिरससम्बन्धिविभावादि परिग्रहः।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोन्यस्य वर्णनम्॥ —ध्वनिकारिका ३.१८

२. अकाण्ड एव विच्छित्तिः अकाण्डे च प्रकाशनम्।
...रसस्य स्याद्विरोधाय......। —वही ३.१९

३. अन्तरंगमाद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रपंच्यते। —व्य० वि० पृ० १४९

विशेष द्वारा वाक्य में सौन्दर्य का भी आधान करते हैं। सामान्य वैयाकरण भले ही विभक्ति विशेष के प्रयोग के प्रसंग में आचार्य पाणिनि की विकल्प व्यवस्था को देखकर, अथवा एकार्थ में विधान किए गए अनेक प्रत्ययों में से अन्यतर के प्रयोग में अभेद स्वीकार कर लें, किन्तु सहृदय उनके प्रतीति भेद को कभी भूलता नहीं। उदाहरणार्थ, पाणिनीयधातुपाठ में भू तथा अस् धातु पर्यायवाची माने गए हैं।[1] किन्तु प्रयोग परम्परा के अनुसार पाठक उन्हें पर्यायवाची नहीं पाता। यही कारण है कि सत्ता में गति का दर्शन करने पर अर्थात् 'होता है' क्रियार्थ की विवक्षा पर वह 'भवति' के प्रयोग को ठीक मानता है, किन्तु इसके विपरीत ही सत्ता में गति का अभाव प्रतीत होने पर अर्थात् 'है' क्रियार्थ की विवक्षा होने पर वह 'भवति' के प्रयोग को उचित न मान कर 'अस्ति' के प्रयोग को ही उचित मानता है।

यह बात तो सामान्य वक्ता या श्रोता की है कवि या काव्य का तत्त्वज्ञ सहृदय पाठक इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के सभी प्रयोगों में एक विशेष प्रतीति भेद को स्वीकार करते हैं, प्रत्येक के प्रयोग द्वारा काव्य में एक विशेष प्रकार का चमत्कार (विच्छिति) स्वीकार करते हैं।[2] आचार्य आनन्दवर्द्धन तथा उनके अनुयायियों ने उसे अभिव्यक्ति

---

१. भू सतायाम् धातु सं० १
अस भुवि धातु सं० १०९०

२. (क) सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्॥ —ध्वन्यालोक ३.१९

(ख) कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः सम्भवन्ति षट्।
प्रत्येकं बहवो भेदाः तेषां विच्छित्तिशोभिनः॥ १६
वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्धवक्रता।
वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः॥ १८
अव्ययीभावमुख्यानां वृत्तीनां रमणीयताम्।
यत्रोल्लसति साज्ञेया वृत्तिवैचित्र्यवक्रता॥ १९
साध्यतामप्यनादृत्य सिद्धत्वेनाभिधीयते।
यत्र भावो भवत्येष भाववैचित्र्यवक्रता॥ २०
भिन्नयो लिंगयो र्यस्यां सामानाधिकरण्यतः।
कापि शोभाऽभ्युदेत्येषा लिंगवैचित्र्यवक्रता॥ २१

नाम देकर, तथा कुन्तक ने उसे वक्रता नाम देकर स्वीकृति प्रदान की है।

सहृदय पाठक काव्य में किन्हीं विशेष पदों का प्रयोग होने पर उपर्युक्त प्रकार से ही चारुत्व की अनुभूति करता है, किन्तु पुनः उसी प्रसंग में अन्य वाक्यों में उपर्युक्त सुप्तिङ् आदि के भेद होने पर पूर्व प्राप्त चारुत्व का अभाव प्राप्त करता है, तो उसे जो उद्विग्नता होती है, उसी का नाम प्रक्रमभेद दोष है।

सति लिंगान्तरे यत्र स्त्रीलिंगत्वं प्रयुज्वते।
शोभानिष्पत्तये यस्तन्नामेव स्त्रीतिपेशलम्॥ २२
विशिष्टं योज्यते लिंगमन्यस्मिन्सम्भवत्यपि।
यत्र विच्छित्तये सान्या वाच्यौचित्यानुसारतः॥ २३
कर्त्तुरत्यन्तरंगत्वं कर्त्रन्तरविचित्रता।
स्वविशेषणवैचित्र्यमुपचारमनोज्ञता॥ २४
कर्मादिसंवृत्तिः पंच प्रस्तुतौचित्यचारवः।
क्रियावैचित्र्यवक्रत्वप्रकारास्त इमे स्मृताः॥ २५
औचित्यन्तारतम्येल समयो रमणीयताम्।
याति यत्र भवत्येषा कालवैचित्र्यवक्रता॥ २६
यत्र कारकसामान्यं प्राधान्येन निध्वयते।
तत्त्वाध्यारोपणान्मुख्यगुणभावाभिधानतः॥ २७
परिपोषयितुं कांचिद् भंगीभणितिरम्यताम्।
कारकाणां विपर्यासः सोक्ता कारकवक्रता॥ २८
कुर्वन्ति काव्यवैचित्र्यविवक्षापरतन्त्रिताः।
यत्र संख्याविपर्यासं तां संख्यावक्रतां विदुः॥ २९
प्रत्यक्षापरभावश्च विपर्यासेन योज्यते।
यत्र विच्छित्तये सैषा ज्ञेया पुरुषवक्रता॥ ३०
पदयोरुभयोरेकमौचित्याद्विनियुज्यते।
शोभायै यत्र जल्पन्ति तामुपग्रहवक्रताम्॥ ३१
विहितः प्रत्ययादन्यः प्रत्ययः कमनीयताम्।
यत्र कामपि पुष्णाति सान्या प्रत्ययवक्रता॥ ३२
रसादिद्योतने यस्यामुपसर्गनिपातयोः।
वाक्यैकजीवितत्वेन सापरा पदवक्रता॥ ३३

प्रक्रम भेद दोष की यह मान्यता संस्कृत काव्य शास्त्र में प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इसका सर्व प्रथम उल्लेख हमें आचार्य वामन के काव्यालंकार से प्राप्त होता है, वामन ने चूंकि दोष को 'गुण विपर्ययात्मक' माना है।[1] अतएव उनकी दृष्टि में प्रक्रम निर्वाह को गुण का स्वरूप मिल जाना स्वाभाविक था। उन्होंने प्रक्रम शब्द के स्थान पर समता शब्द का प्रयोग किया है। उनकी मान्यता है कि 'प्रक्रम का अभेद एक गुण है, जिसे समता नाम दिया जाता है।' जैसे[2]—

च्युतसुमनसः कुन्दाः पुष्पोद्गमेष्वलसा द्रुमाः
मलयमरुतः सर्पन्तीमे वियुक्तधृतिच्छिदः।
अथ च सवितुः शीतोल्लासं लुनन्ति मरीचयो
न च जरठतामालम्बन्ते क्लमोदयदायिनीम्।

प्रस्तुत पद्य में ऋतु सन्धि का प्रक्रम किया गया है, किन्तु कवि के प्रमादवश द्वितीय चरण में वियोगिजनों के धैर्य को धराशायी बनाने वाला मलयाचल का वायु बहने लगा, कहते समय प्रक्रान्त ऋतु सन्धि वर्णन के स्थान पर वसन्त ऋतु का वर्णन हो गया है. जो उचित नहीं प्रतीत होता। उक्त दोष परिहार के लिए—

'मनसि च गिरं बध्नन्तीमे किरन्ति न कोकिलाः'

अर्थात् कोयलें बोलना चाहती हुई भी नहीं बोल पातीं। पाठ विपर्यास कर देने पर प्रक्रम का निर्वाह हो जाता है, अतः दोष न होकर

यत्र संव्रियते वस्तु वैचित्र्यस्य विवक्षया।
सर्वनामादिभिः कश्चित् सोक्ता संवृत्तिवक्रता॥ १६
विशेषणस्य माहात्म्यात्क्रियायाः कारकस्य वा।
यत्रोल्लसति लावण्यं सा विशेषणवक्रता॥
—वक्रोक्ति जीवित द्वितीय उन्मेष १६-३३

(ग) न सोस्ति प्रत्ययोलोके, यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भाषते। —वाक्य पदीय ब्रह्म काण्ड १२३
१. गुण विपर्यात्मानो दोषाः। —काव्यालंकार सूत्र वृत्ति २.११.१
—वही ३.२.५
२. अवैषम्यं समता। —वही ३.२.५
(वृत्तिः) अवैषम्यं प्रक्रमाभेदः समता।

समता नामक गुण की सृष्टि हो जाती है।[1] महिम भट्ट से परवर्ती मम्मट विश्वनाथ आदि आचार्यों ने 'भग्न प्रक्रम' नाम से प्रक्रम भेद दोष को समान रूप से मान्यता प्रदान की है।[2]

यह प्रक्रम भेद भी शब्द अनौचित्य ही है, जैसे सरल मार्ग पर चलते हुए पथिक के समक्ष यदि विषम अर्थात् ऊँचा नीचा मार्ग उपस्थित हो जाए तो वह पथिक विषमता वश, वारम्बार गिरता है और खेद कर अनुभव करता है, इसी भांति रसप्रतिपत्ति में एकरस होकर प्रवृत्त पाठक अथवा दर्शक के समक्ष जब प्रक्रम के निर्वाह का अभाव उपस्थित होता है, तो उसे खेद का अनुभव होता है।

क्योंकि शब्दार्थ व्यवहार में समस्त विद्वद् वर्ग लौकिक क्रम का ही अनुसरण करता है तथा लोक की भी यह मान्यता है कि किसी भाव की अभिव्यक्ति के लिए जिस प्रकार प्रक्रम अर्थात् प्रारम्भ किया जाए अन्त तक उसी का निर्वाह किया जाए। यदि ऐसा नहीं होता तो सहृदय के मानस में एक उद्विग्नता उत्पन्न होती है और उसे रसास्वादन में कुछ असुविधा का अनुभव होता है।[3] किन्तु यहां यह

---

१. क्वचित्प्रक्रमोऽपि भिद्यते। यथा—च्युतसुमनसः''' क्लमोदयदायिनीम्।'
ऋतुसन्धि प्रतिपादन परेऽत्र द्वितीये पादे प्रक्रमभेदः। मलयमरुताम् असाधारणत्वात्। एवन्तु द्वितीयः पादः पठितव्यः। मनसि च गिरं वध्नन्तीमे किरन्ति न कोकिलः। काव्यलंकार सूत्र वृत्ति ३.२.६

२. (क) भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावो यत्र (स भग्नप्रथमः)। काव्य प्रकाश पृ० २२८
(ख) '''वाच्यस्यानभिधानं च भग्नप्रक्रमता तथा।
'''दोषाः स्युः वाक्यमात्रगाः। —साहित्य दर्पण ७.७८

३. आचार्य महिमभट्ट द्वारा स्वीकृत प्रक्रमभेद दोष को देखकर हम कह सकते हैं कि वे प्रत्येक शब्द (चाहे वह प्रकृति हो या प्रत्यय सभी) की एक स्वतन्त्र अभिव्यक्ति (अर्थ) मानते हैं, जो अन्य शब्दों द्वारा सम्भव नहीं है, यद्यपि कुछ साम्य होने के कारण हम कुछ शब्दों को समानार्थक पर्यायवाची शब्द या समानार्थक प्रत्यय कहते हैं। आचार्य महिम भट्ट की यह मान्यता वास्तव में मननीय है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी 'याते द्वारवतीं' इत्यादि पद्य में प्रक्रम का निर्वाह न होने के कारण विभावानुभाव की प्रतीति में परिम्लानता स्वीकार की है। ('याते द्वारवतीमित्यत्र विभावानुभावौ परि-

स्मरण रखना चाहिए कि यह प्रक्रम का अभाव रस प्रतीति में साक्षात् इतना बाधक नहीं होता कि इस दोष को अन्तरंग दोष कहा जा सके।

यह प्रक्रम प्रकृति प्रत्यय पर्याय आदि के भेद से अनन्त प्रकार का हो सकता है। जिनमें प्रकृतिप्रक्रमभेद, प्रत्ययप्रक्रमभेद, पर्यायप्रक्रम-भेद, विभक्तिप्रक्रमभेद, उपसर्गप्रक्रमभेद, वचनप्रक्रमभेद, काल-प्रक्रमभेद, तिङन्तप्रक्रमभेद, उपग्रह (परस्मैपद, आत्मनेपद) प्रक्रम भेद, कारकशक्तिप्रक्रमभेद, शब्दान्वय प्रक्रम भेद, की चर्चा आचार्य महिमभट्ट ने की है।

इनमें से प्रकृति प्रत्यय पर्याय विभक्ति उपसर्ग आदि के प्रक्रम का पूर्णतः निर्वाह महिमभट्ट के समकालीन आचार्य कुन्तक काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं, उन्होंने विशिष्ट शब्दार्थ को काव्य मानकर शब्द का परिचय देते हुए अपनी यह मान्यता प्रकट की है कि कवि विवक्षित अर्थ विशेष का वाचक केवल एक शब्द है, उस शब्द के विद्य-मान अनेक पर्य्याय उसके वाचक नहीं हो सकते।[1] प्रक्रम भेद के प्रसंग में महिमभट्ट की भी यही मान्यता है कि एक शब्द के स्थान पर अन्य शब्द का एक प्रकृति के स्थान पर अन्य प्रकृति का अथवा एक प्रत्यय के स्थान पर अन्य समानार्थक प्रत्यय का प्रयोग सम्भव नहीं है। यदि किसी काव्य में इसका व्यतिक्रम हो रहा है, तो वहां प्रक्रमभेद दोष

म्लानतया प्रतीयेते—लोचन पृ० २५)। आचार्य वामन ने इसी प्रक्रमभेद के अभाव को समता नामक गुण के रूप में स्वीकार किया है। (अवैषम्यं समता। वृत्ति-अवैषम्यं प्रक्रम अभेदः (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ३.२.५)

काव्यप्रकाशकार मम्मट तथा उनके परवर्ती विश्वनाथ आदि ने समान संज्ञा द्वारा ही समर्थित भग्नप्रक्रम नाम से एक वाक्य दोष" 'स्वीकार किया है एवं आचार्य महिमभट्ट द्वारा उद्धृत पद्यों को ही प्रायः उदाहरणों के रूप में उद्धृत किया है। द्रष्टव्य—काव्य प्रकाश वृत्ति ७.५६

१. शब्दो विवक्षितार्थैक वाचकोन्येषु सत्स्वपि। (वक्रोक्तिजीवित १.९) स शब्दः काव्ये यस्तत्समुचितसमस्तसामग्रीकः। कीदृक् 'विवक्षितार्थैक-वाचकः' विवक्षितो योऽसौ वस्तुनिष्ठोऽर्थस्तदेकवाचकः, तस्य एकः केवल एव वाचक। कथम्, अन्येषु सत्स्वपि। अपरेषु तद्वाचकेषु बहुष्वपि विद्यमा-नेषु। —वक्रोक्ति जीवित १-९ नवम कारिका की वृत्ति।

माना जाएगा। जैसे निम्नलिखित उदाहरण में हम प्रकृति भेद देख सकते हैं—

सततमनभिभाषणं मया ते परिपणितं भवतीमनानयन्त्या।
गतधृतिरवलम्बितुं बतासूननलमनालपनादहं भवत्याः ॥[1]

प्रस्तुत उदाहरण में वार्तालाप रूप अर्थ के अभिधान के लिए प्रथम अभिभाषण शब्द का प्रयोग किया गया है एवं उसी अर्थ के अभिधान के लिए पुनः आलपन शब्द प्रयुक्त है, जो सहृदय की दृष्टि से उचित नहीं है। इसके स्थान पर निम्नलिखित पाठ करना अधिक उचित होगा—सततमनपलपनं मया ते परिर्याणितम् इत्यादि। अथवा प्रथम पंक्ति पूर्ववत् रखकर उत्तर पंक्ति में निम्नलिखित पाठ हो सकता है—

गतधृतिरवलम्बितुं बतासूननलमभाषणतो ह्यहं भवत्या ॥

यहां स्मरणीय है कि पाणिनीय धातु पाठ में लप तथा भाष-व्यक्त वचन के लिए पठित है। [रप, लप व्यक्तायां वाचि। भाष व्यक्तायां-वाचि], इसलिए लपन और अभिभाषण पर्यायवाची शब्द हुए। फलतः इनमें एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग करना सामान्यतः अनुचित नहीं प्रतीत होना, किन्तु वस्तुतः प्रत्येक शब्द की अभिव्यक्ति में एक सूक्ष्म अन्तर है; अतएव किसी भी एक शब्द के स्थान पर अन्य शब्द का प्रयोग अथवा एक शब्द द्वारा उपक्रम कर अन्य द्वारा उपसंहार उचित नहीं माना जाना चाहिए। जैसाकि प्रथम स्पष्ट हो चुका है। क्योंकि इस प्रकार का प्रक्रम अभेद विध्यनुवाद भाव के रूप में परिणत हो जाता है तथा प्रक्रम भेद की स्थिति में वह विध्यनुवादभाव सम्भव नहीं है। फलस्वरूप प्रक्रम का भेद सहृदय मानस में उद्विग्नता उत्पन्न कर वैरस्य जनक होता है। प्रक्रम का भेद न होने पर वाक्य में समता जनित एक विशेष चारुत्व की अनुभूति होती है। जैसाकि हम निम्न-लिखित उदाहरणों में देख सकते हैं—

ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्यन्ति।
रइकिरणाणुग्गहिआइ होन्ति कमलाइ कमलाइ।

---

१. शिशुपाल वध सर्ग ७,९-१०

[तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैः गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ।।[1]]
एमेज जणो तिस्सा देउ कवोलोपमाइ शशिबिम्बम्।
परमत्थविआरे ऊण चन्दो चन्दो विअ वराओ।
[एवमेव जनस्तस्या ददाति कपोलोपमायां शशिबिम्बम्।
परमार्थविचारे पुनश्चन्द्रश्चन्द्र एव वराकः।]

उपर्युक्त उदाहरणों में कमल तथा चन्द्र शब्द द्वारा प्रक्रम किया गया है एवं पुनः उसी शब्द (कमल और चन्द्र) द्वारा उसका अनुवाद किया गया है। यद्यपि द्वितीय कमल और चन्द्र शब्दों में पूर्ण गुणशाली अर्थ होने से उनके प्रतीयमान अर्थ में भेद है तथापि प्रक्रम में अभेद निर्वाह के लिए ही वे शब्द ही पुनः प्रयुक्त हो रहे हैं। तथा ऐसे प्रयोगों की सराहना आलंकारिकों ने भी लाटानुप्रास नाम देकर की है।[2] परवर्ती उदाहरण की प्रथम पंक्ति में यदि 'शशिबिम्बम्' पद के स्थान पर 'चन्द्रबिम्बम् शब्द प्रयोग किया जाए तो इस उदाहरण में और अधिक चारुत्व आ सकता है।

इसी प्रकार

'एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः रावणः प्रत्यभाषत'

इस पद्य में वच् धातु द्वारा प्रक्रम किया गया है, किन्तु उत्तर वाक्य में 'भाष्' धातु का प्रयोग होने से समान प्रतीति का निर्वाह न हो सका है, अतः यहां प्रक्रमभेद दोष मानना चाहिए, इसके निरास के लिए 'प्रत्यभाषत' पद के स्थान पर 'प्रत्यवोचत' पाठ कर दिया जाए तो अधिक उचित होगा।

इसी प्रकार

नाथे निशायाः नियते नियोगादस्तंगते हन्त निशापि याता।
कुलांगनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति।।

---

१. अलंकार सर्वस्व, ध्वन्यालोक, वक्रोक्ति जीवित आदि ग्रन्थों में विषमवाण लीला से उद्धृत।

२. तात्पर्यभेदवत्तु लाटानुप्रासः। —अलंकार सर्वस्व पृ० २८

इस पद्य में भी 'गम्' धातु द्वारा प्रक्रान्त का 'या' द्वारा अनुवाद उचित नहीं प्रतीत होता। अतएव पाठ विपर्यास कर 'हन्त गता निशापि' यह पाठ कर लेना अधिक उचित होगा।

प्रक्रम भेद : शब्दपुनरुक्ति

आचार्य महिम भट्ट द्वारा अदोष रूप से अभिमत प्रक्रम अभेद को देख कर कभी कभी शब्द पुनरुक्ति दोष का भ्रम हो सकता है। क्योंकि पूर्वाचार्यों की मान्यता है 'नेकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण'। किन्तु इस प्रसंग में स्मरण रखना चाहिए कि शब्द पुनरुक्ति और प्रक्रम अभेद दोनों के सर्वथा भिन्न क्षेत्र हैं। जहां पूर्व उद्दिष्ट का पुनः प्रतिनिर्देश करना हो वहां **प्रक्रम अभेद** का विषय है। एवं अभेद न होने पर वहां दोष माना जाएगा। इसके विपरीत जहां उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य भाव नहीं है, वहां **शब्द पुनरुक्ति** दोष का क्षेत्र है। उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य भाव रहने पर पुनः उसी शब्द का यदि प्रयोग नहीं किया जाए तो **प्रक्रम भेद दोष** माना जाएगा। किन्तु यदि कदाचित् वक्ता के असामर्थ्य की अभिव्यक्ति के लिए किसी शब्द का विकृत प्रयोग किया गया हो, जो अन्य शब्द के भ्रम का हेतु हो रहा हो, तो भी एक विशेष उद्देश्य से प्रयुक्त होने के कारण वहां प्रक्रमभेद दोष नहीं माना जाएगा।

जैसे

'व्रजतः' तात ! 'वजसीति' परिचयगतार्थमस्फुटम्।
धैर्यमभिनदुदितं शिशुना जननीनिर्भर्त्सनविवृद्धमन्युना।'[1]

इस पद्य में 'व्रजतः' पद द्वारा प्रक्रान्त का 'वजसि' पद द्वारा अनुवाद किया गया है। इस पद में व्रज धातु के स्थान पर 'वज' धातु के प्रयोग का भ्रम होने से प्रक्रम भेद दोष होने की आशंका हो सकती है किन्तु वस्तुतः कवि ने स्वनिबद्ध वक्ता के अत्यन्त शैशव द्योतन के लिए रेफ रहित 'व्रज धातु' का ही प्रयोग किया है, वज धातु का नहीं। फलतः यहां प्रक्रम भेद दोष नहीं माना जाएगा।

यथा प्रक्रान्त का उस शब्द द्वारा हो निर्वाह केवल धातुओं में ही

---

१. शिशुपाल वध १५.८७

आवश्यक हो, ऐसी बात नहीं है। सर्वनाम का भेद होने पर भी धातु भेद के समान ही सहृदय पाठक उद्वेग का अनुभव करता है। जैसे :

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः।।[1]

इस पद्य में भगवान् त्रिशूली के लिए इदम् शब्द द्वारा प्रक्रम किया गया है, किन्तु उसका निर्वाह न कर उत्तर प्रयोग में तत् शब्द व्यवहृत है, यह उचित नहीं है।

यहां एक सन्देह उत्पन्न हो सकता है, वह यह कि 'जैसे यत् शब्द द्वारा प्रक्रान्त विषय का उपसंहार तत् शब्द से किया जाता है, एवं वह उपसंहार सदोष नहीं माना जाता; इसी भांति इदम् शब्द द्वारा प्रक्रान्त का भी तत् शब्द द्वारा उपसंहार सदोष न होगा।' किन्तु गम्भीरता-पूर्वक विचार करने पर यह सन्देह सारयुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रथम तो यत् और तत् शब्द परस्पर नित्य सम्बद्ध हैं,[2] जिसे सभी मानते हैं, इदम् और तत् शब्द उसी भांति नित्य सम्बद्ध नहीं हैं। दूसरे इदम् शब्द सन्निकृष्ट अर्थ का परामर्शक है एवं तत् शब्द दूरस्थ का।[3] अतएव दोनों पूर्णतः भिन्नार्थक हैं, फलतः तत् शब्द इदम् का परामर्शक नहीं हो सकता। हां इदम् अदस् एतत् इन शब्दों द्वारा इदम् का परामर्श किया जा सकता है, जैसाकि आचार्य ने प्रथम ही स्पष्ट कर दिया है—

यश्चैक वाक्ये कर्तृत्वेनोक्तो यश्चेदमादिभिः।
तच्छब्देन परामर्शो न तयोरुपपद्यते।
यतोऽध्यक्षायमाणोऽर्थः स तेभ्यः प्रतिपद्यते।
न चासौ तत्परामर्शसहिष्णुरसमन्वयात्।[4]

धातु और सर्वनाम प्रक्रमभेद की भांति ही प्रत्ययप्रक्रम का अनिर्वाह भी सहृदय हृदय को उद्विग्न कर देता है। यथा

---

१. कुमार संभव ६.९४
२. यत्तदोः नित्य सम्बन्धः। —न्याय वाचक (लोकोक्ति)
३. इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतावर्त्ति चैतदोः रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्।
४. व्यक्ति विवेक २.६-७

रुदता कुत एव सा पुनः भवता नानुमृतेरवाप्यते।
परलोकजुषां स्वकर्मभिः गतयो भिन्नपथाः शरीरिणाम् ॥[1]

इस पद्य में वर्तमान काल में विहित शतृ प्रत्यय द्वारा प्रक्रान्त विषय का भाव में विहित क्तिन् प्रत्यय द्वारा उपसंहार कर औचित्य का निर्वाह नहीं किया गया है। क्योंकि शतृ प्रत्यय में काल विवक्षा प्रधानतः रहती है, जबकि क्तिन् में केवल क्रिया विवक्षा। प्रस्तुत प्रकरण में काल विवक्षा की अपेक्षा एकान्ततः क्रिया विवक्षा ही उचित है, क्योंकि त्रिकाल में भी रोदन और अनुसरण प्रिय प्राप्ति का हेतु नहीं हो सकता। इस अर्थ की प्रतीति क्रिया विवक्षा में ही सम्भव हैं। अतः यहां प्रस्तुत पाठ के स्थान पर 'कुत एव तु सानुरोदनाद्' इत्यादि पाठ करना अधिक उचित होगा। इस पाठ विपर्यास करने पर प्रत्यय भेद होते हुए भी प्रत्ययार्थ में अभिन्नता है, क्योंकि विपर्यस्त पाठ में दोनों ही प्रत्यय भावार्थ में विहित है। एवं समानार्थक हैं, अतः दोष न होगा। इसी प्रकार :—

यशोधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्त्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवांकमुपैति लक्ष्मीः॥

इस पद्य में तुमुन् प्रत्यय से प्रक्रम कर पुनः तत्काल ही उसी अर्थ का लिप्सा शब्द से अभिधान किया गया है, जो उचित नहीं है। इसके स्थान पर इस प्रकार पाठ विपर्यास करना उचित होगा—

यशोधिगन्तुं सुखमीहितुं वा' इत्यादि।

प्रत्यय प्रक्रम भेद के प्रसंग में एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि यदि एकार्थ में विहित भिन्न भिन्न प्रत्ययों का भी प्रयोग किया जाए तो भी प्रत्यय प्रक्रमभेद नहीं होता, ऐसे प्रयोगों में दोषाभाव के प्रसंग में आचार्य पाणिनि स्वीकृत एकार्थकता को ही प्रमाण माना जा सकता है। अतएव निम्नलिखित पद्य को निर्दोष ही माना जाएगा।

पृथ्वि स्थिरा भव, भुजंगम ! धारयैनाम्।
त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः।

---

१. रघुवंश ८.८५

दिवकुंजराः कुरुत तत्त्रितये विधीर्षां
देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ।।

इस पद्य में प्रैष अर्थ में लोट् लकार का प्रयोग करते हुए 'भव' तथा 'धारय' पदों में 'सिप्' प्रत्यय तथा 'दधीथाः' पद में 'थास्' तथा 'कुरुत' पद में 'थ प्रत्यय का प्रयोग हुआ है, प्रत्यय भेद होते हुए भी यहां अर्थ भेद नहीं है क्योंकि तीनों प्रत्यय प्रैष अर्थ में विहित लोट् लकार के स्थान पर विभक्ति रूप आदेश ही है। इस प्रकार इस पद्य में एवं इसी भांति के अन्य वाक्यों में प्रत्यय प्रक्रम भेद दोष नहीं माना जाएगा।[1]

पर्याय प्रक्रम भेद

किसी एक अर्थ की प्रतीति के लिए एक शब्द का प्रयोग कर उसी अर्थ के लिए पुनः उसी शब्द के अन्य पर्यायवाची शब्द का प्रयोग करना **पर्याय प्रक्रम** भेद दोष माना जाता है। यथा—

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसंगा ।।[2]

उपर्युक्त पद्य में सन्तति अर्थ के लिए प्रथम पुत्र शब्द का प्रयोग हुआ है, एवं अनन्तर 'अपत्य' शब्द का। यह उचित नहीं है। दोनों ही स्थलों पर अपत्य अथवा पुत्र एक शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए ऐसी स्थिति में—**महीभृतोऽपत्यवतोऽपि दृष्टिः** इत्यादि पाठ करना, अथवा—**महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिः तस्मिन्हि पुत्रे न जगाम तृप्तिम्'** इस प्रकार पाठ करना उचित होगा।

यहां यह शंका हो सकती है कि पुत्र शब्द पुम् अपत्यार्थ का वाचक है एवं अपत्य शब्द पुंस्त्री उभयार्थ का, तथा सामान्यतः पुम् अपत्य (पुत्र) पर पुत्री की अपेक्षा अधिक स्नेह होता है, अतः 'मैनाक पुत्र' के

---

१. प्रस्तुत पद्य में समानार्थक लोट् और लिङ् लकार का प्रयोग होने से प्रत्यय प्रक्रम दोष नहीं है, किन्तु आत्मनेपद और परस्मैपद की अभिव्यक्ति भेद के कारण उपग्रह भेद तो है ही, जिसका विवेचन आगे किया जाएगा।

२. कुमार सम्भव १.२७

रहते हुए भी उस पार्वती पर हिमालय का अतृप्त स्नेह था इस अर्थ की प्रतीति होने पर हिमालय गत पार्वती विषयक रतिभाव (वात्सल्य) की प्रतीति के लिए ही पुत्र और अपत्य भिन्न पदों का प्रयोग हुआ है, अत: यहां पर्याय वक्रता ही है, प्रक्रम भेद दोष नहीं।

किन्तु उपर्युक्त सन्देह का हेतु स्वत: स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, अत: यह सन्देह उचित नहीं है। क्योंकि पुत्र शब्द पुमर्थ विशिष्ट अपत्य का वाचक है, यह कथन ही तथ्य पूर्ण नहीं पुमर्थ प्रतीति पुत्र शब्द से न होकर सु विभक्ति से होती है, अन्यथा पुत्री पद में भी ङीप् प्रत्ययान्त पुत्र शब्द में पुमर्थ की प्रतीति होनी चाहिए। पुत्र शब्द को हम पुमर्थ का वाचक इसलिए भी नहीं मान सकते कि 'पुत्रश्च दुहिता च' पदों में एक शेष होने पर पुत्रौ पद से स्त्री पुम् उभयार्थ की प्रतीति पुत्र शब्द से ही होती है। केवल पुमर्थ की नहीं। अत: पुमर्थ प्रतीति के ही अमान्य होने से उसके आधार पर वात्सल्य रूप रतिभाव विशेष की प्रतीति नहीं मानी जा सकती।

इसके अतिरिक्त पुम् अथवा स्त्री अपत्य के प्रति स्नेह का तारतम्य भी अमान्य है। यदि कहीं लोक में ऐसे भेद का दर्शन होता है, तो वह रति भेद सहज तारतम्य वश न होकर स्वार्थ साधन हेतुवश है। कालिदास वर्णित शकुन्तला के प्रति कण्व के स्नेह में हम जिस उत्कर्ष को देखते हैं[1] किसी भी अन्य पुम् अपत्य के प्रति वात्सल्य के उदाहरण में तारतम्यातिशय का दर्शन नहीं पाते।

निदान हम पुत्र और अपत्य शब्दों को अपत्य विशेष का वाचक नहीं मान सकते। अपत्य विशेष का वाचक मानने पर उदाहरण में पुष्प सामान्य के रहते हुए भी रसाल मंजरी (चूत) के प्रति अतिशय अर्थात् सामान्य के रहने पर भी विशेष के प्रति रति का सामांजस्य नहीं बन सकता।

---

१. यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठ: स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकस:
पीडयन्ते गृहिण: कथं नु तनया विश्लेष दु:खैर्नवै: ॥

—अभिज्ञान शाकुन्तलम् ४.८

निदान यहां पुत्र और अपत्यशब्दों को समानार्थक (पर्यायवाची) ही मानना होगा, विशिष्ट अर्थ बोधक नहीं। फलतः यहां पर्यायप्रक्रम भेद अनिवार्यतः उपस्थित होगा ही। उपर्युक्त पद्य में पुष्प एवं चूत शब्द भी समानार्थक प्रयुक्त प्रतीत होते हैं एवं यहां भी प्रक्रमभेद दोष होने का सन्देह हो सकता है, किन्तु यहां उक्त दोष नहीं है, क्योंकि पुष्प शब्द सामान्य पुष्प वाची है एवं चूत शब्द पुष्प विशेष वाची। अतएव दोनों स्थलों पर पुष्प या चूत में अन्यतम का व्यवहार नहीं किया जा सकता, फलतः दोनों का प्रयोग होने पर प्रक्रम भेद दोष भी नहीं है।

पर्याय प्रक्रम के प्रसंग में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब दो शब्द परस्पर पर्यायवाची हैं, अभिधान संग्रहकारों (कोशकारों) ने उन्हें पर्यायवाची के रूप में निर्विवाद स्वीकृति दी है, तो फिर यह पर्याय प्रक्रम दोष क्यों माना जाए ?

इसके समाधान में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि पर्याय होते हुए भी निष्पत्ति भेद आदि के कारण प्रत्येक शब्द का प्रतीयमान अर्थ सर्वथा भिन्न होता है, समान नहीं। जैसाकि इसी प्रकरण की पाद टिप्पणी में सोदाहृण सिद्ध किया जा चुका है। प्रतीति भेद की यह कल्पना हमारी अथवा आचार्य महिमभट्ट की स्वान्त प्रसूत कल्पना नहीं है, अपितु इस प्रतीति भेद के आधार पर ही आचार्य कुन्तक ने पर्यायवक्रता की स्थापना की है। उनका कहना है कि यह पर्यायवक्रता तब होगी जब वाच्य के अन्तरतम अथवा वाच्य के अतिशय के पोषक अथवा सुन्दर शोभान्तर के स्पर्श से वाच्य को सुशोभित करने में समर्थ शब्द का प्रयोग किया जा रहा हो।"[1]

अथवा उस समय भी पर्याय वक्रता मानी जाएगी जब 'स्वयं अर्थात् विना विशेषण के अथवा विशेषण सहित होकर सुन्दर तथा शोभान्तर के द्वारा वाच्यार्थ को सुशोभित करने वाले संज्ञा शब्द का प्रयोग किया जा रहा हो।'[2]

---

१. अभिधेयान्तरतमस्तस्यातिशयपोषकः।
रम्यच्छायान्तरस्पर्शात्तदलंकर्त्तुमीश्वरः ॥ — वक्रोक्ति० २.१०

२. स्वयं विशेषणेनापि स्वच्छायोत्कर्षपेशल.।
असम्भाव्यार्थपात्रत्वगर्भं यश्चाभिधीयते ॥ —वही २.११

अथवा रचना ऐसे पर्याय पदों से युक्त है, जो अलंकार से युक्त है, अथवा उस पर्याय से वाच्य अलंकार की सृष्टि हो रही है। वहां भी पर्याय वक्रता मानी जाएगी।[1]

ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने भी प्रत्येक पद की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति को मान कर पद ध्वनि को स्वीकार किया था और तभी उन्होंने

> तद् गेहं नतमिति, मन्दिरमिदं लब्धावकाशं दिवः
> सा धेनुर्जरती, चरन्ति करिणामेता घनाभा घटाः।
> स क्षुद्रो मुसलध्वनिः कलमिदं संगीतकं योषिताम्
> आश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः॥

इस पद्य में 'दिवसैः' पद में प्रकृत्यंश को भी व्यंजक माना है।[2] तथा इसी प्रकरण में सर्वनामों की भी व्यंजकता को स्वीकार किया है।

आचार्य अभिनव गुप्त ने भी इसी प्रसंग में (ध्वन्यलोक लोचन) में सर्वनाम, प्रकृति, प्रत्यय, वचन आदि की स्वतन्त्र अथवा सम्मिलित रूप से व्यंजकता को स्वीकार किया है।

कहीं यत् और तत् का प्रयोग करते हुए विध्यनुवाद भाव से वाक्यार्थ का प्रस्ताव कर पुनः अन्यथाकरण (अर्थात् यत् अथवा तत् के बिना ही वाक्य प्रयोग) प्रक्रम भेद दोष पूर्ण न होगा। जैसे—

> यत्वन्नेत्रसमानकान्तिसलिले मग्नं तदिन्दीवरम्
> मेघैरन्तरितः प्रिये! तव मुखच्छायानुकारी शशी।
> येऽपि त्वद्गमनानुसारिगतयः ते राजहंसाः गताः
> त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते॥

---

१. अलंकारोपसंस्कारमनोहारि निबन्धनः।
पर्यायस्तेन वैचित्र्यं परापर्यायवक्रता। —वही २.१२ पृ० २०३

२. (क) तेन प्रकृत्यंशेन संभूय सर्वनामव्यंजकत्वं दृश्यते। एतच्च द्विशः सामस्त्वं त्रिशःसामस्त्यमिति व्यंजकमित्युपलक्षणम्।
—लोचन पृ० १५९ (काव्यमाला २४) निर्णयसागर प्रेस
(ख) अत्र श्लोके दिवसैरित्यस्मिन्पदे प्रकृत्यंशोऽपि द्योतकः। अत्र च सर्वनाम्नामेव व्यंजकत्वं हृदि व्यवस्थाप्य कविना क्वेत्यादि शब्दप्रयोगो न कृतः। —ध्वन्यालोक ३.१० की वृत्ति

इस पद्य में प्रथम और तृतीय चरण में सीता के नेत्र और गति के उपमान इन्दीवर और राजहंस का यत् शब्द द्वारा उपक्रम तथा तत् शब्द द्वारा उपसंहार कर विध्यनुवाद भाव से कथन किया गया है। किन्तु यहीं द्वितीय चरण में इस यत् तद् विशिष्ट विध्यनुवाद भाव की परम्परा का निर्वाह नहीं किया गया है, अतः यहां प्रक्रमभेद दोष माना जाएगा।

कुछ लोग उपर्युक्त पद्य की निर्दोषता के समर्थन में कह सकते हैं कि चूंकि उपमान इन्दीवर तथा राजहंस में बहुत्व विद्यमान है, उपमेय सीता के अंगों में उस बहुत्व की व्यावृत्ति के लिए उनका कथन यत् तद् विशिष्ट विध्यनुवाद भाव से किया गया है, चन्द्रमा में बहुत्व नहीं हैं, अतएव वहां बहुत्व व्यावृत्ति की अपेक्षा है ही नहीं, इसीलिए यत् तद् विशिष्ट विध्यनुवाद भाव की अपेक्षा भी नहीं है। अतएव यह भिन्नतया उपक्रम किया गया है।

किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर उपर्युक्त तर्क में कुछ सार नहीं प्रतीत होता। क्योंकि चन्द्र भी 'द्वितीया चन्द्र' 'तृतीया चन्द्र' 'चतुर्थी चन्द्र' 'पूर्णिमा चन्द्र' आदि भेद से अनेक प्रकार का है, अतः बहुत्व की सम्भावना तो यहां भी इन्दीवर और राजहंसों के समान हो सकती है, अतः उस दृष्टि से विध्यनुवाद भाव यहां भी आवश्यक ही है।

इस सम्बन्ध में यह तर्क करना भी उचित नहीं है कि इन्दीवर और राजहंसों में व्यक्ति भेद से ही मुख्यतः भेद है, जबकि चन्द्र में अवस्था भेद और काल भेद से यह भेद हुआ करता है।' क्योंकि चन्द्र में भी व्यक्ति भेद ही है। यहां किस आधार पर एक व्यक्तित्व की कल्पना की जा रही है, जबकि प्रतीति सर्वथा भिन्न रूप से होती है। क्या कोई भी व्यक्ति द्वितीय चन्द्र और पूर्णिमा चन्द्र को एक व्यक्ति ही मान सकता है? यदि नहीं तो इन्हें भिन्न व्यक्ति ही मानना होगा। इतना ही नहीं द्वितीया चन्द्र और पूर्णिमा चन्द्र में भिन्न व्यक्तित्व पद्यकार कवि को भी अभिप्रेत है, इसीलिए तो द्वितीया चन्द्रादि की व्यावृत्ति के लिए कवि ने 'तव मुखच्छायानुकारी' विशेषण का प्रयोग किया है, अन्यथा शशि शब्द चन्द्र सामान्य का पर्यायवाची होने से समस्त चन्द्रों का परामर्शक होता। निदान चन्द्र पर्याय शशि शब्द से समस्त चन्द्रों का बोध न हो, केवल पूर्णिमा चन्द्र का ही बोध हो, अतः उसके साथ 'तवमुखच्छायानु-

कारी' (तुम्हारे मुख का सादृश्य रखने वाला) विशेषण का प्रयोग किया गया है, इस प्रकार चन्द्र में भी बहुत्व स्वतः सिद्ध ही है। अतः चन्द्र में एकत्व कल्पना के आधार पर विध्यनुवाद भाव के अभाव का समर्थन उचित नहीं है, फलतः उसे दोष ही मानना होगा।

संख्या व्यवहार में चन्द्र शब्द एकत्व वाची है, ऐसा मानकर चन्द्र में एकत्व प्रतीति होगी, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जाति में एकत्व मानकर इन्दीवर और राजहंसों में भी कहीं एक वचन का प्रयोग होता है, इस आधार पर उनमें भी एकत्व क्यों नहीं मान लेते?

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कवि व्यवहार में चन्द्र में भी अनेकत्व रहता ही है। अतः इन्दीवर और राजहंसों के समान ही शशि में भी विध्यनुवाद भाव होना ही चाहिए, उसका व्यतिक्रम निस्सन्देह प्रक्रम भेद रूप दोष का जनक है।

व्याकरण शास्त्र में समान अर्थ में विधान की गई विभिन्न कारक विभक्तियों में से किसी प्रकरण में एक विभक्ति विशेष द्वारा प्रक्रम करके पुनः उसी प्रकरण या वाक्य में प्रक्रान्त विभक्ति का ही प्रयोग करना चाहिए, अन्य का नहीं। उदाहरणार्थ—हेत्वर्थ में तृतीया और पंचमी दोनों विभक्तियों का विधान व्याकरण शास्त्र में किया गया है, कवि यदि तृतीया विभक्ति का प्रयोग आरम्भ करता है, तो उस वाक्य में अन्य पदों में हेत्वर्थ की प्रतीति के लिए तृतीया का ही प्रयोग होना चाहिए, पंचमी विभक्ति का नहीं। इसी प्रकार यदि पंचमी विभक्ति के द्वारा प्रक्रम किया गया हो, तो अन्य समानार्थक कारक के लिए भी पंचमी का ही प्रयोग करना चाहिए, तृतीया का नहीं। यथा—

न हायनैः न पलितैः न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥[1]

यहां हेत्वर्थ में तृतीया बहुवचन से उपक्रम किया गया है, अतः पलितैः वित्तैः तथा बन्धुभिः पदों में भी तृतीया बहुवचन का ही प्रयोग हुआ है। इसके विपरीत यदि यहां 'न वित्तान्न न बन्धुभिः प्रयोग हुआ होता तो वह उचित न होता। इसी प्रकार—

---

१. मनुस्मृति २.२५४

किं लोअणेहि तरलेहि किमाणणेण
चन्दोवमेण थणएहिं किमुण्णएहिं ।
तं किंणि अण्णमिह भूवलये णिमित्तं
जेणांगणाअ हिअआउ ण ओसरंति ।।[1]

[किं लोचनैस्तरलैः, किमाननेन चन्द्रोपमेन, स्तनैः किमुन्नतैः ।
तत्किमप्यन्यदिह भूवलये निमित्तं, येनांगनाः हृदयान्नापसरन्ति ।।]

यहां तृतीया विभक्ति का प्रक्रम करके अन्त तक उसका निर्वाह किया गया है, अतः प्रतीयमान अर्थ की दृष्टि से यहां विभक्ति का प्रयोग प्रशस्य है। यद्यपि विभक्ति प्रक्रमभेद के इन अवसरों पर प्रायः यह कहा जा सका है कि अमुक स्थल पर व्याकरण की दृष्टि से तृतीया अथवा पंचमी विभक्ति में कोई भी विहित है। अतः यदि तृतीया का प्रयोग करके पंचमी का प्रयोग किया गया है तो आपत्ति क्या ? किन्तु वास्तविकता यह है कि व्याकरण शास्त्र भले ही किसी स्थल विशेष पर दो अथवा अनेक विभक्तियों का समान रूप से विधान करे, किन्तु दोनों के प्रतीयमान अर्थों में नितरां भेद रहता ही है। जैसे तृतीया विभक्ति का जहां भी प्रयोग होता है, वहां अप्रधान कर्तृत्व अथवा करण भाव विवक्षित रहता है, किन्तु पंचमी विधान के अवसर पर अप्रधान कर्तृत्व अथवा करण भाव न होकर हेतुत्व स्थित रहता है। इस प्रकार दोनों में पर्याप्त समानता रहने के कारण व्याकरण शास्त्र भले ही अन्यतर के प्रयोग को उचित मान ले, किन्तु प्रतीयमानार्थ की प्रधानता स्वीकार करने वाला सहृदय दोनों को समान नहीं मान सकता। परिणामस्वरूप कवि द्वारा व्यवहृत विभक्ति प्रक्रमभेद काव्य में दोष ही माना जाएगा। जैसे—

धैर्येण विश्वास्यतया महर्षेस्तीव्रादरातिप्रभवाच्च मन्योः ।
वीर्यं च विद्वत्सु सुते मघोनः स तेषु न स्थानमवाप शोकः ।।[2]

प्रस्तुत पद्य में युधिष्ठिर आदि में शोक का स्थान न होने के चार हेतु उपस्थित किए गए हैं। उनके समुच्चय के लिए समुच्चय बोधक

---

१. कर्पूर मंजरी ३.१६ पृ. १३२ चौखम्भा संस्करण

२. किरातार्जुनीयम् ।

'च' का प्रयोग हुआ है, किन्तु जैसी परम्परा है कि 'च' पद समुच्चय के लिए वहीं प्रयुक्त होता है, जहां पदार्थ तुल्य कक्षतया प्रयुक्त हों, तुल्य-कक्षतया पदार्थ का प्रयोग होने पर उन पदों में समान विभक्ति का होना नितान्त आवश्यक हो जाता है। जैसाकि कहा भी गया है—

तुल्यकक्ष्यतया यत्र पदार्थाः स्यु विवक्षिताः।
समुच्चयो विकल्पो वा तत्रेष्टो दुष्टतान्यथा ॥

अतएव उपर्युक्त पद्य में सहृदय विभक्ति प्रक्रमभेद दोष स्वीकार करेंगे। किन्तु निम्नलिखित पाठ विपर्यास द्वारा इसे दूर किया जा सकता है।

'......तीव्रेण विद्वेषिभुवागसा च' इत्यादि।

इस प्रकार तृतीय चरण में समुच्चयार्थक 'च' निपात का प्रयोग भी सदोष है। अतएव वहां भी 'विद्वत्सु वीर्यं तनये मघोनः' पाठ विपर्यास कर लेना अधिक उचित होगा। अथवा चतुर्थ विशेषण के लिए हेतु निर्देशार्थ—'ज्ञानेन वीर्यस्य सुते मघोनः' इस प्रकार पाठ किया जाना उचित हो सकता है। इसी भांति—

'बभूव भस्मैव सितांगराग: कपालमेवामलशेखरश्रीः।
उपान्तभागेषु च रोचनांकः सिंहाजिनस्यैव दुकूलभावः' ॥[1]

इस पद्य में भी प्रथमा विभक्त का प्रक्रम करके चतुर्थ चरण में उसी अर्थ के लिए षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है, जो उद्वेजक होने से सदोष है। इसके निवारण के लिए निम्नलिखित रूप से पाठ भेद कर लेना उचित होगा।

'मृगेन्द्रचर्मैव दुकूलमस्य' इत्यादि।

इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि रोचना द्वारा अंकन द्रव्य में ही सम्भव है, जबकि दुकूलभाव कहने पर दुकूल को द्रव्य के रूप में अनुभूति नहीं हो सकती। फलतः यह विशेषण नहीं बनता, किन्तु पाठ भेद करने पर दुकूल की उपस्थिति द्रव्य के रूप में होगी एवं उक्त विशेषण निर्दुष्ट हो जाएगा। आचार्य वर्द्धन आनन्द ने—

---

१. कुमार सम्भव ७.३२

सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैः तथा कारकशक्तिभिः।
कृतद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥[1]

इस कारिका में सुप् तथा कारक शक्ति की व्यंजकता को स्वीकार करते हुए विभक्ति या कारक भेद के कारण दोष की सम्भावना को मूलतः स्वीकार ही किया था एवं उसी बीज का अंकुरण महिम भट्ट ने विभक्तिप्रक्रमभेद आदि के रूप में किया है।

इसी प्रकार कुन्तक ने भी पदपरार्ध वक्रता को स्वीकार करते हुए पूर्वोक्त रूप से ही तद्भाव में दोष सम्बन्धी चिन्तन के लिए प्रेरणा दी है।

जैसाकि पहले स्पष्ट किया जा चुका है किन्हीं भी दो प्रकृति प्रत्यय आदि में समान अर्थ रहते हुए भी उनकी अभिव्यक्ति में अन्तर रहा करता है। उसी प्रकार दो उपसर्गों की अभिव्यक्ति में भी अन्तर होना स्वाभाविक है, यही कारण है कि उपसर्ग प्रक्रम भेद को कवि और सहृदय दोनों ही उचित नहीं मानते, अतएव—

गोपहीना यथागावो विलयं यान्त्यपालिताः।
एवं नृपति हीना हि विलयं यान्ति वै प्रजाः ॥[2]

इस पद्य में लय शब्द से पूर्व वि उपसर्ग का प्रयोग दोनों स्थानों पर समान अर्थ की प्रतीति कराता हुआ प्रशंसनीय है। इसी प्रकार—

तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः[3]

पद्य में प्र उपसर्ग पूर्वक स्था धातु द्वारा यात्रा प्रारम्भ करने का प्रक्रम करके पुनः—

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्त्तुररुन्धती च।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः।[4]

इस पद्य में भी प्र उपसर्ग पूर्वक स्था धातु द्वारा ही दिलीप की यात्रा के प्रारम्भ का वर्णन कवि ने किया है, यह सर्वथा प्रशस्त है।

---

१. ध्वन्यालोक कारिका पृ. ३.१६
२. प्रतिमानाटक ३.२
३. रघु० २.७३
४. वही ३.७१

इसके विपरीत--

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः॥

इस पद्य में विपदः पद में 'वि उपसर्ग द्वारा उपक्रम करके पुनः आपदुपेतम् में 'आ' उपसर्ग का प्रयोग होने से उपसर्ग प्रक्रमभेद दोष है।

इसके अतिरिक्त प्रथम चरण गत 'अभिभवन्ति' क्रिया में बहुवचन प्रकान्त हुआ है, किन्तु द्वितीयचरणगत क्रिया 'रहयति' में एक वचन का प्रयोग है, बहुवचन का नहीं, अतः यहां वचन प्रक्रमभेद दोष भी विद्यमान है। साथ ही तृतीय चरण में लघुता कर्म का कर्तृत्वेन अन्वय किया गया है, जबकि पूर्व पदों में तथा चतुर्थ पद में कर्म का कर्तृत्वेन अन्वय नहीं हुआ है, अतएव यहां अन्वय प्रक्रमभेद दोष भी उपस्थित होता है।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उक्त पद्य में उपसर्ग और पर्याय के प्रक्रम भेद को दोष मान कर उसके निराकरण हेतु—

...तदभिभवः कुरुते निरायतिम्।
लघुतां भजते निरायतिः लघुतावान्न पदं नृपश्रियः॥

इस प्रकार पाठ विपर्यास करने का सुझाव दिया है[1]। किन्तु मम्मट कृत उक्त पाठ विपर्यास में सर्वप्रथम छन्दोभंग उपस्थित होता है, जैसाकि प्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर ने कहा है कि 'इस पाठ विपर्यास में औचित्य तब माना जाता, जबकि छन्दोभंग दोष न होता।'[2] क्योंकि यहां सुन्दरी छन्द है अतएव द्वितीय चरण में सगण भगण रगण एक लघु और एक गुरु होना चाहिए।[3] वैतालीय छन्द मानकर छन्दोभंग दोष का

---

१. अत्रोपसर्गस्य पर्यायस्य च। तदभिभवः कुरुते निरायतिं, लघुतां भजते निरायतिः लघुतावान्न पदं नृपश्रियः इतियुक्तम्।
—काव्यप्रकाश वृत्ति पृ० २३१

२. इति पाठो युक्तो यदि न छन्दो भंगः। —काव्यप्रकाश प्रदीप।

३. सुन्दरी छन्द को ही वियोगिनी छन्द भी कहते हैं। जिसका लक्षण है— विषमे ससजा गुरुः; समे सभरा लो गुर्वियोगिनी'। कुछ विद्वान् यहां वैतीयलीय छन्द मानते हैं।

निराकरण भी कर सकते हैं, किन्तु उस स्थिति में भी पूर्व प्रदर्शित प्रकार से वचन प्रक्रम भेद, अभिभवन्ति में परस्मैपद का प्रक्रम होकर कुरुते, भजते में परस्मैपद का प्रयोग न होने से उपग्रह प्रक्रम भेद तथा पूर्व प्रदर्शित विधि से अन्वय प्रक्रमभेद दोष तो रहते ही हैं। अतएव मम्मट कृत पाठ विपर्यास की भी उपेक्षा कर निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास करना चाहिए।

विपदोऽभिभवत्यविक्रमम् अभिभूतं विजहाति चायतिः।
लघुतेच्छति तं निरायति लघुराप्नोति कथं नृपश्रियम्॥

आचार्य महिमभट्ट ने प्रसंग वश केवल उपसर्ग प्रक्रम भेद दोष का ही दर्शन कराया है, अन्य का नहीं, इसका कारण सम्भवतः प्रकरण में सीमित होना ही है। किन्तु उन्होंने पाठ विपर्यास करने का परामर्श देते हुए लिखा है कि— तदुपेतं विजहाति चायतिः' इस प्रकार पाठ करना चाहिए, वह उचित नहीं है। इस प्रकार पाठ विपर्यास करने पर अभिभव द्वारा प्रक्रान्त का उपेत द्वारा उपसंहार होगा, फलतः प्रकृतिप्रक्रमभेद दोष तब भी रह ही जाएगा। अतः उपरिनिर्दिष्ट पाठ विपर्यास ही अधिक उचित होगा।

वचन प्रक्रम भेद

एकवचन द्विवचन अथवा बहुवचन द्वारा प्रक्रम करके उसका पुनः उसी रूप से निर्वाह होना चाहिए, तभी सहृदय उस काव्य की सराहना करते हैं। जैसे—

सस्नुः पयांसि पपुरम्बरमानिनेजुः
जक्षुर्विसान्धृतविकासिविसप्रसूनाः।
सैन्याः श्रियामनुपभोगनिरर्थकत्व-
दोषप्रवादममृजन्नगनिम्नगानाम्॥[1]
दोषं वनेषु सरितां प्रसभं ममार्जुः॥

इस पद्य में स्नान क्रिया में प्रक्रान्त वचन का पान, प्रक्षालन, भक्षण, इत्यादि में पूर्णतः निर्वाह किया गया है। सहृदय इस प्रकार के प्रयोग

---

१. शिशु० वद्ध ५.२६

की ही सराहना करते हैं।[1]

यदि प्रक्रान्त वचन का निर्वाह इस प्रकार न किया जा सके, तो उसे दोष माना जाएगा। आचार्य महिमभट्ट ने इसे वचन प्रक्रम भेद दोष की संज्ञा दी है। यथा—

'काचित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधो मन्दवक्त्रेन्दुलक्ष्मी-
रश्रीकाः काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः।
भ्रेमुर्वात्या इवान्याः प्रतिपदमपरा भूमिवत् कम्पमानाः
प्रस्थाने पार्थिवानामशिवमिति पुरो भावि नार्यः शशंशुः॥

इस पद्य में 'काचित्' लक्ष्मी आदि पदों द्वारा एक वचन से प्रक्रम कर 'अश्रीकाः' 'काश्चित्' 'उद्भ्रान्त सत्त्वाः' 'अन्याः' 'अपराः' कम्पमानाः', 'नार्यः' आदि पदों में बहुवचन का प्रयोग होने से वचन प्रक्रम भेद दोष उपस्थित होगा। जिसके निराकरण हेतु निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास करना उचित होगा—

काश्चित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधुर्मन्दवक्त्रेन्दुलक्ष्म्यः। इत्यादि।

यहां आचार्य महिमभट्ट ने लक्ष्मीः पद के स्थान पर 'शोभाः' पाठ विपरिवर्तन करने की सम्मति दी है। किन्तु लक्ष्मी शब्द का परिवर्तन इस स्थिति में सर्वथा अनावश्यक है। जबकि 'लक्ष्मी' शब्द का ही बहुवचन 'लक्ष्म्यः' पद रखने पर कोई अन्य दोष उपस्थित नहीं होता।

इसी प्रकार—

अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति युष्मत्प्रसादेन।

इस पद्य में सम्बोधन में भगवती शब्द में एक वचन का प्रक्रम कर 'युष्मत्प्रसादेन' कहते हुए बहुवचन का प्रयोग भी वचनप्रक्रमभेद दोष का हेतु है। अतः यहां भी निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास करना चाहिए—

अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति भवतोप्रसादेन।

---

१. इस पद्य में जहां वचन का निर्वाह प्रशस्य है, वहीं प्रक्रान्त काल का अनिर्वाह दोष पूर्ण है, उस पर विचार आगामी पृष्ठों में किया जाएगा।

तिङन्तप्रक्रमभेद

तिङन्त प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग कर अन्त तक उसके निर्वाह करने से काव्य में एक विशेष चारुत्व की प्रतीति होती है, तथा तिङ प्रत्यय के अभाव में उसी अर्थ में कृतप्रत्यय होने पर क्रिया के अप्राधान्य के कारण वह चारुत्व समाप्त हो जाता है, इस चारुत्व के अभाव को ही महिमभट्ट ने तिङन्त प्रक्रम भेद की संज्ञा दी है। उदाहरणार्थः—

फलान्यादत्स्व चित्राणि परिक्रीडस्व सानुषु।
साध्वनुक्रीडमानानि पश्य वृन्दानि पक्षिणाम्।[1]

इस पद्य में आदान, क्रीडन तथा दर्शन क्रिया के आदेशात्मक निर्देश के लिए लोट् लकार मध्यम पुरुष एक वचन का प्रयोग समान रूप से तीनों क्रियाओं में हुआ है, जो अत्यन्त श्लाघनीय है।

इसके विपरीत जहां तिङ् प्रत्ययान्त पदों से प्रक्रम कर पुनः उस अर्थ में ही कृदन्त प्रत्यय का प्रयोग हो, वहां क्रिया के अप्राधान्यवश किंचिद् उद्वेग होने से प्रक्रमभेद दोष माना जाएगा। जैसाकि पृष्ठ २५४ में उद्धृत पद्य में ही देख सकते हैं। जहां—

"**भ्रेमुर्वात्या इवान्याः प्रतिपदमपरा भूमिवत्कम्पमानाः**' इस अंश में भ्रेमुः तिङन्त क्रिया प्रयोग करके 'अपराभूमिवत्कम्पमानाः' वाक्य खण्ड में तिङ् प्रत्यय का त्याग कर शानच् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। जो उचित नहीं है। इसके निराकरण हेतु—

प्रतिपदमपराः भूमिवत्कम्पमापुः पाठ करना अधिक उचित होगा। इस प्रकार पाठ विपर्यास करने पर कम्प प्राप्ति क्रिया भी आख्यातवाच्य होकर प्राधान्यभाव को प्राप्त कर सकेगी। कृदन्त वाच्य होने पर क्रिया अप्रधान हो जाती है, यह सुविदित तथ्य है।[2]

काल प्रक्रम भेद

संस्कृत भाषा में सामान्य भूतकाल के लिए लुङ् लकार अनद्यतन

---

१. भट्टिकाव्य ८.१०

२. यत्रैककर्तृकानेका प्राधान्येतरभाक् क्रिया।
तत्राख्यातेन वाच्याद्या शत्राद्यैरपरा पुनः॥ —व्यक्ति विवेक २.२२

भूत के लिए लङ् लकार एवं परोक्षभूत के लिए लिट् लकार का प्रयोग होता है। यदि किसी प्रकरण में किसी एक काल के लिए किसी लकार विशेष का प्रयोग एक बार किया जा चुका है, तो उसी प्रकरण में समानकाल के लिए उसी लकार का प्रयोग होना चाहिए। यथा—

भ्रेमुः शिलोच्चयांस्तुंगानुत्तेरुरतरान्नदान्।
आशंसवो लवं शत्रोः सीतायाश्च विनिश्चयम्।[1]

इस पद्य में भ्रम धातु के लिट् लकार बहुवचन में भ्रेमुः रूप का प्रयोग कर परोक्ष भूतकाल का प्रक्रम किया गया है। उसका समुचित निर्वाह उत्तरण क्रिया का निर्देश करते हुए उत् उपसर्ग पूर्वक तृ धातु से लिट् लकार का प्रयोग कर के किया गया है। अतः यह प्रयोग श्लाघनीय है।

इसके विपरीत लकारान्तर का प्रयोग होने पर काल प्रक्रम भेद दोष उत्पन्न होगा। जैसे—

संचेरुः सहसा केचिदस्वनाः केचिदाटिषुः।
संयामवन्तो यतिवन्निगदानपरेऽभुवन्।[2]

इस पद्य में 'संचेरुः' क्रिया पद द्वारा प्रक्रान्त परोक्षभूतकाल का आटिषुः क्रियापद में तो उचित निर्वाह हुआ है। किन्तु अन्त में 'अभुवन्' क्रिया पद में लुङ् लकार के द्वारा सामान्यभूत काल का निर्देश दोषपूर्ण है; अतः 'निगदान्मुमुचुः परे' इस प्रकार पाठ विपर्यास करना उचित होगा। इसी प्रकार—

सस्नुः पयः पपुरनेनिजुरम्बराणि, जक्षुर्विसान्धृतविकासिविसंप्रसूनाः।
सैन्याः श्रियामनुपभोगनिरर्थकत्वदोषापवादममृजन्नगनिम्नगानाम्॥

इस पद्य के प्रथम एवं द्वितीय चरण गत क्रियाएं परोक्षभूत वाचक लिट् लकार में प्रयुक्त हुई हैं, किन्तु अन्तिम चरण में 'अमृजन्' क्रिया का प्रयोग परोक्षभूत में न कर लङ् लकार अर्थात् अनद्यतन भूत में हुआ है। अतएव यहां काल प्रक्रमभेद दोष विद्यमान है, उसके निवारणार्थ महिमभट्ट के अनुसार—निम्नलिखित रूप में पाठ विपर्यास करना चाहिए।

---

१. भट्टिकाव्य ८.५५
२. वही ७.५७

सस्नुः पयांसि पपुरम्बरमानिनेजुः
जक्षुः बिसान्धृतविकासिविसप्रसूनाः ।
सैन्याः श्रियामनुपभोगनिरर्थकत्व-
दोषं वनेषु सरितां प्रसभं ममार्जुः ॥

कालप्रक्रमभेद दोष के अतिरिक्त उक्त पद्य में कुछ अन्य दोष भी देखे जा सकते हैं। जैसे—प्रथम चरण गत वाक्य में 'पयः' पद द्वारा कर्म एक वचनान्त प्रक्रान्त है, किन्तु द्वितीय तृतीय वाक्य में 'अम्बराणि' 'विसान्' आदि पद बहुवचनान्त है। अतः यहां वचन प्रक्रम भेद दोष भी उपस्थित होगा। अतएव आचार्य ने पयः के स्थान 'पयांसि' पाठ विपर्यास करना उचित और आवश्यक माना है। इसी प्रकार चतुर्थ चरण गत 'दोषप्रवाद' पद में भी वचनप्रक्रमभेद विद्यमान है, आचार्य महिमभट्ट द्वारा विपर्यस्त पाठ 'दोषं वनेषु' करने पर भी उक्त दोष समानरूप से बना रहता है, अतएव इस स्थल पर दोषान् वनेषु' पाठ करना अधिक उचित होगा। इसी प्रकार द्वितीय चरण में 'विसान्' तथा 'विसप्रसूनाः' पदों में शब्द पुनरुक्ति दोष एवं शब्दान्वय प्रक्रम भेद दोष उपस्थित होगा। आचार्य महिमभट्ट ने इन दोषों की ओर यद्यपि ध्यान नहीं दिया है, किन्तु उनके सिद्धान्त के अनुसार ही उक्त दोषों के निवारणार्थं निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास करना चाहिए—

सस्नु पयांसि पपुरर्हंपटान्निनेजुः जक्षुर्विसान्दधुरमानि सुमान्यथेमाम्।
सैन्याः श्रियामनुपभोगनिरर्थतादिदोषान्वनेषु सरितां प्रसभं ममार्जुः ॥

काल प्रक्रमभेद के प्रसंग में यह सर्व स्वीकृत सिद्धान्त है कि क्रिया में काल वाचक प्रत्यय का प्रयोग वास्तविक काल को देखकर नहीं किया जाता, अपितु वक्ता की विवक्षा के आधार पर किया जाता है। यही कारण है कि आचार्य पाणिनि ने लोक प्रवाह को देखकर शीघ्रता आदि उद्देश्यों को लेकर वर्त्तमान से समीपवर्ती भूत और भविष्यत् दोनों कालों के लिए वर्तमान काल के सदृश ही लट् लकार के प्रयोग की व्यवस्था दी है,[1] जिसके असंख्य उदाहरण पंचतन्त्र आदि

---

१. वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा। —पाणिनीयाष्टाध्यायी ३.३.१३१

ग्रन्थों में देखे जाते हैं।

आचार्य पाणिनि की उक्त व्यवस्था के समर्थन में महाभाष्यकार पतंजलि ने भी अनेक उदाहरणों से सिद्ध किया है कि 'काल का व्यवहार वास्तविक काल निर्णय के अनुसार न होकर वक्ता की विवक्षा पर निर्भर रहता है, उनका कहना है कि 'लोक विज्ञात परोक्ष भूत के लिए भी लङ् लकार का प्रयोग होता है। क्योंकि सम्भव है वह क्रिया प्रयोक्ता के दर्शन का विषय हो और इसीलिए 'अरुणद्यवनः साकेतम्' तथा अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्' आदि प्रयोग भी सामान्य प्रयोग परम्परा में पाए जाते हैं।'[1]

इसी मान्यता के समर्थन में आचार्य महिमभट्ट ने किसी अज्ञात नामा आचार्य का उद्धरण उपस्थित किया है, जिसके अनुसार 'लोक विज्ञात परोक्ष भूत के लिए भी परोक्ष की विवक्षा न होने पर लङ् लकार का प्रयोग होता है। क्योंकि वह क्रिया प्रत्यक्ष योग्य है एवं यह सम्भव है कि वह प्रयोक्ता के प्रत्यक्ष का विषय हो। इसीलिए अजयत् जयन्तो भूतानि' आदि प्रयोग लोक प्रवाह में पाए जाते हैं। क्योंकि रहते हुए भी अविवक्षा एवं न रहते हुए भी विवक्षा सम्भव है। जैसाकि हम देखते हैं कि बिना उदर के किसी प्राणी का होना सम्भवः नहीं है, किन्तु लघु उदर होने की स्थिति में उदर की सत्ता होने पर भी वक्ता उसकी अविवक्षा कर वाक्य व्यवहार करते हुए 'अनुदरा कन्या' अर्थात् बिना पेट वाली कन्या है इस प्रकार व्यवहार करता है। कहनें का तात्पर्य यह है कि क्रिया में वास्तविक काल की अपेक्षा कवि विवक्षित काल का ही विशेष महत्त्व रहता है।'[2]

इसी आधार पर आचार्य महिमभट्ट ने काल की परिवर्तनशीलता

---

१. परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोतु र्वंचनविषये लङ् वक्तव्यः। अरुणद्यवनः साकेतम् अरुणद्यवनो माध्यमिकामिति। —महाभाष्य ३.२.१११

२. (क) यदाह—परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुदर्शनविषये दर्शनयोग्यत्वात् परोक्षस्याविवक्षायां लङ् भवत्येव। 'अजयज्जयन्तो भूतानि' इति। सतोऽपि चासतो वापि चाविवक्षा विवक्षा च भवति, यथानुदराकन्येति। व्यक्ति विवेक पृ० २६०

(ख) छन्दसि लुङ् लङ् लिटः। —पा० अष्टाध्यायी ३.४६

(अस्थिरता) देखकर कालप्रक्रमभेद दोष को ही वैकल्पिक रूप से अस्वीकार करते हुए कहा है कि 'चूंकि काल विशेष विवक्षा मात्र पर ही आधारित है अतएव कालप्रक्रमभेद दोष की उद्भावना ही न की जाए ।'[1]

महिमभट्ट के आलोचक टीकाकार रुय्यक नें भी इस स्थल पर भट्ट का समर्थन ही किया है एवं कहा है कि काल के प्रसंग में विवक्षा का प्राधान्य मानने पर 'अभूदभूमिः' इत्यादि तथा इसी भांति के अन्य पद्य काव्य दोष रहित ही मानने चाहिए ।'[2]

विवक्षा अथवा अविवक्षा के आधार पर यह व्यवस्था केवल काल के सम्बन्ध में ही नहीं, अपितु इस प्रकार के प्रायः सभी स्थलों पर सामान्य रूप से स्वीकृत की जाती है । इसीलिए वैवक्षिक सत्ता अथवा अभाव के अवसर पर प्रक्रमभेद दोष की कल्पना नहीं की जाती । उदाहरण के रूप में हम दे सकते हैं कि—आचार्य पाणिनि के अनुसार शील (स्वभाव) धर्म साधुकारिता आदि अर्थों में क्विप् आदि प्रत्ययों का विधान होता है[3] किन्तु शील आदि की विवक्षा में जहां प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं, वहीं उनकी अविवक्षा होने पर वे प्रत्यय नहीं होते। फलतः कालिदासकृत एक वाक्य में ही जहां विवक्षा के कारण 'अगुत्नुः (शीलार्थक क्स्नु प्रत्ययान्त) प्रयोग किया गया है वहीं 'अत्रस्तः' में

---

१. यदि वा दोषोऽनुद्भावनीय एव, कालविशेषस्य विवक्षामात्रभाविततया-वस्थितत्वात् । —व्य० वि० पृ० २५९-६०

२. एवं च—अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनां भियां 'तनूजस्तपनद्युतिर्दितेः । यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरे हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते' । इत्यादि
'तात, त्वं निजतेजसैवगमितः स्वर्गं यदि स्वस्ति ते
किन्त्वन्येन हृता वधूरिति कथां मा सख्युरप्रेक्षथाः
रामोऽहं यदि राघवस्तदखिलं व्रीडानमत्कन्धरं
सार्धं बन्धुजनेन सेन्द्रविजयी वक्तास्वयं रावणः ।'
इत्यादेश्च महतः काव्यप्रवाहस्य न किंचिद् दुष्टत्वम् ॥
—व्य० वि० व्या० पृ० २६०

३. आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु । पाणिनीय अष्टाध्यायी ३.२.१३४

उक्त प्रत्यय का अभाव है, फिर भी प्रयोग निर्दोष ही माना जाता है।[1]

इसीभांति क्रिया के प्रयोग में क्रिया का फल कर्त्ता के लिए होने पर भी उसकी विवक्षा तथा अविवक्षा हो सकती है, एवं विवक्षा होने पर क्रिया में आत्मनेपद अन्यथा परस्मैपद का प्रयोग अनुचित न होगा। फलतः—

'दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता'

इस वाक्य में क्रिया के फल को कर्त्ता में अविवक्षा होने पर 'ददाति' पद में परस्मैपद एवं विवक्षा होने पर 'कुरुते' पद में आत्मनेपद का प्रयोग हुआ है, इसी आधार पर यहां पद प्रक्रमभेद दोष की कल्पना न हो सकेगी।[2]

इसप्रकार महिमभट्ट के अनुसार विवक्षा एवं अविवक्षा के आधार पर ही प्रक्रमभेद दोष का निर्णय किया जाना चाहिए।[3]

किन्तु महिम भट्ट का यह मन्तव्य विचारणोय है कि काल भले ही

---

१. एवं च क्वचित्ताच्छील्याद्यर्थं प्रत्ययप्रयोगेऽप्यन्यत्र तदकरणमदुष्टम्। यथा:
'जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत्॥'
इत्यत्रागृध्नुरिति ताच्छील्याद्यर्थप्रत्ययप्रयोगेऽप्यत्रस्त इत्यत्रात्रश्नुरित्य-करणेऽपि न दुष्टत्वम्। अत्रस्नुरिति वा निर्देशे अगृध्नुरिति निर्दोषमेव।
—व्य० वि० व्याख्यान २६१

२. कर्त्तुः फलवत्ता, अर्थात् कर्त्रभिप्रायत्वम्। तदपि वैवक्षिकमेव। एवं च 'दृष्टा-दृष्टिमधो ददाति कुरुते, नालापमाभाषिताः' इत्यत्र यदि कर्त्रभिप्रायत्वं क्रियाफलस्य तदा ददातीति परस्मैपदप्रसंगः इति प्रक्रमभेद पर्यनुयोगो-निरवकाशएव।
—व्यक्तिविवेक व्याख्यान पृ० २६१

३. (क) यदि वा दोषोऽयमनुद्भावनीय एव, कालविशेषस्य विवक्षामात्र-भावितयाऽनवस्थितत्वात्।
—व्य० वि० पृ० २५९-६०

(ख) अर्थस्य तदतद्भावो विवक्षामात्रतो भवेत्।
यत्र, प्रक्रमभेदोऽयं न तत्रोद्भाव्यते बुधैः।
यथा विशेषकालस्य शीलादिप्रत्ययेषु च।
कर्त्तुश्च फलवत्तायां तेन तेनोपदर्शिताः॥
—व्य० वि० संग्रह श्लोक २.३०

कवि विवक्षा पर निर्भर रहता हो, किन्तु एक ही वाक्य में प्रयुक्त समकालिक एक क्रिया को परोक्षभूत में मान कर लिट् लकार में तथा अन्य क्रिया को सामान्य भूत अथवा अनद्यतन भूत या वर्तमान काल में मान कर लुङ्, लङ् या लट् लकार में निर्देशित करना उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि कवि की आनन्दमयी सृष्टि में विचरण करने वाला सहृदय पाठक वाक्यगत पदों के आधार पर ही काव्यगत पात्रों से तादात्म्य स्थापित करता हुआ काव्यानन्द का आस्वादन करता है, अतएव जिस समय पाठक किसी क्रिया विशेष द्वारा परोक्षभाव का अनुभव कर रहा हो, उसी समय पूर्व क्रिया के कर्ता द्वारा ही सम्पादित अन्य क्रिया द्वारा सामान्य भूत, अनद्यतन भूत अथवा वर्तमान काल की प्रतीति असम्भावना की हेतु बन जाती है, एवं और वह असम्भावना जैसाकि अभिनवगुप्त ने रस निष्पत्ति प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए लिखा है[1] तादात्म्य की स्थापना नहीं होने देती।

निदान वैवक्षिक काल प्रक्रम भेद भी काव्यानन्द के आस्वाद में बाधक होने के कारण दोष का हेतु है, यह मानना ही अधिक उचित है।

वाच्य प्रक्रमभेद (कारकशक्ति प्रक्रम भेद)

वाक्य में क्रिया प्रधान होती है तथा क्रिया की सिद्धि में सहायक साधन (कारक) गौण होते हैं, इसे सभी स्वीकार करते हैं। इनमें भी जो कारक क्रिया से साक्षात्संबद्ध (वाच्य) होता है, अर्थात् क्रिया द्वारा उसके कुछ अंश (पुरुष और वचन अथवा लिंग और वचन) अभिधेय होते हैं, उसके आधार पर कोई भी क्रिया कर्तृ वाच्य, कर्मवाच्य अथवा भाववाच्य की कही जाती है। इन स्थितियों में क्रिया द्वारा अभिहित होने वाले कारकों (कर्त्ता या कर्म) की क्रिया के प्रति प्रधान साधकत्व की विशिष्ट प्रतीति होने लगती है।

अतएव एक वाक्य में प्रथम कर्तृ वाच्य अथवा कर्म वाच्य का प्रक्रम होने पर पुन: उसी वाक्य अथवा प्रकरण में उस प्रक्रान्त वाच्य

---

१. संवेद्यमसंभावयमान: सवेद्ये संविदं विनिवेशयितुमेव न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरित प्रथमोविघ्न:।

—नाट्य शास्त्र, अभिनव भारती ६.३६

का ही निर्वाह होना चाहिए। क्योंकि प्रक्रम निर्वाह में ही वाक्यगत चारुत्व अविकल और निर्विघ्न रूप से प्रतीत होता है, जैसाकि हम निम्नलिखित पद्य में देख सकते हैं—

ऋषभोद्दीनुदक्षैप्सीत्, तैस्तैररिमर्तर्दिषुः।
अस्फूर्जोद्गिरि शृङ्गे च व्यस्त्राक्षीद् गन्धमादनः।

इस पद्य में कर्तृवाच्य की क्रिया से प्रक्रम कर अन्त तक उसका निर्वाह किया गया है, जो प्रशंसनीय है। इसके विपरीत एक ही पद्य में एक क्रिया कर्तृवाच्य में एवं अन्य क्रिया के भाववाच्य या कर्म-वाच्य में[1] प्रयुक्त होने पर में आचार्य महिमभट्ट के अनुसार कारक शक्ति प्रक्रमभेद दोष होगा। जैसे—

गाहन्तां महिषाः निपानसलिलं शृंगैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विस्रब्धैः क्रियतां वराहततिभिः मुस्ताक्षतिः पल्वते
विश्रान्ति लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः॥[2]

इस पद्य में 'गाहन्तां' क्रिया, कर्त्ता 'महिषाः' से सम्बद्ध हो कर्तृ-वाच्य में प्रयुक्त है एवं तृतीय चरण में 'क्रियताम्' क्रिया 'मुस्ताक्षतिः' कर्म से सम्बद्ध होकर कर्मवाच्य में प्रयुक्त है। अतः यहां कारकशक्ति-प्रक्रमभेद दोष होगा। इसके निवारणार्थ—

'विश्रब्धाः खलु कुर्वतां किरिवराः मुस्ताक्षतिम्पल्वले।"

इस स्थल पर आचार्य महिमभट्ट ने 'कुर्वन्त्वस्तभियो वराहततयो मुस्ताक्षतिं' इत्यादि पाठ विपर्यास की व्यवस्था दी है, किन्तु वह उचित नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में आत्मनेपदप्रक्रम भेद दोष की सम्भावना हो जाती है।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इस स्थल पर 'विश्रब्धा रचयन्तु शूकर-वराः मुस्ताक्षतिं' इत्यादि पाठ विपर्यास की व्यवस्था दी है किन्तु वह भी

---

१. प्रायः क्रिया द्वारा कर्त्ता अथवा कर्मकारक ही अभिधेय हो पाते हैं, अन्यथा स्वयं क्रिया ही प्रधानतया अभिधेय होती है, यही कारण है कि व्याकरण में क्रिया में कर्त्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा भाव वाच्यं भेद से तीन प्रकार माने जाते हैं।

२. अभिज्ञानशाकुन्तलम् २.६

ग्राह्य नहीं है। क्योंकि उस स्थिति में 'रचयन्तु' पद में आत्मनेपद प्रक्रम भेद दोष तथा सूकर पद के प्रयोग होने से 'ग्राम्यत्व' एवं 'बन्धशैथिल्य' दोष की सम्भावना हो जाएगी।

काव्यप्रकाशप्रदीप के टीकाकार नागेश ने—'विश्रब्धः कुरुतां वराहनिवहो मुस्ताक्षतिम्' इत्यादि पाठ विपर्यास किया है किन्तु वह भी उचित नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में वचनप्रक्रमभेद दोष अपरिहार्य रूप से उपस्थित होगा। निदान उपरिनिर्दिष्ट प्रकारानुसार—'विश्रब्धाः खलु कुर्वतां किरिवरा मुस्ताक्षतिम्पल्वले' यह पाठ करना ही उचित होगा।

इसके अतिरिक्त उक्त पद्य के द्वितीय चरण में परस्मैपद का प्रयोग होने से आत्मनेपद प्रक्रम भेद दोष भी विद्यमान है अतएव उसके निरायार्थ उस चरण में भी निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास करना उचित होगा—

'छायाबद्धकदम्बकाः हरिणका रोमन्थमातन्वताम्'।

इसी प्रकार—

कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं च न ते मया कृतम्।
किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते॥[1]

इस पद्य में कर्तृकारक वाचक क्तवतु प्रत्यय से प्रक्रम कर उसका निर्वाह नहीं किया गया है; अपितु कर्मकारकवाचक क्त प्रत्यय का पुनः प्रयोग हुआ है, अतएव यहां भी कारकशक्तिप्रक्रमभेद दोष माना जाएगा। इस दोष के निवारणार्थ इस पद्य में निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास करना चाहिए—

कृतवानसि विप्रियं न मे कृतवत्यस्मि च ते न विप्रियम्।'

इस प्रकार पाठ विपर्यास करने पर उक्त दोष की सम्भावना न रहेगी। इस स्थल पर आचार्य महिम भट्ट ने—'न च तेऽहं कृतवत्यसम्मतम्' पाठ विपर्यास करने की व्यवस्था दी है, किन्तु वह उचित नहीं है। क्योंकि उक्त परिवर्तन करने पर कारक प्रक्रम भेद दोष का निरा-

---

१. कुमार संभव ४.७

करण तो अवश्य हो जाता है, किन्तु उपस्थित पर्यायप्रक्रमभेद दोष का निराकरण असम्भव बना रहेगा। क्योंकि वक्ता का उद्दिष्ट 'न आपने मेरा अप्रिय किया है और नहीं ही मैंने आप का अप्रिय किया है' यह कथन है, इसके लिए वक्ता ने प्रथम वाक्यांश में अप्रिय अर्थ के अभिधान के लिए विप्रिय शब्द का प्रयोग किया है, इसी अप्रिय रूप अर्थ के लिए द्वितीय वाक्यांश में विप्रिय शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए, किन्तु ग्रन्थकार ने पाठ में असम्मत शब्द का प्रयोग करना चाहा है, अतः इनकी ही व्यवस्था के अनुसार पर्यायप्रक्रमभेद दोष होगा।[1] यथा निर्दिष्ट पाठ विपर्यास करने पर कारकशक्तिप्रक्रमभेद दोष के साथ ही पर्यायप्रक्रमभेद दोष का भी निराकरण हो जाएगा। इसी प्रकार—

सजलजलधरं नभो विरेजे विहृतिमियाय रुचिस्तडिल्लतानाम्।
व्यवहितरतिविग्रहै र्वितेने जलगुरुभिः स्तनितैर्दिगन्तरेषु ।।

प्रस्तुत पद्य में प्रथम तथा द्वितीय क्रियावाचक शब्द 'विरेजे' तथा 'इयाय' कर्तृवाच्य में एवं अन्तिम क्रियाशब्द 'वितेने' भाववाच्य में प्रयुक्त है। अतः यहां भी कारकशक्ति प्रक्रमभेद दोष हुआ। इसके निवारणार्थ निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास करना उचित होगा—

'व्यवहितरतिविग्रहं वितेने जलगुरु सः स्तनितं दिगन्तरेषु।'

उपर्युक्त पद्य में कारकशक्ति प्रक्रमभेद दोष के अतिरिक्त प्रथम क्रिया पद विरेजे में आत्मने पद का प्रयोग तथा द्वितीय क्रियापद इयाय में परस्मैपद का प्रयोग है जो आत्मनेपद प्रक्रम भेद दोष का हेतु बन रहा है, अतएव द्वितीय चरण में भी निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास कर लेना उचित होगा—'विषयि सुखं तडितां रुचिर्विजह्ने'।

इस प्रकार समष्टि रूप में पद्य का स्वरूप निम्नलिखित होगा—

सजलजलधरं नभो विरेजे
विषयिसुखं तडितां रुचिर्विजह्ने।
व्यवहितरतिविग्रहं वितेने
जलगुरु सः स्तनितं दिगन्तरेषु ।।

---

१. व्यक्ति विवेक पृ० २५१-२५२

शाब्द प्रक्रमभेद दोष

प्रक्रान्त अर्थ का समुचित निर्वाह होते हुए भी यदि शब्द के अन्वय में प्रक्रम का निर्वाह न किया जा सके तो उसे शाब्दप्रक्रमभेद दोष अथवा शब्दान्वयप्रक्रमभेद दोष कहा जाएगा। जैसे—

सस्नुः पयः पपुरनेनिजुरम्बराणि
जक्षुर्विसान्धृतविकासिविसप्रसूनाः।

इत्यादि पद्य में पयः कर्म पद प्रधानतया असमस्त रूप में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु इस प्रक्रम के विरुद्ध धारण क्रिया का कर्म विसप्रसून समास के अन्तर्गत होने से गुणीकृत है, अतः यहां शाब्द प्रक्रम भेद दोष उपस्थित होगा।[1] इसके निवारणार्थ—

'दधुरमानि सुमान्यथैषाम्' इत्यादि पाठ करना उचित होगा।

किसी काव्य में चारुतर पदों के प्रयोग का प्रक्रम प्रारम्भ होने पर पुनः उसी शब्द सौन्दर्य का निर्वाह न किया जा सके, तो उसे भी शाब्द प्रक्रम भेद दोष कहा जाएगा। यह चारुत्व सौन्दर्य का अभाव पूर्व प्रयुक्त पदों की भांति परवर्त्ती पदों में वर्ण व्यंजकता अथवा पद व्यंजकता का अभाव होने से भी माना जा सकता है। अथवा पूर्व पदों की भांति परवर्ती पद में प्राधान्य के न होने पर भी माना जा सकता है। दोनों ही स्थिति में शब्द सम्बन्धी प्रक्रम का निर्वाह न हो सकना ही दोष का मूल है। अतः ऐसे उदाहरणों में भी शाब्द प्रक्रम भेद दोष माना जाएगा। जैसे—

चारुता वपुरभूषयदासां तामनूननवयौवनयोगः।
तं पुनर्मकरकेतनलक्ष्मीः तां मदो दयितसंगमभूषः॥

इस पद्य में सौन्दर्य द्वारा शरीर की शोभा, नवयौवन संयोग द्वारा सौन्दर्य की शोभा तथा नवयौवन में कामदेव कृत शोभा का कथन अतिशय आह्लादक एवं मनोरम है। उसके अनन्तर ही कामदेव कृत शोभा में प्रिय मिलन है भूषण जिसका, ऐसे मद को हेतु कहा गया है, यहां

---

१. द्रष्टव्य—व्यक्ति विवेक पृ० २५६ मधुसूदनी सहित चौखम्बा संस्करण।
२. शिशुपाल वध १०.३३

वस्तुत: मद की अपेक्षा प्रिय मिलन को हेतु मानना अधिक उपयुक्त होता। किन्तु कवि के प्रमाद वश प्रिय मिलन अभिधायक 'दयितसंगम' शब्द समास में गौण हो गया है, फलत: शाब्द प्रक्रम भेद दोष होगा।

इसके अतिरिक्त पूर्व वाक्यों में समान रूप से 'अभूषयत्' क्रिया का सम्बन्ध होने से दीपक अलंकार का भी प्रक्रम हो जाता है, किन्तु 'दयितसंगमभूष:' इस पद कदम्बक में कर्तृ पद में ही भूषण क्रिया का समावेश हो जाने से प्रक्रान्त दीपक अलंकार की मनोहारिता हठात् कम हो जाती है, फलत: प्रक्रान्त दीपक अलंकार का भंग होने से भी यहां शाब्द प्रक्रम भेद दोष होगा। अत: उसके निराकरण हेतु 'तमपि वल्लभसंग:' पाठ करना अधिक उचित होगा।

वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक ने भी उपर्युक्त पद्य में प्रक्रम भेद दोष की उद्भावना की थी एवं उन्होंने भी महिमभट्ट से लगभग एक शताब्दी पूर्व इसी प्रकार पाठ विपर्यास की व्यवस्था की थी।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस स्थल पर समान रूप से शाब्द प्रक्रम भेद अथवा शब्दान्वय प्रक्रम भेद को दोष के रूप में सहृदयजन-वैरस्यकारी मानते हैं।

इसी प्रकार—

समतया वसुवृष्टिविसर्जनै र्नियमनादसतां च नराधिप:।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा॥[2]

---

१. शब्दस्यापि शब्दान्तरेण साहित्यविरहोदारणं यथा—
'चारुता वपुरभूषयदासां······' इत्यादि।
दयितसंगम: तामभूषयदिति वक्तव्ये, कीदृशोमद: दयितसंगमो भूषा यस्येति। दयितसंगमशब्दस्य प्राधान्येनाभिहितस्य समासवृत्तावन्तर्भूतत्वात् गुणीभावो न तद्विदाह्लादकारी। दीपकालंकारस्य च काव्यशोभाकारित्वेनोपनिबद्धस्य निर्वहणावसरे त्रुटितप्रायत्वात् प्रक्रमभंगविहितं सरसहृदय-वैरस्यमनिवार्यम्। दयितसंगतिरेनम् इति पाठान्तरं सुलभमेव।
—वक्रोक्तिजीवित १.७ वृत्ति

२. रघुवंश ९.६
···नियमन द्वारा एवं अपने तेजस्वी स्वरूप द्वारा यम कुबेर वरुण तथा सूर्य का अनुगमन किया।

प्रस्तुत पद्य में दशरथ ने यम कुबेर वरुण तथा सूर्य का अनुगमन किया, इस वाक्यार्थ के अभिधान के लिए यम पुण्यजनेश्वर तथा अरुणाग्रसर पदों का प्रधानतया अभिधान किया गया है, साथ ही अनुगमन के हेतु के रूप में समता, वसुवृष्टि विसर्जन तथा रुक् (कान्ति) का भी उपादान किया गया है, जो उचित ही है। किन्तु साथ ही वरुण पद भी जो समास गत होने के कारण अप्रधानतया विद्यमान है, अर्थतः अनुगमन क्रिया का कर्म स्वीकृत होता है, किन्तु अनुगमन क्रिया के प्रति वरुण के कर्मभाव के हेतु के रूप में असत् नियमन का हेत्वर्थक तृतीया विभक्त्यन्त प्रयोग होने से अन्य हेतुओं की भांति शब्दतः कथन भी है, जो उचित नहीं है उसका कथन भी अन्य हेतुओं के समान अर्थतः होना चाहिए, शब्दतः नहीं, अतः यहां शाब्द प्रक्रम भेद दोष होगा।

आचार्य महिमभट्ट के अनुसार उक्त दोष के निवारण हेतु उक्त पद्य में निम्नलिखित पाठ विपर्यास कर लेना चाहिए—'नियमयन्नसतः स नराधिपः' इत्यादि। उपर्युक्त पाठ विपर्यास करने पर वरुण के अनुगमन के प्रति असत् नियमन हेत्वर्थक विभक्ति के अभाव में शाब्द हेतु न होकर आर्थ हेतु होगा, फलतः उक्त दोष का परिहार हो जाएगा।

व्यक्तिविवेक के आधुनिक टीकाकार पं० मधुसूदन शास्त्री ने उपर्युक्त पाठ विपर्यास को अत्यन्त दोषपूर्ण माना है।[1] उनकी मान्यता है कि उक्त पद्य में समता शब्द विसर्जन क्रिया का विशेषण है, अतएव अनुगमन क्रिया के प्रति वरुण सहित यम और पुण्यजनेश्वर के कर्मभाव प्रतिपादनार्थ वसुवृष्टि विसर्जन एवं असन्नियमन दो हेतु हैं। दोनों ही शब्दतः कथित हैं; किन्तु वरुण का कर्मभाव प्रतिपादक हेतु आर्थ होना चाहिए, अतएव महिमभट्ट द्वारा निर्दिष्ट पाठ विपर्यास के स्थान पर निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास करना चाहिए।

---

१. यच्चात्र ग्रन्थकारेण यस्त्वसन्नियमयन्नित्यादि स नराधिप इतीयन्तः पाठः उल्लिखितस्तत्र तु दुर्विचारनिरूपकस्य अस्य जडता एवानुसन्धेया सूक्ष्मनिमीलितनेत्रे विनापि।

—व्य० वि० मधुसूदनी वृत्ति पृ० २६४

'नरपतिर्वसुवृष्टिविसर्जनैः नियमनैश्च द्विषां जडशिक्षकः।

अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ इत्यादि।

इस पाठ में 'वसुवृष्टिविसर्जन' 'शत्रुनियमन' 'जडशिक्षण' आदि हेतु कथित हैं। इनमें जड शिक्षण आर्थ हेतु होगा, अतः प्रक्रमभेद दोष न रहेगा।

वस्तुतः आचार्य महिमभट्ट कृत पाठ विपर्यास निर्दोष है, श्री शास्त्री जी को दोष भ्रम केवल इसलिए हुआ है कि उन्होंने 'समतया' पद को क्रिया विशेषण माना है, फलतः उन्हें दो ही हेतु दृष्टिगत होते हैं एवं इस स्थिति में दोष की कल्पना स्वाभाविक ही है। यदि वे समतया पद को क्रियाविशेषण के रूप में न देखकर हेतु के रूप में देख पाते, तो उन्हें उक्त भ्रम न होता।

यदि शास्त्री जी के मत का आश्रयण कर 'समतया' पद को क्रिया विशेषण माना जाएगा, तो कालिदास कृत उक्त श्लोक में केवल तीन हेतु ही विद्यमान मानने पड़ेंगे वसुवृष्टिविसर्जन असन्नियमन एवं रुक् (कान्ति)। इस स्थिति में अनुगमन क्रिया के चार कर्म यम पुण्यजनेश्वर वरुण और अरुणाग्रसर (सूर्य) के साथ शाब्द अन्वय में बाधा होगी। इस प्रकार दोष की संगति में तो आपत्ति नहीं होगी। क्योंकि इस संशोधन में जड शिक्षण को भी हेतु मानने पर उसकी पूर्ति हो जाएगी, किन्तु इस स्थिति में एक अन्य महान दोष पड़ा ही रह जाएगा, वह है यथाक्रम अन्वय। क्योंकि अब चार हेतु १. वसुसृष्टिविसर्जन, २. असन्नियमन, ३. जड शिक्षण एवं ४. रुक (कान्ति) होंगे। इनका क्रमशः अन्वय—१. यम, २. पुण्यजनेश्वर (कुबेर) ३. वरुण, एवं ४. अरुणाग्रेसर सूर्य से होना चाहिए। किन्तु यहां यथाक्रम अन्वय संगत होना असम्भव है, यम वसुवृष्टि विसर्जन नहीं करता, और नहीं ही, कुबेर असत् नियन करने वाले हैं। अतएव शास्त्री जी की कल्पना कहां तक सारपूर्ण है, यह काव्यतत्त्वज्ञों के लिए विचारणीय ही है।

---

१. कुमार सम्भव ५.७१

उपर्युक्त दोष के अतिरिक्त हेत्वर्थक तृतीया विभक्ति के प्रक्रान्त होने पर 'नियमनात्' पद में पंचमी विभक्ति का प्रयोग होने पर विभक्ति प्रक्रमभेद दोष भी होगा, साथ ही समुच्चेय के अभाव में समुच्चयार्थक च शब्द का 'असतां' पद के अनन्तर प्रयोग भी दुष्ट प्रयोग है। उक्त पाठ विपर्यास से इन दोनों दोषों का भी निराकरण हो जाता है।

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त उक्त पठान्तर्गत चतुर्थ चरण में अरुणाग्रसर पद का प्रयोग हुआ है। आचार्य पाणिनि के अनुसार अग्रसर प्रयोग न होकर अग्रेसर प्रयोग होना चाहिए।[1]

आर्थ प्रक्रम भेद

अभी शाब्द प्रक्रमभेद दोष की चर्चा हुई है, इसमें शाब्द कथन द्वारा प्रक्रम होने पर पुनः आर्थ प्रक्रम करने पर प्रक्रमभेद दोष माना गया है। इसके विपरीत यदि प्रथम आर्थ अन्वय द्वारा प्रक्रम किया गया हो किन्तु अनन्तर आर्थ अन्वय का निर्वाह न कर शाब्द अन्वय कर दिया जाए, तो वहां आर्थप्रक्रमभेद दोष माना जाएगा।

इसके उदाहरण के लिए पूर्वोदाहृत 'चारुता वपुरभूषयत्' इत्यादि पद्य को विपरीत पाठ कर के देखा जा सकता है जैसे—

मत्तता दयितसंगमभूषा भूषयत्यसमसायकलक्ष्मीम्।
साप्यनूननवयौवनयोगं तद् वपुस्तदपि चारुतरत्वम्॥

प्रस्तुत पद्य में दयित संगम भूषा एक समस्त पद है, जिसकी 'दयित-का संगम ही भूषा है, जिस मत्तता की' इस प्रकार विग्रह करने पर 'दयितसंगम मत्तता को भूषित करता है, यह आर्थ अन्वय होता है। इस प्रकार इस आर्थ अन्वय से प्रक्रम करके 'वह मत्तता असमसायक (कामदेव) की लक्ष्मी को विभूषित करती है' इत्यादि प्रकार से शाब्द अन्वय करना उचित नहीं प्रतीत होता। महिमभट्ट के अनुसार इस अनौचित्य को आर्थ प्रक्रमभेद दोष कहेंगे। इस दोष के निराकरण हेतु उक्त पद्य में निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास कर लेना उचित होगा—

---

१. पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः। पाणिनीय अष्टाध्यायी ३.२.१८

मत्ततां दयित संगतिरेषा भूषयत्यसमसायकलक्ष्मीम् ।
साप्यनूननवयौवनयोगं तद् वपुस्तदपि चारुतरत्वम् ।।

इस प्रकार आठ विपर्यास करने पर आर्थं प्रक्रम भी आर्थ न रहकर शाब्द हो जाएगा एवं अन्य चरणों में भी शाब्द प्रयोग ही विद्यमान होने से प्रक्रम भेद दोष नहीं रहेगा।

आचार्य महिम भट्ट ने शाब्द प्रक्रम भेद के उदाहरण देकर सांकर्य समुद्भूत प्रक्रम भेदों का प्रक्रम कर दिया है एवं उसके अन्तर्गत सांकर्य रहित आर्थ प्रक्रम भेद की चर्चा की है एवं उदाहरण भी दिया है, यह उचित नहीं है। इस क्रम विपर्यास के कारण इस प्रक्रिया में भी प्रक्रम भेद दोष आ जाएगा। अतः सांकर्य समुद्भूत उदाहरण देने से पूर्व आर्थ प्रक्रम भेद का निर्देश एवं निदर्शन करना अधिक उचित होगा एवं उसके अनन्तर सांकर्य समुद्भूत प्रक्रम भेदों की चर्चा करनी चाहिए।

इस प्रकार अब तक हम प्रक्रम भेद दोष के प्रसंग में बारह प्रकार देख चुके हैं जो निम्नलिखित हैं—

१. प्रकृति प्रक्रम भेद (धातु, संज्ञा, सर्वनाम प्रक्रम भेद दोष)
२. प्रत्यय प्रक्रम भेद
३. पर्याय प्रक्रम भेद
४. विभक्ति प्रक्रम भेद
५. उपसर्ग प्रक्रम भेद
६. वचन प्रक्रम भेद
७. तिङन्त प्रक्रम भेद
८. कालविशेष प्रक्रम भेद (यह भेद दोष के रूप में उपेक्ष्य है)
९. उपग्रह उपक्रम भेद
१०. कारक शक्ति प्रक्रम भेद (कर्मवाच्य प्रक्रमभेद, भाववाच्य प्रक्रमभेद तथा कर्त्तृ वाच्य प्रक्रम भेद)
११. शाब्द (शब्दान्वय) प्रक्रम भेद
१२. आर्थ प्रक्रम भेद

किन्तु जैसाकि प्रथम ही कहा जा चुका है, यह प्रक्रम भेद दोष अनन्त प्रकार का है, तथा उनके परस्पर सांकर्य से पुनः असंख्य भेद हो सकते हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद्य में प्रकृतिप्रत्यय प्रक्रम भेद दोष

द्रष्टव्य है—

नियतालघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः ।।

उक्त दोष निराकरण हेतु महिमभट्ट के अनुसार निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास करना चाहिए—

नियता लघुता निरायतेः न लघु र्जातु पदं नृपश्रियः ।।

इस पाठ विपर्यास की स्थिति में महिमभट्ट के अनुसार प्रक्रान्त लघु शब्द के पुनः प्रयोग द्वारा प्रकृतिप्रक्रमभेद तथा अगरीयान् पद में मूलपाठ में प्रयुक्त ईसुन् प्रत्यय का प्रयोग न करने से प्रत्यय प्रक्रम भेद दोष का निराकरण हो जाएगा।

वस्तुतः उक्त पाठ विपर्यास करने पर भी प्रत्ययप्रक्रमदोष का निराकरण नहीं हो पाता, क्योंकि लघु शब्द के साथ तल् प्रत्यय प्रक्रान्त है। पुनः तल् प्रत्यय रहित 'लघु' पद का प्रयोग करने से प्रत्यय प्रक्रम भेद दोष का निराकरण नहीं हो पाता, अतएव निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास करना अधिक उचित होगा—

लघुतां भजते निरायति र्लघुतायान्न पदं नृपश्रियः।

क्रम प्रक्रम भेद

वाक्य में पठित उद्देश्य प्रति निर्देश्य का यथाक्रम न होना क्रम प्रक्रम भेद दोष कहा गया है, जैसे—

तव कुसुमसरत्वं शीतरश्मित्वमिन्वोः
द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखैः,
त्वमपि कुसुमबाणान्वज्रसारी करोषि।[1]

यहां उद्देश्य के रूप में प्रथम कुसुमशर (कामदेव) एवं तदनन्तर शीतरश्मि चन्द्र का कथन किया गया है, किन्तु प्रतिनिर्देश के अवसर

---

१. इस क्रमप्रक्रमभेद दोष का अभाव ही परवर्ती आलंकारिकों द्वारा यथासंख्य अलंकार माना गया है।
यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः। काव्य प्रकाश १०.१०८

पर इन्दु द्वारा अग्नि विसर्जन एवं उसके अनन्तर कामदेव द्वारा कुसुम बाणों का वज्रसारी कारण कथित है। इस प्रकार पाठ क्रम का निर्वाह न होने से आचार्य महिमभट्ट यहां क्रमप्रक्रमभेद दोष स्वीकार करते हैं।

क्रमप्रक्रमभेद दोष के निदर्शन के रूप में प्रस्तुत पद्य को उपस्थित करना उचित नहीं है, क्योंकि इस पद्य में पाठक्रम की अपेक्षा चूलिका क्रम[1] का होना अधिक उचित है। क्योंकि प्रस्तुत पद्य में वक्ता दुष्यन्त एवं श्रोता कामदेव है, इस प्रकार प्रस्तुत कामदेव के प्रति कथन प्रारम्भ किया गया है तथा अपने अभिधेय से ही सम्बद्ध अतएव प्रसंग प्राप्त अप्रस्तुत इन्दु का कथन उसके अनन्तर हुआ है, किन्तु प्रतिनिर्देश प्रसंग में अप्रस्तुत का कथन प्रथम करके प्रस्तुत द्वारा उपसंहार करना ही उचित है, न कि प्रासंगिक अप्रस्तुत द्वारा। इस प्रकार कुसमशर द्वारा ही उपक्रम एवं कुसम शर द्वारा ही उपसंहार करना तथा मध्य में प्रासंगिक का कथन करना उचित होना चाहिए, जैसाकि कवि ने किया है। अतः चूलिका क्रम का निर्वाह होने से क्रमप्रक्रमभेद के प्रसंग में इस उदाहरण को उपस्थित करना उचित नहीं है।

व्यक्तिविवेक के आलोचक टीकाकार रुय्यक की मान्यता भी हमारे पक्ष में ही है।[2] इस चूलिका क्रम का आदर आचार्य पाणिनि ने भी

---

१. चूलिका क्रम—स्त्रियां अपने हाथों में जिस प्रकार की चूलिका (चूड़ी) को सर्वप्रथम पहनती हैं, अन्त में भी उसी प्रकार की चूलिका को वे पहनती हैं एवं इसी क्रम में अलंकृति की सार्थकता हो पाती है। इस क्रम को ही चूलिका क्रम कहते हैं।

२. इदं क्रमप्रक्रमभेदोदाहरणं न युक्तम्, चूलिकाक्रमस्यैवात्रोचितत्वम्। तथाह्युद्देशः। स्मरं प्रति साम्मुख्येनाभिधानं विहाय नेन्दुं प्रासंगिकं प्रत्ययथार्थज्ञानमुचितमिति स्मरस्य तावत् प्रथमनिर्देशोऽयं, यतः अनुद्देशेत्विमं विषयं त्यक्त्वा न प्रासंगिकेन वाक्यार्थपरिसमाप्तिः शोभते; इति पार्यवसानिकेन स्मरेणैव सम्मुखीक्रियमाणेन वाक्यार्थः परिसमापनीयः इति पाठक्रमापेक्षया चूलिकाक्रम एव सहृदयहृदयरंजकः इति कुशाग्रीयधिषणैः निपुणं निरूपणीयमेतत्।

व्यक्तिविवेक व्याख्यान चौखम्बा संस्करण (१९३६) पृ० २६८

त्रिवेन्द्रम् (१९०९) संस्करण पृ० ३७

'युष्मदस्मदोः पदस्य पदात् षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ।'[1]

सूत्र में पाठक्रम के अनुसार द्वितीया चतुर्थी षष्ठी न रखकर अन्तिम को प्रथम एवं प्रथम को अन्तिम स्थान पर रखकर षष्ठी चतुर्थी द्वितीयास्थ कहते हुए किया है। अतएव उक्त पद्य में भी चूलिका क्रम का आदर होना ही चाहिए।

क्रम प्रक्रम भेद के उदाहरण के प्रसंग में हम निम्नलिखित पद्य को ले सकते हैं—

'तपेन वर्षाः शरदा हिमागमो वसन्तलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च।
प्रसूनक्लृप्तिं दधतः सदर्तवः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां दधुः।'[2]

प्रस्तुत पद्य में तप (ग्रीष्म) के वर्षा के साथ आगमन के कथन की विवक्षा में पुंल्लिग तप (ग्रीष्म) ऋतु का कथन प्रथम एवं स्त्रीलिंग वर्षा का कथन पश्चात् हुआ है। किन्तु शरद हिमागम (हेमन्त) तथा वसंत एवं शिशिर के आगमन की बिवक्षा में स्त्रीलिंग में विद्यमान शरद तथा वसन्त लक्ष्मी का प्रथम एवं पुंल्लिग में विद्यमान हिमागम अर्थात् हेमन्त तथा शिशिर का कथन पश्चात् किया गया है। इस प्रकार यहां पुंल्लिग के प्रथम अभिधान रूप प्रक्रान्त क्रम का निर्वाह न होने से यहां क्रमप्रक्रमभेद दोष माना जाएगा।

आचार्य महिमभट्ट प्रतिपादित उपर्युक्त प्रक्रम भेदों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के प्रक्रमभेद भी हो सकते हैं, जैसे सामान्यप्रक्रमभेद, विशेषप्रक्रमभेद इत्यादि।

यदि वाक्य में सामान्य अर्थाभिधायी पदों के प्रयोग का उपक्रम किया गया है, तो सामान्यार्थाभिधायी पदों का ही प्रयोग करना उचित है। इसी प्रकार विशेषार्थाभिधायी पदों के प्रयोग का प्रक्रम होने पर विशेषार्थाभिधायी पदों का प्रयोग ही सहृदय पाठकों के हृदय को आनन्दित कर पाता है।

---

१. पा० अष्टाध्यायी ८.१.२०
२. शिशुपाल वध १.६६

'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमतीकलावतः त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।'[1]

प्रस्तुत पद्य में विशेष रूप से प्रतिपादन हेतु अभिमत वस्तु का प्रतिपादन विशिष्ट शब्दों द्वारा ही प्रक्रान्त हुआ है और विशेषार्थ प्रतिपादक शब्द द्वारा ही उसका निर्वाह कितना मनोरम प्रतीति हो रहा है। क्योंकि इस पद्य में शिव के वाचक सहस्रों शब्दों के होते हुए भी कपालिनः पद बीभत्स रस के आलम्बन विभाव का वाचक है, जो शिव के प्रति घृणा के व्यंजक के रूप में निबद्ध होकर कुछ अपूर्व सौन्दर्य को उत्पन्न कर रहा है।

इसीप्रकार सम्प्रति और द्वयं ये दोनों पद भी विशिष्ट रूप से चमत्कार का सृजन करते हैं, क्योंकि पहले तो अकेली वह चन्दमा की कला ही कपाली के समागम प्रार्थना रूप दुर्व्यसन से दूषित होने से शोचनीय थी। अब तुमने उस दुर्भाग्यपूर्ण कार्य को प्रारम्भ कर दिया है। इस प्रकार दोनों ही विशेषार्थीभिधायक पद समवेत होकर अद्भुत सौन्दर्य की सृष्टि कर रहे हैं। प्रस्तुत पद्य में प्रार्थना रूप विशिष्ट पद भी अत्यधिक रमणीय है। क्योंकि काकतालीयन्याय से अकस्मात् उस कपाली का समागम कदाचित् निन्दनीय न होता, परन्तु उसके विषय में प्रार्थना कुलीनता के लिए अत्यन्त कलंककारिणी है।

इसी प्रकार 'सा च', 'त्वम् च' ये दोनों पद भी चन्द्रमा की कान्तिमती कला और पार्वती के अनुभूयमान लावण्यातिशय के प्रतिपादक हो रहे हैं। इसी भांति 'कलावतः' तथा 'कान्तिमती' ये दोनों मत्वर्थीय प्रत्ययान्त पद प्रक्रम के अभंग के कारण अत्यधिक रमणीयता उत्पन्न कर रहे हैं।

प्रक्रमभेद दोष का दोषत्व

प्रक्रमभेद दोष के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि इसे दोष क्यों माना जाए? जैसे किसी गन्तव्य स्थान पर पहुंचने के अनेक साधनों के रहने पर प्रधानतया उद्दिष्ट पहुंचना रहता है साधनों का कोई महत्त्व नहीं होता। उसीभांति वक्ता का उद्देश्य अपने विचारों

को सहृदय श्रोता तक पहुंचाना उसकी प्रतीति कराना है; उसका प्रधान उद्दिष्ट होता है, अर्थ। उसके लिए वह किन्हीं भी शब्दों का व्यवहार क्यों न करे? फिर शब्द भेद होने पर भी एकरस अर्थ का सफलतापूर्वक अभिधान होने पर किसी प्रकार के प्रकृति, प्रत्यय, पर्याय, विभक्ति आदि के प्रक्रम में भेद होने पर भी दोष नहीं मानना चाहिए।

आचार्य महिमभट्ट उपर्युक्त प्रश्न की उद्भावना कर उसके समाधान में कहते हैं कि प्रक्रम भेद की सम्भावना प्राय: सर्वत्र विध्यनुवाद भाव की स्थिति में ही होती है।[1] अतएव पूर्व अभिहित अर्थ के ही पुन: अनुवाद रूप अभिधान में वक्ता शब्दभेद को उचित नहीं मानते। इस प्रसंग में यद्यपि आचार्य महिमभट्ट ने कारण स्पष्ट नहीं किया है, [किन्तु वह है प्रत्येक शब्द के प्रतीयमान अर्थ का भेद। व्यक्तिविवेक के टीकाकार आचार्य रुय्यक ने इसे कुछ स्पष्ट किया है उनका कहना है 'काव्य में शास्त्र आदि के समान केवल अर्थ प्रतीति के लिए शब्द व्यवहार नहीं होता अपितु यहां साहित्य की विवक्षा होती है शब्द और अर्थ का अन्यूनातिरिक्त वृत्तित्वेन प्रयोग होता है।[2]

काव्यप्रयोजन के प्रसंग में आचार्य मम्मट ने भी इस दिशा में संकेत दिया है। उनका कहना है कि काव्य प्रभुसम्मित शब्दप्रधान वेद आदि शास्त्र से, एवं सुहृत्सम्मित तात्पर्यवान् अर्थात् सिद्धार्थ प्रधान पुराण इतिहास आदि से भिन्न है। यहां शब्द और अर्थ गौण होकर रस के अंग रूप से व्यापारित होते हैं और तभी लोकोत्तर वर्णना में निपुण कवि की कृति कान्ता की भांति सरसता का आपादन करती हुई सहृदय को यथावद् उपदेश करती है।"[3]

---

१. किसी अभिधेय को एक बार अभिहित कर उसका स्पष्टीकरण करने के लिए अनुवचन विधि-अनुवादभाव कहाता है।

२. न च काव्ये शास्त्रादिवत् अर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते। सहितयो: शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात्। साहित्यं तुल्यकक्ष्यत्वेनान्यूनातिरिक्तत्वम्।
—व्य० वि० व्या० पृ० २६८

३. प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्य: सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसांगभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म तत्कान्तेव सरसतापादनेनाभि-

इस कथन से मम्मट का अभीष्ट यह है कि काव्य में वाच्यार्थ ही प्रधान नहीं होता कि किसी भी शब्द द्वारा उसका अभिधान कर लें। यहां प्रधान रस होता है एवं उसकी अभिव्यक्ति के लिए जिन विभावादि की अपेक्षा होती है, वे प्रत्येक शब्द से भिन्न रूप से अभिव्यक्त होते हैं।

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने तो स्पष्ट शब्दों में सुप् तिङ् वचन तथा कारक शक्ति आदि के द्वारा रस की अभिव्यक्ति की घोषणा की है।[1] फिर कैसे सम्भव है कि एक प्रत्यय के प्रक्रम में अन्य प्रत्यय का, एक विभक्ति के प्रक्रम में अन्य विभक्ति का, एक वचन के प्रक्रम में अन्य वचन का एवं एक कारक के प्रक्रम में अन्य कारक का प्रयोग किया जाए। फलतः प्रत्येक शब्द (प्रकृति) प्रत्यय विभक्ति कारक आदि के प्रक्रम होने पर उसका निर्वाह नितान्त आवश्यक है। अन्यथा सहृदय-हृदय में उद्वेग होने के कारण उक्त प्रक्रम के अनिर्वाह को दोष माना ही जाएगा तथा उसके समुचित निर्वाह को काव्य में चारुत्व का हेतु माना जाएगा। स्पष्टता के लिए एक उदाहरण देख लेना अधिक उचित होगा—

यदधरदलमाश्रितं प्रियायाः वदनसरोरुहसाम्यमेति यश्च।
तदमृतममृतं स इन्दुरिन्दु र्विषमितरत्तमसा समस्तथान्यः॥

प्रस्तुत पद्य में अमृत और चन्द्रमा के अभिधान के लिए अमृत और इन्दु शब्द के दो बार प्रयोग की अपेक्षा हुई है, कवि ने उनका दो बार प्रयोग भी किया है। साथ ही आलंकारिकों ने भी ऐसे प्रयोगों को काव्य शोभाधायक मान कर उसे लाटानुप्रास संज्ञा प्रदान की है।[2]

मुखीकृत्य रामादिवद्वर्त्तितव्यं न रावणावदिवत्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोति इति।

—काव्यप्रकाश पृ० ६-७ आनन्दाश्रममुद्रित द्वितीय संस्करण (१९२९ ई०)

१. सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैः तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्॥ —ध्वन्यालोक० ३.१६

२. (क) शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः। —काव्य प्रकाश ९.८१
(ख) तात्पर्यमात्रभेदिनो नाम्नः पदस्य वा लाटानाम्।
—काव्यानुशासन पृ० २९६

शाब्द तथा आर्थ प्रक्रमभेद का दोषत्व

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर पुनः एक प्रश्न की आशंका रह जाती है कि प्रयेत्क शब्द में प्रतीति भेद के कारण प्रकृति आदि का प्रक्रमभेद भले ही दोषतया स्वीकृत हो, किन्तु शाब्दप्रक्रमभेद आर्थप्रक्रम भेद का तो फिर भी कोई आधार नहीं वन पाता। क्योंकि 'चारुता वपुरभूषयदासाम्' इत्यादि पद्य में भूषणभूष्यभावरूप वस्तु की जो प्रतीति होनी है, वह प्रतीति चाहे शब्द से हो अथवा अर्थ से दोनों में क्या अन्तर है ? जिसके आधार पर प्रक्रम अभेद में औचित्य और प्रक्रम भेद में अनौचित्य माना जाए ? जैसे—

'शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया।
प्रशमाभरणः पराक्रमः स नयासादितसिद्धिभूषणः॥'

इत्यादि पद्य में भूष्यभूषणभाव प्रथम शाब्द अन्वय द्वारा प्रक्रान्त हुआ है पुनः अलंक्रिया आभरण आदि में शाब्द अन्वय का निर्वाह न कर अर्थतः अन्वय द्वारा कथन हुआ है, किन्तु फिर भी किसी प्रकार के अनौचित्य की अनुभूति नहीं होती।

उपर्युक्त आशंका उन्हें ही हो सकती है, जिन्हें शब्द व्यापार के विषय एवं अर्थ व्यापार के विषय का अन्तर विदित नहीं है। वस्तुतः शब्द व्यापार एवं अर्थ व्यापार के क्षेत्र पृथक् हैं। प्रधानतया प्रतिपाद्य शब्द व्यापार का विषय है, क्योंकि शब्द और प्रतिपाद्य अर्थ के बीच साक्षात् सम्बन्ध होता है, तथा अप्रधानतया प्रतिपाद्य अर्थ व्यापार का विषय है। क्योंकि इस स्थिति में साक्षातसम्बन्ध की सम्भावना नहीं

(ग) स्वरूपार्थाविशेषेऽपि पुनरुक्तिः फलान्तरात्।
शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इष्यते।
—काव्यालंकार सार संग्रह पृ० ५
गायकवाड़ ओरियण्टल इंस्टीच्यूट बड़ौदा संस्करण १९३१

(घ) तुल्याभिधेयभिन्नतात्पर्यशब्दावृत्तिर्लाटानुप्रासः।
—अलंकार रत्नाकर पृ० ४
ओरियेण्टल बुक एजेन्सी पूना संस्करण १९४२

(ङ) शब्दार्थपौनरुक्त्यं प्ररूढं दोषः। तात्पर्यभेदवत्तु लाटानुप्रासः।
—अलंकार सर्वस्व पृ० २७-२८

रहती। फलतः भूषणभूष्यभाव का प्रधानतया कथन प्रक्रान्त होने पर वह शब्द व्यापार का ही विषय होता है, अर्थ व्यापार का नहीं। इस प्रकार शब्द और अर्थ व्या ार का विषय व्यवस्थित होने पर भी, यदि अन्यथा किया जाए अर्थात् प्रधानता कथन अभीष्ट होने पर एक बार शब्द व्यापार का तथा अन्यत्र अर्थ व्यापार का अथवा अप्रधानतया कथन अभीष्ट होने पर एकदा अर्थ व्यापार का तथा अन्यदा शब्द व्यापार का प्रयोग किया जाए तो प्रधानतया प्रतीति के प्रक्रम में हो अप्रधानतया तथा अप्रधानतया प्रतीति के प्रक्रम गें प्रधानतया प्रतीति होने के कारण एक रस प्रतीति में बाधा हेतुक अनौचित्य होगा ही, जैसाकि शाब्द और आर्थ प्रक्रमभेद के उदाहरणों में स्पष्ट देखा चुका है।

'शुचि भूषयति' इत्यादि उदाहरण के प्रसंग में प्रक्रम भेद के रहते हुए भी जो अनौचित्य का अभाव कहा गया है, उसके सम्बन्ध में महिमभट्ट का इतना ही कहना है कि प्रस्तुत उदाहरण में उक्त प्रक्रमभेद का निराकरण कर—

'वपुषः शुचिभूषणं श्रुतं प्रशमस्तस्य मतं तु भूषणम्।
प्रशमस्य पराक्रमो नयाहितसिद्धि हि पराक्रमस्य तत्॥'

इस भांति पाठ कर दोनों ही प्रक्रम भेदों का परिहार कर देने पर जो औचित्य या अनौचित्य आविर्भूत होता है, उसके लिए काव्यमर्मज्ञ सहृदय ही प्रमाण हैं।[1]

इसके अतिरिक्त 'शुचि भूषयति' इत्यादि पद्य में जो अनौचित्याभाव का आभास होता है, वह केवल इसलिए कि अलंकारों की शोभा के बीच वह अनौचित्य तिरोहित-सा है, और पाठक साधारण अलंकारों कीशोभा से अपहृत चित होकर उस विद्यमान अनौचित्यजनित खेद का अनुभव नहीं कर पाता। जैसाकि लौकिक अलंकारों की उपमा देते हुए वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक ने कहा है कि 'रत्न रश्मियों की छटा के बाहुल्य से चमकते हुए आभूषणों से आच्छादित होने पर जैसे कान्ता कामिनी का शरीर और भी भूषित हो जाता है, इसी प्रकार

---

१. व्यक्ति विवेक पृ० २७०-२७१

भ्राजमान अलंकारों के द्वारा उनकी स्वाभाविक शोभा के भीतर छिपा हुआ अलंकार्य प्रकाशित होता है 'ऐसी स्थिति में सामान्य अनौचित्य का तिरोहित न होना कैसे सम्भव है।'[1]

ध्वनिकार की भी यही मान्यता है कि अव्युत्पत्ति के कारण विद्यमान दोष कवि की शक्ति से सर्वथा तिरोहित हो जाते हैं।[2] किन्तु ऐसे स्थलों में महाकवियों को तो असमोक्षाकारिता दृष्टिगत होती ही है और उसे दोष हो माना भी जाएगा। कवि शक्ति द्वारा तिरोहित होने से वह भले ही लक्षित नहीं हो।[3]

कविकुलगुरु कालिदास ने भी तो ऐसे प्रसंगों में उक्त मान्यता को ही उद्घोषित किया था। उनका कहता है कि—

जैसे चन्द्रमा की किरणों के मध्य कलंक बहुधा आभासित नहीं होता उसी प्रकार गुणों के बीच एक दोष ऐसा निमग्न हो जाता है कि उसका आभास भी नहीं होता।[4]

---

१. रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरै भूषणैर्यथा।
कान्ताशरीरमाच्छाद्य भूषार्थं परिकल्प्यते॥
यत्र तद्वदलंकारै भ्राजमानैर्निजात्मना।
स्वशोभातिशयान्तस्थैरलंकार्यं प्रकाश्यते॥३७॥
—वक्रोक्ति जीवित पृ० १२४ १.३६,३७

२. तत्राव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तितिरोहितत्वात्कदाचिन्न लक्ष्यते।......
परिकर श्लोक श्चात्र
अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतोदोषः स झटित्यवभासते॥
—ध्वन्यालोक पृ० २४०-२४१ नगेन्द्र संपादित १९५२

३. यत्वेवंविधे विषये महाकवीनामप्यनभीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष-एव। स तु शक्तितिरस्कृतत्वात्तेषां न लक्ष्यते।
—ध्वन्यालोक पृ० ३०७ चौखम्बा वाराणसी प्रकाशित १९५३

४. एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः।
—कुमार सम्भव १.३

व्यंग्यार्थ प्राधान्य मीमांसा

अभी पहले कहा गया है कि प्रधानतया प्रतिपाद्य शब्द व्यापार का विषय होता है एवं अप्रधानतया प्रतिपाद्य अर्थ व्यापार का विषय होता है, यदि इस कथन को सिद्धान्त रूप से स्वीकार कर लिया जाए तो ध्वनि काव्य में जहां व्यंग्य वस्तुमात्र, अलंकार अथवा रसादि को ही प्रधान माना जाता है, वस्तुमात्र को शब्दव्यापार का विषय मानना होगा अन्यथा उसे अर्थ व्यापार का विषय मानने पर उस वस्तु अलंकार रसादि की प्रधानता नहीं मानी जा सकेगी। किन्तु निम्नलिखित पद्यों में ध्वनिकार आदि ने वस्तुमात्र आदि को प्रधान माना है, इस मान्यता से उसमें अप्रधानत्व की प्राप्ति होगी। जैसे—

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।
आलिंगनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम् ॥

इस पद्य में आलिंगन के उद्दामविलास से रहित, चुम्बनमात्र शेष रतोत्सव कार्य द्वारा राहुशिरश्छेदनरूपवस्तुमात्र व्यंग्य है एवं उसे ही प्रधान माना जाता है। इसी प्रकार—

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोमं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जडराशिरयं पयोधिः ॥

इस पद्य में रूपक अलंकार व्यंग्य है एवं उसे ही सहृदय जन प्रधान स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार—

कृतकककुपितैः वाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितैः
वनमपि गता यस्य प्रीत्या धृताऽपि तथाम्बया।
नवजलधरश्यामाः पश्यन् दिशो भवतीं विना,
कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये स तव प्रियः ॥

इस पद्य में विप्रलम्भ शृंगार रस अर्थ व्यापार का विषय अर्थात् प्रतीयमान हो रहा है; अतः इसकी प्रधानता में सन्देह कैसे किया जा सकता है।

इन उदाहरणों में तथा इसी भांति के अन्य अनेक उदाहरणों में

प्रतीयमान अर्थ की अप्रधानता मानने पर महान् अनिष्ट उपस्थित होने लगेगा। क्योंकि अग्नि और धूम की भांति गम्य गमक भाव से विद्यमान वाच्य एवं व्यंग्य के रहने पर गम्यार्थ में प्रधानता एवं गमक अर्थ में अप्रधानता ही माननी चाहिए।

इस आशंका का समाधान करते हुए महिमभट्ट कहते हैं कि उक्त प्राधान्य और अप्राधान्य केवल प्रतीति के आधार पर कहा गया है। वाच्य अर्थ की प्रीति शब्द व्यापार का विषय है, अतएव शब्द व्यापार की दृष्टि से वाच्यार्थ ही प्रधान है एवं व्यंग्यार्थ अप्रधान है। किन्तु जब वस्तुमात्र आदि की प्रतीति प्रधान कही जाती है, तब वह शब्द व्यापार की दृष्टि से नहीं, अपितु गम्य गमक भाव की अपेक्षा प्रधान कही जाती है। प्रतीयमान (गम्य) अर्थ के लिए ही वाच्य (गमक) अर्थ का उपादान किया गया है, अतएव प्रतीयमान अर्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अप्रधान ही होगा। इस प्रकार अपेक्षित रूप से पृथक् पृथक् दोनों का प्राधान्य मानने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

प्रक्रम भेद दोष की व्यापकता

प्रक्रमभेद दोष के प्रसंग में एक आशंका यह भी हो सकती है कि यदि एकरसतया प्रसृत रसप्रतीति में बाधक होने से प्रक्रमभेद को दोष मानते हैं तो किसी महाकाव्य में आदि से अन्त तक एकरस प्रसृत प्रबन्ध व्यंग्यार्थ में विविध प्रकार के वर्णनों में भी प्रक्रमभेद दोष मानना होगा। इसी प्रकार किसी भी काव्य में विविध अलंकारों का प्रयोग भी एकरस प्रसृत प्रधान काव्यार्थ की प्रतीति में बाधक होने से उन अलंकार योजनाओं में भी प्रक्रम भेद दोष की स्थिति उपस्थित हो जाएगी। फलतः प्रत्येक काव्य महाकाव्य या अन्य रचनाएं दोषमय ही माननी होगी, सहृदय हृदयावर्जक नहीं।

उपर्युक्त आशंका के समाधान में आचार्य महिमभट्ट कहते हैं कि निःसंदेह वहां दोष मानना चाहिए, किन्तु उस दोष का प्रकाशन इसलिए नहीं हो पाता कि वे दोष कविशक्ति से तिरोहित रहते हैं। जैसाकि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, कि जिस प्रकार अलंकारों से आच्छादित वनिता वदनारविन्द में विद्यमान एक अल्प

दोष, अथवा भासमान इन्दु की किरणों के मध्य में विद्यमान कलंक अभिभूत होने के कारण हृदयोद्वेजक नहीं होता। इसी भांति काव्यों अथवा महाकाव्य में विद्यमान विविध वर्णन अथवा विविध अलंकार प्रक्रमभेद के रहते हुए भी सहृदयहृदयोद्वेजक न होकर आवर्जक ही वने रहते हैं।

अथवा प्रकरण या वाक्य भेद के कारण भी वे वर्णन अथवा विविध अलंकार सहृदयों के हृदय में उद्वेग उत्पन्न न कर आवर्जन ही करते हैं। तात्पर्य यह है कि काव्य अथवा महाकाव्य आदि सहृदय के अन्तस्तल में वाक्य के रूप में ही प्रविष्ट होते हैं। सहृदय उनका आस्वादन वाक्य के रूप में ही करता है। अतएव विविध प्रकरणों में किए गए विविध वर्णन अथवा किसी प्रकरण में प्रयुक्त हुए विविध अलंकार आदि उस प्रकरणार्थ अथवा वाक्यार्थ जनित एकरस प्रतीति में वाधक नहीं बन पाते। अपितु वे अपने क्षेत्र में प्रतीति में सहायक ही बनते हैं। फलत: वे दोष के रूप में त्याज्य न होकर चारुत्व हेतु के रूप में ग्राह्य होते हैं। कभी कभी एक ही प्रकरण में अनेक वर्णन अथवा एक ही वाक्य में अनेक अलंकार भी उपस्थित हो जाते हैं, उन स्थलों पर निस्सन्देह 'प्रक्रम भेद' दोष के रूप में उपस्थित होता है, किन्तु उस स्थिति में भी सम्भव है कि कवि-शक्ति द्वारा तिरोहित होने से उसका दोषत्वेन अनुभव न हो सके।

अन्त में निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि प्रबन्ध की दृष्टि से प्रकरणों में वैविध्य एवं प्रकरणों की दृष्टि से अलंकार आदिगत वैविध्य प्रक्रमभेद का विषय अवश्य है।[1] क्योंकि अलंकार वैषम्य में भी प्रतीति परिस्खलन होता ही है, क्यों न हो? कारण भेद होने पर कार्य-भेद का होना आवश्यक ही है।[2] तथा समस्त प्रक्रम भेद विचार करने पर यह या तो वाच्य अर्थ में दृष्टिगत होता है, अथवा प्रतीयमान

---

१. तदेतदुक्तं भवति 'सर्व एव भणितिप्रकार: प्रक्रमभेदस्य विषयः इति:'।

—व्यक्ति विवेक पृ० २७४

२. क—कारणभेदस्यापि कार्यभेदहेतुत्वोपगमात्। —व्यक्ति विवेक पृ० २७४

ख—अयमेव भेदो भेदहेतुर्वा भावानां योऽयं विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च।

—व्यक्तिविवेक व्याख्यान पृ० २७४

अर्थ में। अतएव उसे शाब्द तथा आर्थ इन दो भेदों में प्रतिपादित करना भी अनुचित नहीं है।

व्यंग्यार्थ प्रक्रम भेद

अब हम क्रमशः वस्तुमात्र अलंकार तथा रसादि प्रक्रमभेद के उदाहरणों की ओर दृष्टिपात करें और देखें कि वहाँ भी किस अंश तक वह प्रक्रमभेद सहृदय हृदय का उद्वेजक होता है—

वस्तुमात्र प्रक्रम भेद

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः।
अयं कण्ठे बाहुःशिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः।

प्रस्तुत पद्य में प्रथम वाक्य द्वारा नायिका के स्वरूप वर्णन का प्रक्रम किया गया, किन्तु उत्तर वाक्य में ही उसका निर्वाह न करके नायिका के स्पर्श आदि का वर्णन किया गया है इस प्रकार यहां वस्तु प्रक्रम भेद दोष हुआ।

इस प्रसंग में आशंका हो सकती है कि नायिका स्वरूप वर्णन तथा उसके स्पर्श आदि का वर्णन, दोनों से ही नायिका के स्वरूप का उत्कर्ष प्रतीत होता है, अतः एकरस प्रतीति में विघ्न कहां रहा? जो यहां प्रक्रम भेद दोष की सम्भावना स्वीकार की जाए?

उक्त आशंका का समाधान सीधा और स्पष्ट है कि यदि एकरस प्रतीति में विघ्न नहीं होता, तो उस स्थिति में दोष की सम्भावना नहीं हो सकती। किन्तु उपर्युक्त पद्य में तथा एतादृश अन्य पद्यों में स्वरूप तथा अनुभूति में वास्तविक भेद के कारण एकरस प्रतीति नहीं होती, सहृदय इसके साक्षी हैं, अतएव ऐसे स्थलों में प्रक्रमभेद दोष मानना ही होगा।

उपर्युक्त पद्य में दोष परिहार के लिए निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास किया जा सकता है।

'मुखं पूर्णश्चन्द्रो वपुरमृतवर्तिर्नयनयोः' इत्यादि।

इसी प्रकार—

तरंगय दृशोऽङ्गने पततु चित्रमिन्दीवरम्
स्फुटीकुरु रदच्छदं व्रजतु विद्रुमः श्वेतताम् ।
क्षणं वपुरपावृणु स्पृशतु काञ्चनं कालिकाम्
उदञ्चय मनाङ्मुखं भवतु च द्विचन्द्रं नभः ।।

प्रस्तुत पद्य में उपमान इन्दीवर आदि की निन्दा द्वारा व्यतिरेक अलंकार प्रक्रान्त हुआ, किन्तु अन्त तक उसका निर्वाह न हो कर मुख और चन्द्र में सादृश्य के प्रतिपादन में ही पर्यवसान हो गया है। फलतः यहां अलंकार प्रक्रमभेद दोष उपस्थित होगा । इस दोष के निराकरण के लिए उक्त पद्य में निम्नलिखित पाठ विपर्यास कर देना उचित होगा।

'उदञ्चय मनाङ्मुखं भवतु लक्ष्यलक्ष्मा शशी ।'

इसी प्रकार—

तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा तच्चेत्स्मितं का सुधा,
सा चेत्कान्तिरतन्त्रमेव कनकं ताश्चेद् गिरो धिङ् मधु ।
सा दृष्टि र्यदि हारितं कुवलयैः किं वा बहु ब्रूमहे
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविरसः सर्गक्रमो वेधसः ।।

प्रस्तुत पद्य में उपमान से उपमेय में अतिशय प्रतिपादन द्वारा व्यतिरेकालंकार को प्रक्रान्त करके 'पुनरुक्त वस्तुविरसः' कहते हुए सादृश्यमात्र में निर्वाह किया गया है। फलतः यहां भी अलंकार प्रक्रम-भेद दोष उपस्थित होगा। जिसके निवारण के लिए 'पुनरुक्तवस्तुविमुखः' अर्थात् 'वह सदृश वस्तु निर्माण से सर्वथा विमुख हैं' कहते हुए किया जा सकता है । यदि इस पाठ विपर्यास में पुनरुक्त शब्द द्वारा सादृश्य-मात्र में पर्यवसान के भ्रम की संभावना हो[1] तो निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास करना उचित होगा ।

यत्सत्यं खलु वस्तु तत्त्वविमुखः सर्गक्रमो वेधसः' ।

---

१. —'पुनरुक्तवस्तुविमुखः' इत्यादि ग्रन्थकारपाठस्तु नितान्तमयुक्तः । पौनरुक्त्येन तेन सादृश्यं प्रतीयते, 'पौनरुक्त्यस्य सादृश्यमात्रपर्यवसानादि'ति स्वयमेवोच्यते च । तथापि पुनरुक्तपदमुपादीयते इति ग्रन्थतलावगाहितया सुधिया बोधनीयम् ।। —व्य०वि० मधुसूदनी टीका पृ. २७६

इसी प्रकार वस्तु अथवा अलंकार आदि प्रक्रम भेद के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। विस्तारभय से अधिक उदाहरण उपस्थित करना उचित न होगा।

कर्तृ प्रक्रमभेद दोष या गुण

प्रक्रमभेद दोष के प्रसंग में एक प्रश्न उठता है कि यदि कहीं युष्मद् अस्मद् शब्द कर्ता के रूप में प्रक्रान्त है, किन्तु उक्त प्रक्रम का निर्वाह न कर उनसे भिन्न अन्यपुरुष (संज्ञा आदि) का प्रयोग किया गया हो, तो उसे प्रक्रमभेद दोष कहना उचित होगा अथवा नहीं? जैसे—

राम से वार्तालाप करते हुए 'जैसा आप कहते हैं' इस वाक्यार्थ के अभिधान के लिए 'यथाह दशमो वैकुण्ठावतारः' यहां युष्मद् शब्द के स्थान पर अन्यपुरुष 'दशमो वैकुण्ठावतारः' कहा गया है, अतः यहां प्रक्रमभेद विद्यमान है। इसी प्रकार—

शिव धनुर्भङ्ग के अनन्तर उपस्थित परशुराम रामचन्द्र के अभिवादन के उत्तर में कहते हैं—

'नाभिवादनप्रसादो रेणुकापुत्रः, गरीयान्हि धनुः भंङ्गापराधः।' इत्यादि।

यहां अस्मद् शब्द के प्रक्रम से 'रेणुकापुत्र' अन्यपुरुष का प्रयोग किया गया है, फलतः यहां भी प्रक्रम भेद विद्यमान है।

इसी प्रकार—

वटु वेषधारी शंकर तपस्या में रत पार्वती से कहते हैं—

अयं जनः प्रष्टुमना तपोधने न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥[1]

प्रस्तुत पद्य में भी अस्मद् शब्द के प्रक्रम में अन्य पुरुष 'अयं जनः' पद द्वय का प्रयोग किया गया है, अतः यहां भी प्रक्रम भेद स्पष्ट ही विद्यमान है।

उपर्युक्त सभी स्थलों में कर्तृ प्रक्रम भेद है। अतः इसे दोष मानना चाहिए अथवा नहीं? परिस्थिति यह है कि सहृदय ऐसे स्थलों पर चारुत्वातिशय का अनुभव करता है, किन्तु महिमभट्ट द्वारा पूर्व प्रतिष्ठापित

---

१. कुमार सम्भव ५.४०

व्यवस्था के अनुसार अचारुत्व का अनुभव होना चाहिए।

उपर्युक्त प्रश्न के समाधान के प्रसंग में आचार्य महिमभट्ट का निर्णय है कि ऐसे स्थलों पर कर्तृप्रक्रमभेद को दोष नहीं अपितु कर्तृव्यत्यास नामक गुण ही मानना चाहिए। क्योंकि ऐसे प्रसंग प्रक्रमभेद दोष के क्षेत्र से बाहर हैं।

१. जहां चारुत्वातिशय के लिए युष्मद् अथवा अस्मद् शब्दों के प्रक्रान्त कर्तृत्व का त्याग कर अन्यत्र कर्तृत्व का आरोप किया जाता है, वहां कर्तृ व्यत्यास नामक गुण होता है।[1]

इसके विपरीत—

२. जिस अर्थ का जिस रूप में अभिधान प्रक्रान्त है, उसी प्रकरण में यदि उस अर्थ का उसी रूप में निर्वाह न किया जा सके, तो वहां प्रक्रम भेद दोष होता है।[2]

वास्तविकता यह है कि प्रक्रम भेद कहां दोष है और कहां गुण? इसका निर्णय सहृदय हृदय करता है। कर्तृव्यत्यास में सहृदय चारुत्व की अनुभूति करते हैं, फलतः वहां कर्तृव्यत्यास नामक गुण होगा, प्रक्रम भेद दोष नहीं। एवं जहां सहृदय हृदय उद्विग्न होता है, वहां प्रक्रम भेद गुण न होकर दोष माना जाएगा।

इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि उपर्युक्त 'यथाह दशमो वैकुण्ठावतारः' आदि विविध स्थलों पर प्रक्रमभेद दोष के रूप में न होकर कर्तृव्यत्यास नामक गुण के रूप में स्थित है।

इसी प्रसंग में इतना यह भी स्मरणीय है कि कर्तृव्यत्यास के प्रसंग में युष्मद् अथवा अस्मद् शब्द के कर्तृत्व का त्याग कर जो अन्यत्र कर्तृत्व का आरोप होता है, वहां उक्त आरोप का आधार चेतन भी हो सकता है और अचेतन भी। उपर्युक्त उदाहरणों में हमने देखा है कि कर्तृत्व का आरोप चेतन पर हुआ है, किन्तु निम्नलिखित उदाहरणों में कर्तृत्व का आरोप अचेतन पर हो रहा है एवं इस व्यत्यास से चारुत्व

---

१. प्रकृतमपि यत्र हित्वा कर्तृत्वं युष्मदर्थस्य।
चारुत्वायान्यत्रारोप्यते गुणः सतु न दोषः॥ —व्य० वि० पृ० ३२०

२. यश्च यथा प्रक्रान्तोऽभिधातुमर्थस्तथैव न चेत्।
निर्वाहः स प्रक्रमभेदो न प्रकरणावसितः॥ —व्य० वि० पृ० ३२०

में वृद्धि हो होती है। जैसे—

> चापाचार्यः पशुपतिरसौ कार्तिकेयो विजेयो
> बाणव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः।
> अस्त्येवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां
> बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः॥[१]

प्रस्तुत पद्य में रावण पशुराम के प्रति कहता है कि तुमसे स्पर्धा करने में भी मुझे लज्जा का अनुभव होता है। किन्तु यहां युष्मद् पद के स्थान पर 'परशु' एवं अस्मद् शब्द के स्थान पर 'चन्द्रहास' शब्दों का प्रयोग हो रहा है। इन दोनों शब्दों के अभिधेय अचेतन हैं, चेतन नहीं।

इसी प्रकार—

> भो लंकेश्वर दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते
> कोऽयं ते मतिविभ्रमः स्मर नयं नाद्यापि किञ्चिद् गतम्।
> नैवं चेत्खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठसृजा पंकिलः
> पत्री नैष सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः॥

प्रस्तुत पद्य राम का रावण के प्रति सन्देश है। यहां अस्मद् शब्द के स्थान पर अचेतन 'पत्री' में कर्तृत्व का आरोप किया गया है। यहां प्रक्रान्त का परिवर्तन काव्य में एक अद्भुत चारुत्व की सृष्टि कर रहा है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रक्रान्त युष्मद् अस्मद् के कर्तृत्व का व्यत्यास कर जब अन्य चेतन अथवा अचेतन पर कर्तृत्व का आरोप किया जाता है, तब उस स्थल में सहृदय हृदय का आवर्जन होने से कर्तृव्यत्यास नाम गुण माना जाएगा, प्रक्रमभेद दोष नहीं।

इसके विपरीत जहां प्रक्रान्त का भेद चारुत्व का हेतु न होकर निष्प्रयोजन हो रहा हो, वहां सहृदय हृदय में उद्वेग होने से उसे प्रक्रमभेद दोष मानना होगा, चाहे वह प्रक्रमभेद प्रकृति का हो, या प्रत्यय का, कारक का हो या विभक्ति वचन आदि का।

अष्टम अध्याय

क्रम दोष और उसकी समीक्षा

बहिरंग दोषों में क्रमभेद का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य महिम-भट्ट ने इस दोष का विवेचन अत्यन्त मौलिक चिन्तन के साथ किया। उनका कहना है कि (व्यंजना प्रधान) वाक्यों में क्रम का अत्यधिक महत्त्व है। क्रम के द्वारा भी वाक्यार्थ की प्रतीति में विशेष सुविधा होती है। इसलिए वाक्य योजना में क्रम को भुलाया नहीं जा सकता। सामान्य रूप से क्रम के तीन कारण हो सकते हैं।

१. पदों का अर्थाभिधान सामर्थ्य।

२. व्याकरण सम्बन्धी नियम या प्रयोग परम्परा।

३. वाक्यार्थ में पदविशेष के अर्थ पर विशेष वल देना।

संस्कृत भाषा के व्याकरण में चूंकि शब्दानुशासन पर ही विशेष ध्यान दिया गया है।[1] इसलिए इसमें वाक्यों में पदक्रम सम्बन्धी विचार प्रायः नहीं हुआ। इसलिए अधिकांश लोगों की यह धारणा बन गई है कि संस्कृत भाषा में पदक्रम का कोई महत्त्व नहीं है। सामान्य भाषा के सम्बन्ध में स्थूल रूप में यह सिद्धान्त भले ही मान लिया जाय, किन्तु काव्य के लिए इसे न तो कभी स्वीकार किया गया है और न स्वीकार किया जाना चाहिये।

अलंकार शास्त्र के आदि आचार्य भामह उद्देश्य के अनुकूल क्रम का निर्वाह आवश्यक मानते थे, किन्हीं विशेष अवसरों पर यदि कवि द्वारा इस क्रम का उल्लंघन हो गया हो तो इसे वे दोष स्वीकार करते थे। उन्होंने इस दोष को अपक्रम संज्ञा दी थी।[2]

---

१. अथ शब्दानुशासनम्। पाणिनीय अष्टाध्यायी १, १, १

२. यथोपदेशं क्रमशो निर्देशोऽत्र क्रमो मतः।
तदपेतं विपर्यासादित्याख्यातमपक्रमम्॥ —भामह काव्यालंकार ४, २०

आचार्य दण्डी ने भी क्रम के सम्बन्ध में इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया था, किन्तु साथ ही उन्होंने इतना और मान लिया था कि यदि कवि ने सम्बन्ध निर्वाह के लिए कोई विशेष व्यवस्था कर दी है तो वह क्रम का उल्लंघन भी दोष नहीं माना जाता।[1]

काव्यालंकारसूत्रवृत्तिकार आचार्य वामन ने भामह और दण्डी द्वारा स्वीकार किये गये इस नियम को स्वीकार तो किया ही है, साथ ही उसमें परिष्कार कर उसे और भी अधिक व्यवस्थित वना दिया है। अपक्रम दोष का परिचय देते हुए वे कहते हैं कि उद्देशी अथवा अनुद्देशी पदों का जो परस्पर क्रम सम्बन्ध है वही क्रम है तथा उसका निर्वाह न होना ही काव्य में अपक्रम दोष है। जैसे :—

'कीर्तिप्रतापौ सूर्याचन्द्रमसोः समौ।'[2]

इस पद्य में प्रताप और सूर्य के बीच तथा कीर्त्ति और चन्द्र के बीच उपमानोपमेयभाव कवि कहना चाहता है। किन्तु दोनों उपमान पद और दोनों उपमेय पदों में ऐसा क्रम नहीं रखा गया है कि इनका उपमानोपमेयभाव स्पष्ट हो सके, क्योंकि दोनों उपमेय पदों में 'कीर्त्ति' पद प्रथम प्रयुक्त हुआ है, जबकि दोनों उपमान पदों में कीर्त्ति के उपमान 'चन्द्र' का प्रयोग पीछे हो रहा है। इसी प्रकार 'प्रताप' पद का प्रयोग कीर्ति के बाद हुआ है, जबकि इसके उपमान सूर्य का प्रयोग चन्द्र से पूर्व। वस्तुतः यहां प्रथम प्रयुक्त उपमेय 'कीर्त्ति' के उपमान चन्द्र का प्रयोग भी द्वन्द्व में प्रथम होना चाहिये, पीछे नहीं, यह वामन का अभिप्राय है।

पूर्व आचार्यों द्वारा स्वीकृत अपक्रम की व्याख्या करके वे पुनः अपनी नई व्यवस्था भी देते हैं। 'अथवा प्रधान अर्थ का निर्देश प्रथम

---

१. उद्देशानुगुणोऽर्थानामनुद्देशो न चेत्कृतः।
अपक्रमाभिधानं तं दोषमाचक्षते बुधाः।
यत्नः सम्बन्धनिर्वाहहेतुकोऽपि कृतो यदि।
क्रमलंघनमप्याहुः कवयो नैव दूषणम्॥

—काव्यादर्श। ३, १४४, १४६

२. उद्देशिनामनुद्देशिनां च क्रमः सम्बन्धः, तेन हीनोऽर्थः यस्मिंस्तत्क्रमहीनार्थमक्रमम्।

—काव्यालंकार सूत्रवृत्तिः २.२.२२

होना चाहिये; यही क्रम है। इसके उल्लंघन को ही अपक्रम कहते हैं। जैसे :—

'तुरंगमथ मातङ्गम्प्रयच्छास्मै मदालसम् ॥'[1]

यहां तुरंग और मातंग दो वस्तुओं का दान वाक्य में कथन किया गया है। इन दोनों में तुरंग (घोड़ा) की अपेक्षा मातंग (हाथी) प्रधान है, अतः मातंग पद का प्रयोग ही पहले होना चाहिये था,[2] यह आचार्य वामन का विचार है। वामनने उपर्युक्त प्रसंग में वाक्य गत पदों के अर्थ के महत्त्व के अनुसार ही पदों का प्रयोग क्रम उचित माना है।

रुद्रट ने यद्यपि क्रमदोष का विवेचन नहीं किया है, किन्तु एक स्थल पर वाक्य का लक्षण देते हुए उन्होंने सुक्रम को भी वाक्य में आवश्यक माना है।[3]

सुक्रम पद की व्याख्या करते हुए रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने लिखा है कि 'यहां सुक्रम पद का ग्रहण दुष्ट क्रम निवृत्ति के लिए किया गया है। यथा :—

'वदन्त्यपर्णामिति तां पुराविदः'।[4]

इस पद्य में 'इति' शब्द का सम्बन्ध 'पुराविद' पद से है, अपर्णा से नहीं, अतः पुराविद् पद के अनन्तर ही इति पद का प्रयोग होना चाहिए। अपर्णा पद से सम्बन्ध होने पर द्वितीया विभक्ति का प्रयोग सम्भव न था, जैसा कि :—

'क्रमादमुन्नारद इत्यबोधितः'।

इस वाक्य में नारद पद से 'लिंगार्थ मात्र की प्रतीति होने पर

---

१. अथवा प्रधानस्यार्थस्य प्रथमनिर्देशः क्रमः, तेन हीनोऽर्थो यस्मिंस्तदपक्रमम्।
—काव्यालंकार सूत्रवृत्ति २.२.२३

२. इस प्रकरण में तुरंग और मातङ्ग पदों का प्रयोग क्रम यद्यपि दोषपूर्ण है, किन्तु परिहास गोष्ठी में इसी क्रम को दोष नहीं माना जायेगा। अवसर विशेष पर अनिवार्य रूप से गुण भी कहा जा सकता है।

३. वाक्यमन्यूनाधिकवाचकसुक्रमपुष्टार्थं चारुपदम्। रुद्रटीय काव्यालंकार, पृ० १२

४. कुमार सम्भव ५.२८

प्रथमा का ही प्रयोग किया गया है, द्वितीया का नहीं ।[1]

नमिसाधु का तात्पर्य है कि जैसे आचार्य पाणिनि की व्यवस्था के अनुसार यदि केवल लिंगार्थ मात्र की विवक्षा हो तो प्रथमा विभक्ति ही होती है ।[2] जैसा कि 'क्रमादमुन्नारद इत्यबोधि सः।' इस पद्य में नारद पद के साथ प्रथमा का ही प्रयोग किया गया, द्वितीया का नहीं; उसी प्रकार—'वदन्त्यपर्णामिति तां पुराविदः।' इस वाक्य में यदि 'इति' पद का सम्बन्ध अपर्णा पद से होता, तो उसमें भी प्रथमा विभक्ति का ही प्रयोग किया गया होता; अतः मानना होगा कि 'इति' पद का सम्बन्ध अपर्णा से न होकर प्रथमान्त 'पुराविद' पद से है। इस स्थिति में उसका प्रयोग पुराविद पद के बाद होना चाहिए था। किन्तु कवि ने 'इति' पद की प्रयोग अपर्णा के बाद किया है। अतः अपर्णा से ही उसको सम्बन्ध को प्रतीति का भ्रम होता है। इस भ्रम का कारण इति पद का क्रमहीन प्रयोग ही है। फलतः इति पद के प्रयोग क्रम को उचित नहीं माना जा सकता ।

उपर्युक्त उदाहरण में भोजराज ने क्रमदोष नहीं माना है। उन्होंने कहा है कि 'यदि पाठक्रम से सम्बन्ध न बन रहा हो तो अर्थक्रम से शब्दों को उलट-पलट कर सम्बन्ध बना लिया जाता है। वे इस व्यवस्था को विपर्यय 'नैयायिकी व्यपेक्षा' कहते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में भी 'विपर्यय नैयायिकीव्यपेक्षा' से ही सम्बन्ध लगाया जायेगा ।[3] अतः यहां

---

१. अत्र 'सुक्रम' ग्रहणं दुष्टक्रगनिवृत्त्यर्थम् । यथा—'वदन्त्यपर्णामिति तां पुराविदः', इत्यत्र हि 'इति' शब्देन पुराविदः सम्बन्धः नत्वपर्णायाः, अपर्णायास्तु सम्बन्धे द्वितीया न स्यात्। यथा—क्रमादमुन्नारद इत्यबोधि सः' इत्यादौ लिङ्गार्थमात्रे प्रथमैव न्याय्या न द्वितीया ।

—काव्यालंकार रुद्रट नमिसाधु वृत्ति समेत, पृ० १२,

२. प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा ।' पा० अष्टा० २.३.४६

३. यत्र पाठक्रमेण सम्बन्धानुपपत्तावर्थक्रमेण विपर्यस्य पदानि योज्यन्ते सा विपर्ययनैयायिकी व्यपेक्षा ।

यथा :—

स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः।

तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णामिति तां पुराविदः।

अत्रातस्तां प्रियंवदामपर्णां वदन्ति पुराविद इति पर्यायेण पदानि योजन्ते ॥

—शृंगार प्रकाश पृ० २७०

उनकी दृष्टि से क्रमदोष नहीं माना जा सकता।

भोजराज द्वारा इस विपर्यय 'नैयायिकीव्यपेक्षा की स्वीकृति भी अप्रकटरूप से क्रम के महत्त्व को ही प्रदर्शित करती है।

वाक्य में क्रम को न मानने वाले लोग यह शंका कर सकते हैं कि वाक्य में विद्यमान पदों के क्रम का महत्त्व तो तब होता, जब पदों का कुछ अर्थ माना जाता। अर्थ तो वाक्य में हुआ करता है, पदों में नहीं। जैसा कि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में स्वीकार किया है कि जैसे 'ब्राह्मण-कम्बल' आदि समस्त पदों में ब्राह्मण पद का कोई अर्थ नहीं होता, उसीप्रकार वाक्य में देवदत्त आदि पद भी निरर्थक होते हैं।[1]

वेदान्ती लोग भी दृश्यमान् जगत् की प्रतीति के समान ही वाक्य गत पद और पदार्थ की प्रतीति को अतात्त्विक मानते हैं और इसीलिए उन्होंने अखण्ड वाक्यार्थ के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।[2] फलतः वाक्यगत पदों को क्रमक विचार करना कहां तक उचित है, यह विचार-णीय है।

उपर्युक्त आशंका के समाधान के हेतु हम कह सकते हैं कि भले ही वाक्य में पदों का और वाक्यार्थ में पदार्थों का तत्वतः महत्त्व न हो, किन्तु पदार्थ प्रतीति के बाद ही वाक्यार्थ प्रतीति होती है। इसलिए पदार्थ और वाक्यार्थ में कारण कार्यभाव अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए पदार्थ प्रतीति में विद्यमान क्रमदोष कार्यभूत वाक्यार्थ में भी मानना ही होगा। क्योंकि कार्यकारण भाव की व्यवस्था को मानने वाले आचार्यों ने कार्य में उन गुणों को निश्चित रूप से माना है, जो कारण में विद्यमान हों।[3]

आचार्य भर्तृहरि ने यद्यपि वाक्य स्फोट के सिद्धान्त को स्वीकार

---

१. ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्यु निरर्थकाः॥ —वाक्यपदीय

२. वाक्येनाखण्डार्थेऽववोधितेऽधिकारिणोहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावपरमानन्दताद्वयाहम्ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरुदेति॥
—वेदान्तसार पृ० १०३

३. कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः। —वैशेषिक दर्शन २.१.२४

किया है फिर भी वे पद पदार्थ प्रतीति को उपेक्षा के योग्य मानते हैं। उनका कहना है कि 'असत्य मार्ग पर स्थित होकर उसके बाद ही सत्य की प्राप्ति की जा सकती है।'[1]

इसके साथ ही सर्वस्वीकृत इस सिद्धान्त को भी नहीं भुलाया जा सकता कि 'वाक्यार्थ वक्ता का अभिप्राय ही होता है तथा वह अभिप्राय (वाक्यार्थ) अनुमेय रूप हुआ करता है। ध्वनिवादी उसे नामान्तर देकर ध्वनि कह लेते हैं। अनुमेय अर्थ की प्रतीति में लिंगरूप पद पदार्थ प्रतीति ही कारण है।'[2] इस प्रकार पद पदार्थ प्रतीति पूर्वक वाक्यार्थ प्रतीति के स्वीकार करने पर वाक्यार्थ में पदपदार्थगत क्रमभाव भुलाया नहीं जा सकता। इस प्रकार पद पदार्थ प्रतीति में विद्यमान क्रम का अभाव वाक्यार्थ प्रतीति में भी अवश्य ही दोष उपस्थित करेगा। हां, यह बात दूसरी है कि पदार्थ प्रतीति में क्रम दोष अधिक स्थूल रूप से रहेगा तथा वाक्यार्थ प्रतीति में सूक्ष्म रूप से। किन्तु किसी भी स्थिति में वाक्यार्थ प्रतीति में क्रमदोष को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

व्याकरण शास्त्र के प्रधान आचार्य पाणिनि ने भी वाक्यों में पदों के क्रम को स्वीकार किया ही है और तभी उन्होंने व्यवस्था दी है कि :—

१. अनुदात्त 'इद' शब्द के तृतीया आदि विभक्तियों के रूप वाक्य के आदि में व्यवहार न किये जायें।[3]
२. एनम् एनौ एनान् एनेन एनयोः इत्यादि पदों का प्रयोग वाक्य के आदि में न होना चाहिये।[4]
३. युष्मद्, अस्मद् शब्द के कुछ विशेष रूप 'त्वा ते वां वः मा मे नौ नः' इन पदों का प्रयोग वाक्य के आदि में उचित नहीं

---

१. असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते। —वाक्यपदीय

२. क—सर्वं एव हि शाब्दो व्यवहारः साध्यसाधनभावगर्भतया प्रायेणानुमानरूपोऽवगन्तव्यः, तस्य परप्रवृत्तिनिवन्धनत्वात्। —व्यक्ति विवेकः

ख—पौरुषेयाणि वाक्यानि प्राधान्येन पुरुषाभिप्रायमेव प्रकाशयन्ति। स च व्यङ्ग्य एव। —ध्वन्यालोक, पृ० २४७ : १२

३. इदमोन्वादशेऽनुदात्तस्तृतीयादौ। —पा० अष्टा० २.४.३२

४. द्वितीया टौ स्वेनः। पा० अष्टा० २।४.३४

होता।[1]

४. च वा ह इत्यादि नियत शब्दों का प्रयोग वाक्य के आदि में कभी नहीं होता।[2]

५. समास की स्थिति में समासगत पदों का प्रयोग एक विशेष क्रम के अनुसार ही होना चाहिये। अन्यथा वाक्यार्थ की प्रतीति ही नहीं हो सकती। जैसे :

(१) 'ग्राममल्ल' शब्द से 'गांव का सर्वश्रेष्ठ पहलवान' इस अर्थ की प्रतीति होती है। यदि इसी में मल्ल शब्द को आदि में रखकर ग्राम शब्द को पीछे कर दिया जाये तो 'मल्लग्राम' शब्द का अर्थ बिल्कुल बदलकर पहलवानों का गांव हो जायेगा।

(२) 'राजसदनम्' शब्द का अर्थ राजा का घर है। यदि इसमें भी दोनों पदों का स्थान परिवर्तन कर दिया जाये, तो 'सदन-राज' (सदनराट्) शब्द से श्रेष्ठ मकान इस अर्थ की प्रतीति होगी। राजा का घर अर्थ की नहीं।

इसी प्रकार

(३) 'धनपति' शब्द से धन के स्वामी कुबेर अर्थ की प्रतीति होती है, किन्तु पदों का स्थान बदलने पर 'स्वामी का धन' इस अर्थ की प्रतीति होगी कुबेर अर्थ की नहीं।

इसीलिए क्रमभेद से उत्पन्न वाक्यार्थ को देखते हुए आचार्य पाणिनि ने 'उपसर्जनमृपूर्वम्'[3] इत्यादि सूत्रों द्वारा समास में पदों के प्रयोग में क्रम की विशेष व्यवस्था दी है।

महाभाष्यकार पतंजलि भी क्रम के महत्त्व को स्वीकार करते हैं।

---

१. क—पदात्, युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ। बहुवचनस्य वस्नसौ। तेमयावेकवचनस्य। त्वामौ द्वितीयायाः।

—वही ७।१।७।२०-२३

ख—वाक्यादौ पदादौ च वर्त्तमानयो र्युष्मदस्मदो नै ते।

—सिद्धान्त चन्द्रिका पृ० १६१

२. न चवाहाहैवयुक्ते अष्टाध्यायी ८.१.२४

३. अष्टाध्यायी २.२.३०

उन्होंने पाणिनीय अष्टाध्यायी के संज्ञा प्रकरण में यह आशंका उठने पर कि 'किन पदों को संज्ञा माना जाये और किन पदों को संज्ञी', उत्तर दिया है कि 'पूर्वपठित पद संज्ञी हैं, तथा बाद में पठित पद संज्ञा। क्योंकि लोक में भी हम देखते हैं कि विद्यमान पदार्थों का ही नामकरण होता है। उत्पन्न बालक का ही देवदत्त आदि नाम रखा जाता है। नाम का निश्चय करके बालक को जन्म नहीं दिया जाता। इसी प्रसंग में 'वृद्धिरादैच्' सूत्र में प्रथम संज्ञा और पश्चात् संज्ञी को देखकर इसे दोष मानते हुए उन्होंने कहा है कि महान् आचार्य की इस एक भूल को भुला देना चाहिये।'[१]

आधुनिक भाषा शास्त्री भी वाक्यगत पदार्थ के महत्त्व को प्रकट करने की दृष्टि से विभिन्न भाषाओं में पदक्रम को स्वीकार करते ही है।[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थों में

---

६. अथवा पूर्वोच्चारितः संज्ञी परोच्चारितः संज्ञा, कुतस्तत् ? सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम्। तद्यथा······सतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते। कथम् वृद्धिरादैच् इति ? एतदेकतममाचार्यस्य मृष्यताम्' इत्यादि।
—पातञ्जलमहाभाष्य नवाह्निक। वृद्धिरादैच् सूत्रे। पृ० १६४
(निर्णय सागर प्रेस)

१. With the disappearance of prefixes and suffixes the want was felt of some method for defining the relation, which catch word bore to its neighbour in the sentence. This was partly done by fixing it's position, but different groups did not all adopt the same system. Each naturally arranged its words in the order of thoughts followed by it's members, and this order of thought differed from group to group. We can note the same difference in more western language. A semitic speaker think first of what 'Beat John' where an Indo European speaker says' John Beat's. In this way the order of the thought in a sentence throws considerable light, on the mentality of the nation to which the speaker belongs. The Arab thinks first of what has to done, and the less wrongly of the agent, while the Indo European first selects his agent, and then decides what he is do. The siamege (स्यामी) Chinese languages, like Man Khmer, adopted the order of subject, verb,

त्रिविध रूप से वाक्य गत पदों का क्रम स्वीकृत किया गया है। इतना अवश्य है कि उन ग्रन्थों में वाक्यगत पदों के क्रम के सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक नियम नहीं दिए गए हैं। आचार्य महिम भट्ट ने इस सम्बन्ध में माननीय व्यवस्था का विधान किया। उनका कहना है कि :—

१. किसी संज्ञा पद का प्रयोग करने के अनन्तर ही उस संज्ञा पद के प्रतिनिधि सर्वनाम पद का प्रयोग किया जाये, अन्यथा नहीं।

२. विशेषण सर्वनाम पदों का प्रयोग विशेष्य संज्ञा पदों से अव्यवहित पूर्व किया जाये, व्यवहित नहीं।

३. 'च' 'पुन:' आदि समुच्चय बोधक पदों का प्रयोग समुच्चेय पदों से अव्यवहित बाद में किया जाय।

४. उपमा वाचक इव आदि अव्यय पदों का प्रयोग उपमान वाचक पदों से अव्यवहित पर में किया जाय।

५. व्यवच्छेदार्थक इति एवं, इत्थम् आदि अव्यय पदों का प्रयोग व्यवच्छेद्य पदों से अव्यवहित उत्तर में किया जाय।

उपर्युक्त प्रयोग सम्बन्धी नियमों में हेतु के रूप में हम विभिन्न पदों की अर्थ प्रकाशन शक्ति को ही स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि :—

(१) सर्वनाम पद संज्ञा पदों की भांति अभिधेय अर्थ के वाचक नहीं हैं, अपितु स्मारक हैं। तथा स्मृति उन्हीं विषयों की हो सकती है, जिनका अनुभव पहले किया गया हो। वैशेषिक सूत्रों के भाष्यकार आचार्य प्रशस्त पाद ने स्मृति की परिभाषा देते हुए कहा भी है कि 'प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा अनुभव किये गये

---

object with the adjective following the noun qualified, while in the Tibto, Burman languages we have subject, object, verb and the noun. Again in the Tai group as in Mon Khmer and Nicobarese, the genetive case follows the noun by which it is governed while in the Tibto Burman and Chinese it preced's it.

—George Grierson
Linguistic Survey of India Page 48-49 Vol. 1st, Part 1st
Edition 1927

अतीत विषयक पदार्थ के अनुस्मरण को स्मृति कहते हैं।'[1] अतएव कवि लोग अभिधेय संज्ञा पद का प्रथम प्रयोग करके उसके अनन्तर ही उसके प्रतिनिधिभूत सर्वनाम पद का प्रयोग करते हैं। जैसे :—

'विषादलुप्तप्रतिपत्तिविस्मतं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत्।
वसिष्ठ धेनुश्च यदृच्छयागता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी ॥'[2]

इस पद्य में अभिधेय भूत नन्दिनी का निर्देश संज्ञा पद द्वारा करके पुन:—

'तदङ्गनिष्पन्दजलेन लोचने'[3] इत्यादि पद्य में नन्दिनी संज्ञा पद के प्रतिनिधिभूत तत्सर्वनाम द्वारा नन्दिनी का परामर्श किया गया है। इसी प्रकार इसी पद्य के उत्तरार्ध :—

'अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दन:।'[4]

इत्यादि पद्य में रघु का निर्देश दिलीपनन्दन पद द्वारा करके पुन: :—

'स पूर्वत: पर्वतपक्षशातनम्'[5] इत्यादि पद्य में तत्सर्वनाम द्वारा उसका परामर्श सर्वथा उचित ही है।

इसके विपरीत स्मर्त्तव्य के वाचक संज्ञा पद का निर्देश किये बिना ही स्मरण के हेतुभूत सर्वनाम पद का प्रयोग करने पर क्रमदोष माना जायेगा।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संज्ञा पद का प्रयोग किये बिना प्रतिनिधिभूत सर्वनाम पद द्वारा उसका परामर्श नहीं करना चाहिए।

(२) विशेषण के रूप में प्रयुक्त सर्वनाम पदों का विशेष्य संज्ञा पद के अव्यहित (पूर्व अथवा पर) प्रयोग में भी सर्वनाम पद के अर्थ बोधन का सामर्थ्य ही है। क्योंकि विशेषण सहित अथवा विशेषण रहित पद

---

१. 'दृष्टाश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु शेषानुव्यवसायेच्छानुस्मरणद्वेषहेतुरतीतविषया-स्मृति:। —वैशेषिक दर्शन प्रशस्त पाद भाष्य। पृ० १२८
२. रघुवंश ३.४०
३. वही ३.४१
४. वही
५. वही ३.४१

का प्रयोग होने पर उन अन्य विशेषणों के प्रति विशेष्य की आकांक्षा समाप्त हो जाती है, जिनका कि व्यवहित प्रयोग किया जा रहा हो। बिना व्यवधान के प्रयोग होने पर वह आकांक्षा बनी रहती है। फलतः निर्विघ्न अर्थ प्रतीति के लिए सार्वनामिक विशेषण पदों का प्रयोग विशेष्य पदों से अव्यवहित पूर्व अथवा पर में किया जाना चाहिए। जैसे :—

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम्।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा:
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥[1]

इस पद्य में सुरधनु, पटुधारासार, इन दो पदों के साथ बिना किसी व्यवधान के इदं, अयं, पदों का प्रयोग सहृदय हृदय द्वारा सराहनीय है। व्यवधान के साथ प्रयोग करने पर क्रमदोष माना जायेगा। उपर्युक्त पद्य में ही हम इस दोष को भी देख सकते हैं। यहीं प्रथम चरण में अयं पद का प्रयोग 'नवजलधर' पद के अव्यवहित पूर्व या पर में होना चाहिए था, किन्तु सन्नद्ध पद का व्यवधान होने से यहां क्रमदोष मानना अनुचित न होगा।

(३) 'च' आदि समुच्चयार्थक पदों का समुच्चेय पदों से अव्यवहित उत्तर में प्रयोग करने का नियम संस्कृत भाषा में लगभग उसी प्रकार स्वीकृत है, जैसे उपसर्गों का पूर्व प्रयोग। प्रयोग नियम के कारण ही इन्हें उपसर्गों से भिन्न मानकर कर्मप्रवचनीय संज्ञा दी गयी है। जैसा कि आचार्य महिमभट्ट ने लिखा है 'उपसर्ग असत्त्वभूत अर्थ के बोधक हैं। असत्त्वभूत अर्थ के बोधक रूप समानता के रहते हुए भी व्यापार नियम तथा प्रयोग नियम के आधार पर अव्ययों के तीन भेद हो जाते हैं।'[2]

इस प्रयोग नियम को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए 'रुय्यक' ने

---

१. विक्रमोर्वशीयम् ४.७

२. असत्त्वभूतार्था उपसर्गादयः तेषामसत्वभूतार्थत्वाविशेषेऽपि व्यापारनियमात्प्रयोगनियमाच्च त्रैराश्योपगममः। —व्यक्ति विवेक पृ० ३७

लिखा है कि 'प्रयोग' नियम अर्थात् च इत्यादि पदों का समुच्चेय आदि वाचक पदों से पर प्रयोग आदि।'[1] उदाहरण के लिए हम कालिदास के निम्नलिखित पद्यों को देख सकते हैं :—

प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृंगान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः।'[2]

इस पद्य में प्रदक्षिणी कृत्य तथा प्रणम्य इन दोनों क्रिया पदों के अव्यवहित पर में समुच्चयार्थक 'च' शब्द का प्रयोग प्रशंसनीय है। इसी प्रकार :—

प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार।
प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः॥[3]

इस पद्य में भी समुच्चयार्थक 'च' शब्द का प्रयोग समुच्चेतव्य 'शिथिलीचकार' तथा 'प्रत्यब्रवीत्' क्रिया पद के अव्यवहित पर में श्लाघनीय ही है। इसी प्रकार :—

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।[4]

यहां भी समुच्चेय प्रभुत्व, वयस् एवं वपुष् पदों के अनन्तर 'च' पद का प्रयोग शोभादायक है।

किन्तु उपर्युक्त क्रम का व्यतिक्रम होने पर सहृदय जन उस वाक्य योजना को पसन्द नहीं करते। जैसे :—

कला च सा कान्तिमती कलावतः
त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥[5]

प्रस्तुत पद्य में 'कला' और 'त्वं' पदों के मध्य उपमानोपमेय भाव-विवक्षित है, अतः 'त्वं' पद के अव्यवहित उत्तर में 'च' पद का प्रयोग

---

१. प्रयोगनियमश्चादीनां समुच्चेतव्यादिवाचिभ्यः परप्रयोगादिः।
—व्यक्तिविवेक व्याख्यान, पृ० ३७

२. रघुवंश २.२१
३. वही २.४१-४२
४. वही २.४७
५. कुमार सम्भव ५.७१

होना चाहिए था। किन्तु कवि के प्रमादवश 'च' पद से पूर्व 'अस्य-लोकस्य' ये दो पद आ गए हैं। अतः इसे शोभाजनक नहीं कहा जा सकता।

जो नियम 'च' शब्द के सम्बन्ध में बताया गया है, वही 'पुनः' आदि अन्य समुच्चेयार्थक पदों के लिए भी है। अर्थात् 'पुनः' पद का प्रयोग भी समुच्चेय पदों के अव्यवहित पर में होने पर काव्य को चमत्कृत करता है। जैसे :

'गुरोस्सदारस्य निपीड्य पादौ, समाप्य सान्ध्यं च विधिन्दिलीपः।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीम्, भेजे भुजोच्छिन्नरिपु निषण्णाम्॥'[1]

इस पद्य में समुच्चेय 'दोहावसाने' पद के अनन्तर 'पुनः' पद का प्रयोग शोभनीय है।

इसी प्रकार

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते।
जीवनन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः, प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि॥[2]

इस पद्य में भी 'पुनः' पद का प्रयोग 'जीवन्' पद के अनन्तर उचित ही है। किन्तु इसके विपरीत :—

मीलितं यदभिरामताधिके, साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतम्।
उद्यता जयिनि कामिनी मुखे, तेन साहसमनुष्ठितम्पुनः॥[3]

इस पद्य में समुच्चार्थक 'पुनः' पद का प्रयोग समुच्चेय 'तेन' पद के अनन्तर होना चाहिये, किन्तु कवि के प्रमादवश यह व्यतिक्रम इस काव्यरत्न को कलंकित कर रहा है। इसी प्रकार :—

ततः परं तेन मखाय यज्वना तुरङ्गमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः।[4]

इस काव्यरत्न में भी 'पुनः' पद का प्रयोग 'यज्वना' पद के अनन्तर होना चाहिये। उस स्थिति में :—

ततः परं तेन मखाय यज्वना, पुनर्विसृष्टं तुरगं ह्यनर्गलम्।

---

१. रघुवंश २.२३   २. वही २.४८
३. वही ३.३६

पाठ करना उचित होगा।

(४) उपमावाचक 'इव' आदि अव्यय पदों का प्रयोग उपमान-वाचक पदों के अव्यवहित पर में ही उचित होता है, अन्यत्र नहीं। जैसे :—

'तमर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हसि।'[1]

यहां उपमावाचक 'इव' पद का प्रयोग उपमानवाचक 'अर्थ' पद के अनन्तर होने से सहृदय जनों द्वारा सराहनीय है।

उपर्युक्त क्रम का निर्वाह न होने पर सहृदय जन उस प्रयोग को श्रेष्ठ प्रयोग नहीं मानते। जैसे :—

उक्खअदुमं व सेलं हिमहअ कमलाअरं व लच्छि विमुक्कम्।
पीअमइरं व चसअं बहुल पओसं व मुद्धचन्दविरहिअम्॥
[उत्खातद्रुममिव शैलं हिमहतकमलाकमिव लक्ष्मिविमुक्तम्।
पीतमदिरमिव चषकं बहुलप्रदोषमिव मुग्धचन्द्रविरहितम्॥]

प्रस्तुत प्राकृत गाथा में द्वितीय और चतुर्थ चरणों में 'इव' पद का प्रयोग उपमान कमलाअरय (कमलाकर) तथा पओस (प्रदोष) पदों के अनन्तर होने से श्लाघनीय है, किन्तु तृतीय चरण में उसका व्यतिक्रम अर्थात् उपमानवाचक चसअ (चषक) पद के पूर्व प्रयोग गाथारत्न को कलंकित कर रहा है। उसके निवारणार्थः—'चसअं व पीअमइरम् (चषकमिव पीतमदिरम्) इत्यादि पाठ परिवर्तन करना अधिक उचित होगा।

पद क्रम के सम्बन्ध में महिमभट्ट प्रतिपादित अन्तिम सिद्धान्त यह है कि 'इति' आदि व्यवच्छेदक पदों का प्रयोग व्यवच्छेद्य पदों के अव्यवहित उत्तर में किया जाये। व्यवधान के साथ नहीं। जैसे :—

न मे ह्रिया शंसति किञ्चिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोशलेश्वरः॥'

प्रस्तुत पद्य में 'स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी' इस व्यवच्छेद्य वाक्य के अव्यवहित उत्तर में व्यवच्छेदक 'इति' पद का प्रयोग आदर्श है।

---

१. रघुवंश ३.५

इसी प्रकार :—

'श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकः तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम् ॥'[1]

इस पद्य में 'अयं अर्भकः' श्रुतस्य अन्तं यायात् तथा युधि परेषां (अन्तं यायात्) इस व्यवच्छेद्य वाक्य के अनन्तर 'इति' पद का प्रयोग प्रशंसनीय है।

इसके विपरीत प्रयोग होने पर अपेक्षित क्रम के अभाव में सहृदय उस काव्य की सराहना नहीं करते, अपितु उसमें क्रमदोष स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद्य को देखा जा सकता है।

धरस्योद्धर्तासि त्वमिति ननु सर्वत्र जगति
प्रतीतस्तत्किम्मामतिभरमधः प्रापिपयिषुः।
उपालभ्येवोच्चै र्गिरिपतिरिति श्रीपतिमसौ
बरक्रान्तः क्रोडद्विरदमथितो वीरुहरवैः ॥[2]

इस पद्य में प्रथम चरण में 'धरस्य उद्धर्त्ता असि' इस व्यवच्छेद्य वाक्य के अनन्तर 'इति' पद का प्रयोग प्रशंसनीय है। किन्तु इसी पद्य में 'इति सर्वत्र प्रतीतः तत माम् अतिभरं अधः किम् प्रापिपयिषु' इस व्यवच्छेद्य वाक्य के अनन्तर तृतीय चरण के आदि में इति पद का प्रयोग होना चाहिये था, किन्तु प्रमादवश कवि ने 'गिरिपति' पद के अनन्तर उसका प्रयोग किया है। जिसके फलस्वरूप यह काव्यरत्न कलंकित हो रहा है। यहां दोष निराकरण के लिए निम्नलिखित रूप से पाठ परिवर्तन किया जा सकता है :—

'इतीवोपालभ्य क्षितिधरपतिः श्रीपतिमसौ।' इत्यादि।

इसी प्रकार :—

'प्रतीक्ष्यं च प्रतीक्ष्यायै पितृश्वसे सुतस्य ते।
सहिष्ये शतमागांसि प्रत्यश्रौषीः किलेति यत् ॥'[3]

इस पद्य में व्यवच्छेद्य 'सहिष्ये शतं आगांसि' इस वाक्य के अन-

---

१. रघुवंश ३.२१
२. शिशुपाल वध ५.६६
३. वही २.१०८

न्तर 'इति' पद का प्रयोग होना चाहिए, किन्तु प्रमादवश 'प्रत्यश्रौषीः किल' इन दो पदों का मध्य में प्रयोग हो गया है। अतः यहां क्रम दोष माना जाएगा। इस दोष के निराकरणार्थं निम्नलिखित रूप से पाठ परिवर्तन कर लेना उचित होगा :—

'सहिष्ये शतमागांसीत्यभ्युपैर्यत्किल स्वयम्।'[1]

'इति' पद की भांति ही व्यवच्छेदार्थक 'इत्थं' 'एवं' आदि अव्यय पदों का प्रयोग भी व्यवच्छेद्य पदों के अनन्तर ही होना चाहिए। जैसा कि कालिदास कृत निम्नलिखित पद्य में देख सकते हैं।

'वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषं, ऋषेरनुज्ञामधिम्य मातः।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः॥'[2]

इस व्यवच्छेद्य पद्य के अव्यवहित अनन्तर 'इत्थं क्षितीशेन वसिष्ठ-धेनुः'[3] इत्यादि पद्य के प्रारम्भ में ही इत्थं पद का प्रयोग श्लाघनीय है। ऐसा न होने पर यह काव्य काव्यमर्मज्ञ सहृदय जनों द्वारा श्लाघ्य नहीं हो पाता। यथाः—

किं क्रमिष्यति किलैष वामनः यावदित्थमसहन्न दानवाः।
तावदस्य न ममौ नभस्तले लंघितार्कशशिमण्डलः क्रमः॥

इस पद्य में व्यवच्छेदक 'इत्थं' पद का प्रयोग व्यवच्छेद्य 'किं क्रमिष्यति किल एष वामनः इस वाक्य के अव्यवहित अनन्तर होना चाहिए, किन्तु प्रमादवश मध्य में यावत् पद का प्रयोग हो गया है, जो वाक्यार्थ प्रतीति में विघ्नदायक होने के कारण दोषपूर्ण है। इसी प्रकार :—

स्तम्बेरमः परिणिनंसुरसावुपैति,
षिद्गैरगद्यत ससम्भ्रममेवमेका॥

इत्यादि पद्य में व्यवछेदार्थक 'एवं' पद का प्रयोग व्यवच्छेद्य वाक्य 'स्तम्बेरमः परिणिनंसुः असौ उपैति' के अनन्तर होना चाहिए, किन्तु ऐसा न होने से सहृदय इस प्रकार के काव्य की सराहना नहीं करते। यदि इस पद्य में निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास कर दिया जाए तो

१. रघुवंश २.६६ २. वही २.६७
३. शिशुपाल वध १४.७५

यह दोष न रह सकेगा :—

'स्तम्बेरमः परिणिनंसुरसौ समभ्ये
त्येवं ससम्भ्रममभण्यत कापि षिद्गैः'।

इत्यादि।

उपर्युक्त प्रयोगों के आधार पर हम कह सकते हैं कि पदों के अर्थ बोध क्षमता के अनुसार अनेक पद वाक्य में नियत स्थान पर प्रयुक्त होकर ही काव्य में चारुत्व उत्पन्न करते हैं। नियत स्थलों पर प्रयोग न होने पर वे पद ही काव्य में अचारुत्व की सृष्टि करते हैं, कवि को इस अचारुत्व से बचने का सदा प्रयत्न करना चाहिए। यह महिमभट्ट का तात्पर्य है।

आचार्य महिमभट्ट के अनुसार इनके अतिरिक्त कुछ अन्य पद भी हैं, जो नियत स्थान पर ही प्रयुक्त होकर ही अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति करा पाते हैं।

उदाहरण के रूप में निषेध वाचक 'न' पद का प्रयोग निषेध्य के अव्यवहित पूर्व में होना चाहिए। वाक्य में निषेध्य के रूप में कभी क्रिया अभीष्ट होती है, उस स्थिति में निषेधार्थ 'न' पद का प्रयोग क्रिया से पूर्व होने पर ही प्रशस्य होता है। यथा:—

'कोपं न गच्छति नितान्तबलोऽपि नागः।'[१]

यहां निषेध्य 'गच्छति' क्रिया से पूर्व 'न' पद का प्रयोग प्रशंसनीय है। इसी प्रकार :—

अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य सन्ततेः॥[२]

इत्यादि पद्य में निषेध्य क्रिया 'निधाः' के अव्यवहित पूर्व में निषेधार्थाभिधायक 'मा' पद का प्रयोग प्रशंसनीय है।

इसके विपरीत प्रयोग होने पर चूंकि वाक्यार्थ प्रतीति में व्याघात उपस्थित होता है, अतः सहृदय पाठक उस प्रयोग को दोषपूर्ण मानते हैं। जैसे :—

---

१. पंचतन्त्र १.१३४

२. रघुवंश ३.५०

'आहूतेषु विहंगमेषु मशको नायान्पुरो वार्यते।

इस पद्य में निषेध योग्य 'वार्यते' क्रिया से अव्यवहित पूर्व में निषेधार्थक 'न' पद का प्रयोग होना चाहिए था, किन्तु इसके विपरीत 'आयान्' क्रिया से पूर्व यहां 'न' पद प्रयुक्त है, अतः दोषपूर्ण है।

कभी कभी वक्ता वाक्यगत अन्य पदार्थों पर अधिक बल न देकर निषेध पर ही सर्वाधिक बल देता है। उस स्थिति में प्रयोग की परम्परा के अनुसार निषेधवाचक न पद का प्रयोग क्रिया के निकट न होकर वाक्य के आदि में होता है।

यथा :—**धर्मबुद्धिः खल्वहम् (अस्मि)। नैतच्चौर कर्मकरोमि।**[1]

यहां द्वितीय वाक्य के आदि में ही 'न' पद का प्रयोग किया गया है, क्रिया से अव्यवहित पूर्व नहीं। अतः यहां 'नञर्थ' के प्राधान्य की प्रतीति होती है। इसी प्रकार :—

'अहो ! न सम्यग्दृष्टोऽयं न्यायः।'[2]

इस वाक्य में भी नञर्थ के प्राधान्य के कारण 'न' पद का प्रयोग वाक्य के आदि में हुआ। इसी प्रकार :—

'भद्र ! न सर्वमेतद्धनं गृहं प्रति नेतुं युज्यते।'[3]

इस वाक्य में 'निषेध' की प्रधानता अभीष्ट होने के कारण 'न' पद का प्रयोग वाक्य के प्रारम्भ में हुआ है। इसी प्रकार :—

न वित्तं दर्शयेत्प्राज्ञः कस्यचित्स्वल्पमप्यहो
मुनेरपि यतस्तस्य दर्शनाच्चलते मनः॥[4]

इस वाक्य में भी न पद का प्रयोग वाक्य के प्रारम्भ में करने का कारण निषेधार्थ की प्रधानता है। इसी प्रकार :—

'अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नेवोदेता नास्तमेता एकल एव मध्ये स्थाता।'[5]

'न वै तत्र निम्लोच नोदियाय कदाचन।'[6]

---

१. पंचतन्त्र पृष्ठ ८७ मित्रभेद
२. वही पृष्ठ ८७ मित्रभेद
३. पंचतन्त्र पृष्ठ ८७ मित्रभेद
४. वही पृष्ठ ८७ मित्रभेद
५. छान्दोग्य उपनिषद् ३.११.१
६. वही ३.११.१

'न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, न मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्।'[1] इत्यादि।

इन उपनिषद् वाक्यों में भी निषेधार्थ की प्रधानता के कारण ही निषेधार्थक न पद का प्रयोग वाक्य के आदि में हुआ है। अतएव इसे प्रशस्त मना जायेगा।

वाक्य में कभी कभी कारक विशेष के निषेध को विवक्षा प्रधानतया होती है, उस स्थिति में उन कारक विशेष के अव्यवहित पूर्व निषेधार्थक पदों का प्रयोग हुआ करता है। जैसे :—

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचनाः॥[2]

इस पद्य में तर्पण क्रिया के कर्त्तृभूत अग्नि, तथा अन्तक पदों से पूर्व निषेधार्थक 'न' पद का प्रयोग प्रशंसनीय है। इसके विपरीत प्रयोग होने पर चारुत्व मं न्यूनता की अनुभूति होती है, अतः वह प्रयोग दोष पूर्ण होगा। जैसा कि इसी पद्य के द्वितीय और चतुर्थ चरण में 'महोदधि' और 'वामलोचनाः' पद से पूर्व न पद का प्रयोग उचित था, किन्तु नदी और पुरुष वाचक षष्ठचन्त अपगा और पुंस् शब्दों (अपगानां पुंसाम् पदों) के व्यवधान होने से उचित प्रतीत नहीं होता।

यदि उपर्युक्त पद्य में सम्बद्ध पदार्थों की प्रधानता की विवक्षा होती तो क्रमदोष न होता।

यदि यह कहा जावे कि 'प्रथम और तृतीय चरण में' कर्त्तारूप अर्थ तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में सम्बद्धार्थ प्रधानतया विबक्षित है, उस स्थिति में क्रम दोष न रह जायेगा।' तो उचित नहीं हैं क्योंकि उस स्थिति में प्रक्रम भेद दोष उपस्थित हो जायेगा। फलतः उपर्युक्त पद्य के द्वितीय चतुर्थ चरणों में 'न' पद के प्रयोग में क्रमदोष विद्यमान है। इसी प्रकार :—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥[3]

---

१. केनोपनिषद १.३
२. पंचतन्त्र मित्रभेद १४८
३. महाभारत (गीता) २.२३

इस पद्य में निषेध चूंकि प्रधानतः कर्म विषयक है, अतः कर्म वाचक पद के पूर्व निषेधार्थक 'न' पद का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार :—

न तच्छस्त्रेन नागेन्द्रै र्न हयैर्न पदातिभिः।[1]

इत्यादि पद्य में शस्त्र आदि करणों के निषेध की विवक्षा होने से करण वाचक नागेन्द्र आदि पदों से पूर्व निषेधार्थक 'न' पद का प्रयोग किया गया है, जो सर्वथा उचित है। किन्तु यहीं शस्त्र पद एवं 'न' पद के मध्य 'तत्' शब्द का प्रयोग शोभा जनक नहीं है।

कभी कभी वाक्य में निषेध की प्रधानता के साथ अव्ययार्थ की प्रधानता होने पर निषेधार्थक पद के अव्यवहित उत्तर में उस अर्थ के अभिधायक अव्यय पद का ही प्रयोग किया जाता हैं, निषेध्य पदों का उसके बाद। यथा :—

'न जातु कामः कामानाम्, उपभोगेन शाम्यति।'[2]

इत्यादि पद्य में निषेधार्थक 'न' पद के अनन्तर जातु अव्यय का प्रयोग किया गया है, उसके अनन्तर कर्त्तृ पद का।

वाक्य में कारक पद तथा उनसे सम्बद्ध षष्ठ्यन्त पदों का प्रयोग भी समीप में ही श्लाघ्य होता है। यथा :—

गवार्थं ब्राह्मणार्थं वा प्राणत्यागं करोति यः।
सूर्यस्य मण्डलं भित्वा स याति परमां गतिम्॥[3]

इस पद्य में भेदन क्रिया के कर्म 'मण्डल' और उसके सम्बन्धी सूर्य पदों का अव्यवहित प्रयोग प्रशसनीय है, इसके विपरीत व्यवहित पूर्व या पर में प्रयोग होने पर चूंकि वाक्यार्थ बोध में विघ्न होता है, अतः उसे दोष माना जायेगा। यथा :—

तव कण्ठसृजा सिक्ता करवाललता द्विषाम्।
प्रसूते समरारण्ये यशः कुसुमसम्पदम्॥

---

१. पंचतन्त्र मित्रभेद १३५ २. महाभारत
३. पंचतन्त्र मित्रभेद ४५३

चूंकि षष्ठ्यन्त सम्बन्ध पद का स्वभाव है कि वह निकटवर्त्ती कारक पदों से सम्बद्ध हो जाते हैं, पदों के इस स्वभाव के अनुसार यदि अर्थ किया जाय तो इस पद्य का अर्थ होगा कि :—'तुम्हारे कण्ठरक्त से सनी हुई शत्रुओं की 'असिलता' युद्ध भूमिरूप अरण्य में यशः सम्पत्तिरूप पुष्पों को उत्पन्न करती है।' किन्तु राजा की प्रशस्ति गान में तत्पर श्रद्धा सम्पन्न याचक का यह विवक्षित अर्थ नहीं हो सकता। प्रकरण की दृष्टि से विवक्षित अर्थ निम्नलिखित होना चाहिए 'शत्रु के कण्ठ के रक्त सनी हुई आपकी असिलता समररूपी अरण्य में यशरूपी पुष्प सम्पत्ति की सृष्टि करती है।' किन्तु वाक्य में विद्यमान पद क्रम से इस विवक्षित अर्थ की प्राप्ति नहीं हो पाती। अतः उपर्युक्त पद्य में पदों के क्रम को उचित नहीं कहा जा सकता। अतः यहां स्पष्टतः क्रम दोष मानना होगा। उपर्युक्त पद्य में निर्विघ्न अर्थ प्रतीति के लिए निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास कर क्रमदोष को दूर किया जा वकता है :—

द्विषात्कण्ठसृजा सिक्ता त्वत्कृपाणलता वरा।

अथवा :—

'द्विषत्कण्ठसृजासिक्ता करवालजता तव।
प्रसूते समरारण्ये यशः कुसुमसम्पदम्॥

इसी भांति उद्देश्य और विधेय पदों में उद्देश्य पद का प्रयोग प्रथम और विधेय पदों का उसके अनन्तर होना चाहिए। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वाक्य में आरोप्यमाण और आरोपविषय अभिधायक पदों में आरोपविषय के अभिधायक पदों का प्रयोग पहले होना चाहिए, आरोप्यमाण के अभिधायक पदों का प्रयोग उसके बाद। उदाहरणार्थ हम निम्नलिखित पद्य देख सकते हैं :—

मनो ब्रह्म इत्युपासीत···तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म। वाक्पादः चक्षुःपादः श्रोत्रम्पादः इत्याध्यात्मम्। अथाधिदैवतम्, अग्निःपादो वायुःपादः, आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टं भवति।[1]

इस उपनिषद् वाक्य में आरोप विषय मन, वाक्, प्राण, चक्षु,

---

१. छान्दोग्य ३.१८.१-२

श्रोत्र, तथा अग्नि, वायु, आदित्य और दिशाएं हैं, जिन पर ब्रह्म तथा उसके चार पादों का आरोप किया गया है। यहां औचित्य के अनुसार ही आरोप विषय मन आदि का प्रथम प्रयोग हुआ है एवं आरोप्यमाण ब्रह्म आदि का उसके उपरान्त। अतः यह प्रयोग प्रशंसनीय है। इसी प्रकार :—

स्पष्टोच्छ्वसत्किरणकेसरसूर्यबिम्ब-
विस्तीर्णकर्णिकमथोदिवसारबिन्दम्।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतार-
बद्धान्धकार मधुपावलिसञ्चुकोच ॥[1]

इस पद्य में किरण सूर्यबिम्ब दिवस अष्टदिक् तथा अन्धकार पर क्रमशः केसर विस्तीर्ण कर्णिका अरबिन्द दलकलाप (पंखुड़ियां) तथा भ्रमर का आरोप किया गया है, यह आरोप आरोपविषय निर्देश पूर्वक है। अतः सुन्दर क्रम युक्त होने के कारण प्रशंसनीय है। इसी प्रकार :—

त्वक्तारवी निवसनं मृगचर्म शय्या,
गेहं गुहा विपुलपत्रपुटाः घटाश्च।
मूलं दलं च कुसुमं च फलं च भोज्यम्।
पुत्रस्य जातमटवी गृहमेधिनस्ते ॥[2]

इस पद्य में आरोपविषय वृक्ष की छाल (त्वक्तारवी) मृग चर्म, पत्र पुत्र, कन्द, पत्र पुष्प तथा फल हैं, इन पर क्रमशः वस्त्र (निवसन) शय्या, घट, भोज्य तथा गृह का आरोप किया गया है, इन में आरोपविषय अभिधायक पदों का प्रयोग प्रथम तथा आरोप्यमाण अभिधायक पदों का प्रयोग पर में सर्वथा प्रशंसनीय है।

इसके विपरीत प्रयोग होने पर सहृदय उसे उचित नहीं मानते। जैसा कि इसी पद्य में देख सकते हैं। यहां आरोप विषय 'गुहा' का प्रयोग प्रथम होना चाहिए आरोप्यमाण गेह का उसके अनन्तर इस क्रम के व्यतिक्रम को दोष माना जायेगा। इसी प्रकार :—

---

१. हरविजय सर्ग १९.१

शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्म द्रुमाणामधः
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहायाः मृगाः।
इत्यप्रार्थितलभ्यसर्वविभवे दोषोऽयमेको वने
दुष्प्रापार्थिनि यत्परार्थं घटनाबन्ध्यै वृथा स्थीयते ॥[१]

इस पद्य में आरोप्यमाण शय्या आदि का प्रयोग प्रथम तथा आरोप विषय शाद्वल आदि का प्रयोग पीछे किया गया है, जो उचित नहीं है, चूंकि किसी वस्तु के विद्यमान होने पर ही उस पर आरोप किये जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। अतएव आरोप विषय के अभाव में आरोप सम्भव नहीं है। फलतः आरोप विषय से पूर्व आरोप्यमाण का प्रयोग दोषपूर्ण माना जायेगा एवं उसे क्रमदोष कहा जायेगा।

कुछ आचार्यों ने क्रमदोष के आधार पर अविमृष्टविधेयांश दोष की उद्भावना की है। हेमचन्द्र ने उपर्युक्त पद्य को ही उद्धृत कर इसमें अविमृष्टविधेयांश दोष मानते हुए कहा है कि 'यहां शाद्वल आदि का पूर्व कथन कर उसके अनन्तर शय्या आदि का कथन करना चाहिए, किन्तु यहां विपरीत शब्द रचना की गयी है'।[२]

इसी प्रकार :—

स्रस्तां नितम्बादवरोपयन्ती पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिवकार्मुकस्य च ॥[१]

इस पद्य में काञ्ची (कटिमेखला-करधनी) पर कार्मुक का अध्यवसाय किया जा रहा है। इन में अध्यवसाय के विषय काञ्ची का प्रयोग प्रथम तथा अध्यवसीयमान मौर्वी पद का प्रयोग पश्चात् किया गया है, यह उचित ही है। किन्तु यहीं काञ्चो पर स्मरकार्मुक की द्वितीय मौर्वी का अध्यवसान किया जा रहा है, किन्तु जब तक काञ्ची पर मौर्वी का अध्यवसाय नहीं कर लिया जाता तब तक उसे द्वितीय नहीं कहा जा सकता, किन्तु कवि ने अध्यवसान के पूर्व ही द्वितीय पद का प्रयोग कर दिया है, जो उचित नहीं है। अतः काव्यशास्त्र के तत्त्वदर्शी सहृदय ऐसे स्थलों पर क्रमदोष मानते हुए 'मौर्वीद्वितीयाम्' इस प्रकार

---

२. (क) कुमारसम्भव ३.५५

(ख) अत्र शाद्वलानुवादेन शय्यादीनि विधेयानि।
अत्र च शब्दरचना विपरीता कृता। —काव्यानुशासन, पृ० २०६

पाठ विपर्यास को अधिक उचित स्वीकार करते हैं।[1]

उपर्युक्त विविध उदाहरणों और प्रत्युदाहरणों को देखकर उपसंहार के रूप में हम कह सकते हैं कि :—

(१) सर्वनाम नाम आदि विविध पदों के अर्थाभिधान सामर्थ्यवश,

(२) व्याकरण शास्त्र में स्पष्टतः निर्दिष्ट अथवा कवि प्रयोग परम्परावश ज्ञात,

(३) अथवा वाक्य में पदार्थ विशेष के प्राधान्य और अप्राधान्य के आधार पर वाक्य में प्रत्येक पद का एक निश्चित उचित स्थान है, उस (स्थान) क्रम से ही उस पद का वाक्य में प्रयोग होना चाहिए, अन्यथा नहीं। वाक्य में अपेक्षित पद क्रम का उल्लंघन होने पर क्रम व्यतिक्रम को क्रम दोष माना जाता है।

प्रत्येक कवि के लिए उचित है कि वह इस प्रकार के दोषों से अपने काव्य को बचा कर काव्यगत चमत्कार को अतिशय वैशिष्ट्य प्रदान करें।

---

१. अत्र द्वितीयत्वमात्रमुत्प्रेक्ष्यं मौर्वीद्वितीयामिति युक्तः पाठः।

—काव्यप्रकाश सप्तमोच्छ्वास १९०

नवम अध्याय

वाच्यावचन तथा अवाच्यावचन और उसकी समीक्षा

पौनरुक्त्य दोष की चर्चा इससे पूर्व यथास्थान की गई है, जिसमें एक बार अभिहित अर्थ का अभिधान किया होता है। इस प्रकरण में उस दोष की चर्चा की जाएगी जो अभिधेय के अनभिधान से उत्पन्न होता है। कोई भी वक्ता अथवा कवि हृद्‌गत भावाभिव्यक्ति के लिए ही वाक्य व्यवहार करता है, किन्तु वाक्य व्यवहार में प्रवृत्त होकर भी वक्ता अभिधेय (वाच्य) का अभिधान न कर सके तो वाक्य व्यवहार का प्रयोजन सिद्ध न होने से उसका समस्त वाक्यव्यवहार ही अपूर्ण अथवा दोषपूर्ण माना जाएगा। इसी प्रकार कोई कवि भी रसाभिव्यक्ति के लिए वाक्यविन्यास में प्रवृत्त होता है, तो उसकी सफलता उसके अभिव्यक्ति सामर्थ्य पर ही मानी जाती है, यदि सामर्थ्य के अभाववश वह रस निष्पत्ति के एकमात्र साधन विभावानुभाव व्यभिचारि की समुचित योजना नहीं कर पाता और उसके काव्य में साधनों की अपूर्णता अस्फुटता, सन्दिग्धता आदि की स्थिति बनी रहती है, तो रस की निष्पत्ति ही सम्भव नहीं हो पाती है।[1] यद्यपि काव्यगत उस शब्दयोजना को जिससे साक्षाद् रस प्रतीति में ही व्याघात हो, बहिरंग दोष न कह कर अन्तरंग दोष कहा जाता है, एवं अन्तरंग दोष का विवेचन हमारा प्रस्तुत विषय नहीं है। यह पहले कहा जा चुका है कि वह शब्द योजना, जिससे रस प्रतीति में साक्षाद्व्याघात न होकर परम्परया व्याघात हो, वही बहिरंग दोष के क्षेत्र में आती है। जैसे कवि की अप्रतिभावश ऐसी वाक्य योजना हो जाती है कि अभिधेय के

---

१. सर्वथा रसात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो रसः ।···विघ्नाश्चास्यां सप्त। प्रतिपत्तावयोग्यता···प्रतीत्युपायवैकल्यं स्फुटत्वाभावोऽप्रधानता संशययोगश्च।

—नाट्यशास्त्र रससूत्र अभिनव भारती व्याख्या

अनभिधानवश विभावादि की अपूर्णता अस्फुता अथवा सन्दिग्धता होती है उसी प्रकार यह भी सम्भव है कि रसाभिव्यक्ति के साधन विभावादि की स्पष्ट स्फुट और असन्दिग्ध प्रतीति हो भी रही हो फिर भी अन्य अभिधेय का स्पष्ट अभिधान न हो पाता हो। तथा उसके परिणामस्वरूप रसाभिव्यक्ति में साक्षात् तो नहीं किन्तु अंशतः या परम्परया उसमें विघ्न पड़ता हो, अथवा वाच्यार्थ की प्रतीति में ही सहृदय पाठक उद्‌विग्नता का अनुभव करता हो। उस स्थिति में अभिधेय का अभिधान न होने के कारण वाच्यावचन दोष माना जाएगा। नाट्य शास्त्र के आदि आचार्य भरत ने अर्थहीन तथा भिन्नार्थ दोषों को मानकर तथा आचार्य भामह ने अन्यार्थ और अपार्थ दोषों को स्वीकार कर इसी वाच्यावचन दोष को मान्यता प्रदान की थी।

तात्पर्य यह है कि वक्ता या कवि यदि प्रमादवश या प्रतिभा के के अभाववश ऐसी वाक्य योजना करता हैं, जिसके फलस्वरूप अभिधेय का अभिधान न हो रहा तो अथवा अनभिधेय का अभिधान हो रहा हो, तो सहृदय पाठक इस प्रकार की वाक्य योजना को रसानुभूति में यत्किञ्चित मात्र भो वैरस्य का हेतु मानकर उसे उचित नहीं मानते अपितु उनकी दृष्टि में ऐसी वाक्ययोजना वाच्यावचन अथवा अवाच्यवचन दोषयुक्त मानी जाएगी। प्रस्तुत अध्याय में हम वाच्या वचन पर विचार करेंगे।

जिस अर्थ का जिस रूप में या जिस प्रकार कथन होना चाहिए उस अर्थ का उसी रूप में या उस प्रकार कथन न होने पर वाच्यवाचन दोष कहा जाता है।

विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रम और पौनरुक्त्य की भांति ही वाच्यवचन दोष भी रसनिष्पत्ति में साक्षात् अपकर्षक नहीं होता, अतः इसकी भी गणना अन्तरंग दोष में न करके बहिरंग दोषों में महिमभट्ट ने की है। यह वाच्यावचन अनेक प्रकार का हो सकता है। उदाहरणार्थ—

किसी प्रसंग में किसी वाच्य का एक बार संज्ञा द्वारा कथन किया जा चुका है, अथवा उसकी प्रकरणवशात् आर्थ प्रतीति हो चुकी है, उस स्थिति में पुनः उसी अर्थ का परामर्श सर्वनाम पदों द्वारा किया जाना चाहिए संज्ञा पदों द्वारा नहीं। जैसे—

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा
वरं तवेहाद्य ददामि भूयः
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः
सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥[1]

इस उपनिषद् वाक्य में पूर्व मन्त्रों में अभिहित नचिकेता रूप अर्थ की प्रतीति होने के अनन्तर प्रस्तुत वाक्य में उसी का परामर्श तत् सर्वनाम द्वारा किया गया है, जो सर्वथा उचित है। इसी प्रकार—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।[2]

इस वैदिक काव्य में सार्वनामिक विशेषण सहित यज्ञपद द्वारा अभिहित ईश्वर का तस्मात् पद द्वारा तृतीय तथा चतुर्थ चरण में परामर्श आदर्श है। इसी प्रकार—

सः कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।[3]

इस पद्य में पूर्व पद्य में अभिहित दिलीप अर्थ का परामर्श तत् सर्वनाम (सः पद) द्वारा किया गया हैं, वह उचित ही है।

इसके विपरीत अभिहित अर्थ का सर्वनाम द्वारा परामर्श न किए जाने पर वाच्यावचन दोष माना जाएगा। जैसे—

निशि नान्तिकस्थामपि चक्राह्वः सहचरीं विलोकयति।
चक्राह्वापि न सहचरमहो सुदुर्लंघता नियतेः।[4]

इस पद्य में चक्राह्वः तथा सहचर पद का पूर्वार्ध में एक बार प्रयोग होने पर उत्तरार्ध में उसका कथन सर्वनाम द्वारा होना चाहिए, किन्तु यहां सर्वनाम द्वारा कथन न करके शब्दतः किया गया है, अतः महिम भट्ट के अनुसार यहाँ वाच्यावचन दोष माना जाएगा।[4] उक्त

---

१. कठोपनिषद् १.१.१६   २. यजुर्वेद ३१.७
३. रघुवंश २.१२
४. यहां यह शंका हो सकती है कि ऐसे स्थलों पर अभिधेय का अभिधान स्वशब्दतः हो रहा है, अतः वैरस्य हेतु इस प्रयोग को वाच्यावचन नाम देना उचित नहीं है। यदि वाक्यार्थ की प्रतीति न होती तो उक्त नाम देना उचित था। यहां चूंकि एक बार अभिहित का पुनः स्वशब्देन अभिधान

दोष के निराकरण के लिए यहां निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास करना उचित होगा :—

विरहविधुरा सापि तमहो सुदुलंघता नियतेः ।

इसी प्रकार

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि च कनकलतिकायाम् ।
सा च सुकुमारसुभगेत्युपात्तपरम्परा केयम् ।।[१]

इस पद्य में प्रथम कमल पद द्वारा कमलार्थ का अभिधान हो चुका है, अपेक्षा होने पर उस अर्थ का पुनः अभिधान न होकर सर्वनाम द्वारा परामर्श होना चाहिए था किन्तु कवि ने प्रस्तुत स्थल में सर्वनाम द्वारा परामर्श योग्य कमलार्थ का कमल पद द्वारा ही अभिधान किया है, अतः यह अनुचित है। यहां द्वितीय कमल शब्द का प्रयोग न करके तत् शब्द द्वारा परामर्श करने पर निम्नलिखित प्रकार के पाठ करना उचित होगा।

कमलमनम्भसि तस्मिंश्च कुवलये इत्यादि।

उपर्युक्त पद्य के प्रसंग में आचार्य महिमभट्ट ने यहाँ 'सर्वनाम द्वारा परामर्श योग्य अर्थ (वस्तु) के स्वसंज्ञा द्वारा कथन को वाच्यावचन दोष की संज्ञा दी है।'[१] जबकि पुनरुक्ति के प्रसंग में इसी प्रकार के दोष को शब्द पुनरुक्ति (पौनरुक्त्य) दोष नाम दिया था।[२] इस प्रकार एक ही विषय (संज्ञो) की दो संज्ञाएं देकर पृथक् पृथक् दो प्रकार के दोषों के रूप में गणना करना उचिन नहीं हैं।

वैरस्य का जनक है, अतः स्वशब्दतः अवाच्य अर्थ का वचन होने पर इसे अवाच्यवचन नाम देना उचित होगा, वाच्यावचन नाम नहीं। वस्तुतः काव्यरचना में अर्थ की प्रतीति के लिए कवि जब अपेक्षित उचित वचन का प्रयोग न करके अनुचित पद प्रयोग कर बैठता है, तब वहां दोनों स्थितियां समान रूप से होती हैं वाच्य का अवचन एवं अवाच्य का वचन। अतः आचार्य महिमभट्ट ने दोनों को अभिन्न मानते हुए दो नामों का प्रयोग करके भी उन्हें एक ही दोष के रूप में स्वीकार किया है।

१. सर्वनामपरामर्शविषये योऽर्थवस्तुनि ।
स्वशब्दावाच्यता दोषः स वाच्यावचनाभिधः ।। —व्यक्तिविवेक पृ० ३३३

२. सर्वनामपरामर्शयोग्यस्यार्थस्य यत् पुनः ।
स्वशब्देनाभिधानं सा शब्दस्य पुनरुक्तता ।। —वही पृ० २९०

इसी प्रकार सर्वनाम द्वारा अवश्यं परामृश्य का किसी प्रकार भी परामर्श न करने के कारण (संज्ञा द्वारा परामर्श तो अनुचित है, अतः दोषाभाव के लिए संज्ञा द्वारा परामर्श न करके सर्वनाम द्वारा उसका परामर्श अवश्य करना चाहिए था, किन्तु वह भी न करने के कारण) यहां वाच्यावचन दोष माना जाएगा।

विशेषण विशिष्ट विशेष्य के अभिधान के लिए विशेषण और विशेष्य दोनों का कथन अपेक्षित होता है।[1] जिसे हम निम्नलिखित उदाहरणों में देख सकते हैं।

तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिंके ममधन्विनोऽन्ये ॥[2]

उपर्युक्त पद्य में पिनाकपाणि विशेषण द्वारा हर (शंकर) गत वैशिष्ट्यविशेष कवि विवक्षित है, अतएव कवि ने विशेष्य विशेषण दोनों के प्रयोग को आवश्यक माना है।

इसी प्रकार

'एकः शंकामहिकुलरिपोरत्यजद्वैनतेयाद्'

इत्यादि पद्य में भी गरुड़ गत सर्प सम्बन्धी शत्रुता का वैशिष्टच कवि विवक्षित है, अतएव कवि ने विशेषण और विशेष्य दोनों के प्रयोग को आवश्यक माना है।

विशेषण और विशेष्य दोनों के प्रयोग की अपेक्षा होने पर कविगण तीन परम्पराओं का अनुसरण करते हुए मिलते हैं।

१. सर्वनाम द्वारा विशेष्य का अभिधान।
२. पर्यायवाची शब्द द्वारा विशेष्य का अभिधान।
३. विशेषण शब्द की आवृत्ति द्वारा ही विशेष्य का अभिधान।

---

१. पौनरुक्त्य के प्रसंग में अनन्य साधारण विशेषणों के साथ विशेष्य के प्रयोग को पौनरुक्त्य कहा गया है, किन्तु वह मान्यता प्रस्तुत प्रसंग में लागू नहीं होती, क्योंकि उसी प्रसंग यह भी सिद्ध किया गया है कि 'जहां विशेषण द्वारा विशेष्य मात्र की प्रतीति न होकर विशेष्यगत वैशिष्टच विशेष की प्रतीति अभीष्ट होती है, वहां विशेषण और विशेष्य दोनों का ही प्रयोग होना चाहिए, ऐसे स्थलों पर पौनरुक्त्य दोष न होगा।
२. कुमारसम्भव ३.१०

उदाहरणार्थ कुछ पद्यों को देख लेना अनुचित न होगा।

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः॥

इस पद्य में वामलोचनात्व रूप विशेषण से विशिष्ट नायिका रूप विशेष्य कविविवक्षित है। एतदर्थ कवि ने विशेषणार्थ के अभिधान के लिए 'वामलोचनाः' पद का प्रयोग किया है, एवं विशेष्य का परामर्श यत् तत् सर्वनामों द्वारा किया गया है।

वामलोचना पद स्थलविशेष में सामान्य स्त्री अभिधायी हो सकता है। उस स्थिति में तत् शब्द द्वारा स्त्रो का परामर्श होने पर पुनरुक्ति दोष माना जाता है। किन्तु यहां वामलोचना पद द्वारा विशेष वैशिष्टच विवक्षित है, अतएव उसका प्रयोग निर्दोष ही नहीं अनिवार्य भी है। वह वैशिष्टच है 'लोचनों का वामत्व'। शंकर के लोचन द्वारा ही कामदेव भस्म हुआ है, यदि तत्समान ही लोचन हों, तो भस्मीकरण ही सम्भव है, पुनरुज्जीवन नहीं। किन्तु कवि ने उन कामिनियों के लोचनों द्वारा ही कामदेव के पुनरुज्जीवन की विवक्षा की है। यह पुनरुज्जीवन का सामर्थ्य ही उन लोचनों का वामत्व है, वैशिष्टच है। उन कामिनी जनों में नेत्रगत वामत्व के उक्त वैशिष्टच के अववोधन के लिए ही 'वामलोचना' पद का प्रयोग है। इसीलिए कामिनीसामान्य के परामर्श के लिए विशेष्य का परामर्श कवि ने यत्-तत् सर्वनाम पद द्वारा किया है।

इसी प्रकार पूर्व उद्धृत—

'कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणे धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये'।

पद्य में पिनाकपाणि विशेषण प्रयुक्त वैशिष्टच के आश्रयभूत विशेष्य शंकर रूप अर्थ का अभिधान पर्यायवाची 'हर' द्वारा किया गया है।

यहां भी विशेष्यगत वैशिष्टच की विवक्षा होने से विशेषण और विशेष्य वाचक दोनों पदों के प्रयोग में दोष का अभाव ही नहीं है, अपितु दोनों का प्रयोग अनिवार्यतः आवश्यक भी है।

---

१. वाम सुन्दरमूढयोः। —अमर कोश

इसी प्रकार—

'एकः शङ्कामहिकुलरिपोरत्यजद्वैनतेयात्'

इत्यादि पद्य में भी विशेषण 'अहिकुलरिपु' तथा विशेष्य 'वैनतेय' पदों का प्रयोग आवश्यक माना गया है।

इसी भांति—

सततमनंगोऽनंगो नवेत्ति परदाहदुःखमहो।
यदयमदयं दहति मामनलशरो ध्रुवमसौ कुसुमशरः।

इस पद्य में अंगरहितत्व रूप धर्म के आधारभूत विशेष्य का अभिधान पुनः अनंग पद के प्रयोग द्वारा किया गया है। यहां भी अनंग पद के पुनः प्रयोग में न केवल पौनरुक्त्य दोष का अभाव है, अपितु पुनः प्रयोग आवश्यक भी है तथा काव्यशास्त्र के आचार्यों ने ऐसे प्रयोगों में लाटानुप्रास अलंकार मानकर इनकी सराहना की है।[1]

इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि विशेष्यगत वैशिष्ट्य के सहित विशेष्य की विवक्षा होने पर वाक्य में विशेषण तथा विशेष्य दोनों के अभिधान के लिए पृथक् पृथक् पदों के प्रयोग की अपेक्षा रहती हैं; अतएव विशेषण वाचक पद के साथ ही (१) विशेष्य का सर्वनाम द्वारा अथवा (२) पर्यायवाची शब्द द्वारा अथवा (३) उसी पद की आवृत्ति द्वारा अभिधान आवश्यक है। कारण यह है कि एक बार अर्थ बोध करा कर अभिधा के विश्रान्त होने पर पुनः विशेष्यरूप अर्थ के लिए अभिधा सक्षम नहीं है।[2]

श्लेष अलंकार के अवसर पर जब एक शब्द द्वारा अनेकार्थ की प्रतीति दृष्टिगत होती है, वहां भी आवृत्ति के द्वारा ही वह अनेकार्थ प्रतीति होती है। इतना अवश्य है कि वहां आवृत्ति शाब्दी न होकर आर्थी होती है। किन्तु वहां उस आर्थी आवृत्ति के लिए हेतु के रूप

---

१. (क) तात्पर्यभेदे तु लाटानुप्रासः। —अलंकार सर्वस्व ८
(ख) शब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः।
—काव्यप्रकाश ९.८१ पृ० ३१०

२. विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्ति र्विशेषणे।
—मीमांसा प्रसिद्ध न्याय, काव्यप्रकाश पृ० ३३ में उद्धृत

में उपमा अथवा रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग अनिवार्य रूप से रहता है।[1]

अतएव वैशिष्टय सहित विशेष्य की विविक्षा होने पर विशेषण तथा विशेष्य दोनों के वाचक पदों का प्रयोग होना चाहिए। यदि कवि प्रमाद वश दोनों का प्रयोग नहीं हुआ है, तो उस काव्य को वाच्यावचन दोष युक्त माना जाएगा।

उदाहरणार्थ हम निम्नलिखित पद्य को देख सकते हैं—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनोयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।[2]

इस पद्य में कपाली होने के कारण निन्दा रूप वैशिष्टय के साथ शंकर का कथन कवि विवक्षित है, किन्तु प्रमादवश केवल विशेषण का ही कथन किया गया है, विशेष्य का नहीं; अतएव अभिधेय का अभिधान न होने से यहां वाच्यावचन दोष माना जाएगा।

कारण यह है कि इस पद्य में शंकर वाचक केवल 'कपालिनः' पद का प्रयोग किया गया है। यहां यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यहां यह पद (कपालिनः' पद) केवल संज्ञी शंकर का बोधक है, अथवा कपाल सम्बन्धित्वेन शंकर गत गर्हितत्व का, अथवा दोनों का?

प्रथम पक्ष अर्थात् कपालिपद को संज्ञी मात्र अर्थात् केवल शंकर का बोधक मानने पर गर्हितत्व (निन्दा) रूप अर्थ के बोधन के लिए अन्य कोई उपाय अपेक्षित होगा अन्यथा कविविवक्षित शोचनीयता की सिद्धि सम्भव नहीं है। इस प्रकार प्रथम पक्ष में अभिधेय गर्हितत्व अर्थ का अभिधान न होने से इस काव्यरत्न में वाच्यावचन रूप दोष उपस्थित होगा।

द्वितीय पक्ष अर्थात् यहां कपालिनः' पद शंकरगत गर्हितत्व रूप वैशिष्टय का बोधक है, शंकर का नहीं, यह मानने पर भी अभिधेय विशेष्य का अभिधान न होने से पुनः वाच्यावचन दोष मानना होगा।

---

१. उभयत्राप्यभिव्यक्त्यै वाच्यं किञ्चिन्निवन्धनम्।
अन्यथा व्यर्थ एव स्याच्छ्लेषबन्धोद्यमः कवेः॥
—व्यक्ति विवेक २.८४ पृ० ३४४

२. कुमार सम्भव ५.७१

तृतीय पक्ष अर्थात् 'कपालिनः' पद को ही उभयार्थक मानने के लिए आवृत्ति आवश्यक है, वह आवृत्ति या तो शाब्दी की जाए, अथवा आर्थी, दोनों ही स्थिति में आवृत्ति के हेतु का निबन्धन अनिवार्यतः करना चाहिए, फलतः अभिधेय का 'आवृत्ति हेतु' का अभिधान न होने से इस पक्ष में भी 'वाच्यावचन' दोष से मुक्ति सम्भव नहीं है।[1]

अतः इस दोष के परिहार के लिए उपरिलिखित पद्य में निम्न-लिखित पाठ विपर्यास कर लेना उचित होगा—

द्वयं गतं तस्य कपालिनोऽधुना समागमप्रार्थनया कपालिनः। इत्यादि।

आचार्य महिम भट्ट ने कालिदास कृत उपर्युक्त पद्य में—
द्वयंगतं सम्प्रति तस्य शोच्यतां समागम प्रार्थनया कपालिनः॥

इस रूप में पाठ विपर्यास की व्यवस्था दी है किन्तु इस विपर्यस्त पाठ में विशेषण और विशेष्य का अव्यवहित प्रयोग न होने से क्रम दोष उपस्थित होगा[1] जैसाकि आचार्य ने स्वयं स्वीकार किया है।[2] वस्तुतः महिमभट्ट का पूर्वोक्त विचार विचारणीय है। क्योंकि—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भाषते॥[3]

इस वचन के अनुसार प्रत्येक शब्द के साथ उसकी व्युत्पत्ति निमित्तक तथा प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ अवश्य लगा रहता है, और वही एकार्थवाची अनेक शब्दों के पर्यायत्व का हेतु होता है, इस दृष्टि से जो पर्याय विशेषण के रूप में प्रतीत होते हैं, वे भी योगरूढ हो कर संज्ञा शब्द ही बन जाते हैं। इसीलिए तो 'पाकशासनः' 'वलारातिः आदि शब्द विशेष्यान्तर के बिना ही स्वयं एक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

---

१. उभयतो पाशारज्जुः अथवा सर्वतो पाशा रज्जुः।
२. (क) प्रस्तुत प्रबन्ध पृष्ठ २९७-९८
(ख) परामृश्यमनुक्त्वैव परामर्शोऽस्य यस्तदा।
स दोषोघक्ष्यमाणार्थं संवित्तावक्षमो हि सः॥
—व्यक्ति विवेक पृ० २८३
३. तेन वरमत्र पाठः श्रेयानल्पदोषत्वात्। —व्यक्ति विवेक पृ० ३३५

इसी प्रकार प्रस्तुत कपाली शब्द के प्रयोग में भी समझना चाहिए। इसी प्रसंग में कपालिनः पद की आर्थी आवृत्ति के हेतु महिमभट्ट ने प्रश्न की उत्थापना की है कि वाक्य व्यवहार में अर्थ प्रयोग मुख्य एवं शब्द प्रयोग गौण होता है एवं प्रत्येक अर्थ की प्रतीति के लिए पृथक् पृथक् शब्द की योजना की जाती है; भले ही वह प्रयोग एकशेषरूप ही क्यों न हो।[४] इस सर्व स्वीकृत सिद्धान्त के अनुसार यहां प्रतीत होने वाले 'हर' तथा 'कपाल सम्बन्ध जनित गर्हितत्व' दोनों अर्थों के प्रत्यायक दो कपालि पद की कल्पना कर ली जा सकती है। इस प्रकार द्वितीय अर्थ के भी कथित हो जाने पर वाच्य अवचन दोष न रह जाएगा।

इस प्रश्न के समाधान के प्रसंग में उन्होंने ही कहा है कि दो पदों की कल्पना के आधार पर समाधान उचित इसलिए नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इस स्थिति में उन दोनों कपालि पदों में एकता का ही भ्रम पाठकों को होता रहेगा क्योंकि दोनों शब्दों में पूर्ण सादृश्य है तथा भ्रम सदा ही अन्यथा ज्ञान हो सकता है, अतः भ्रमपूर्ण प्रयोग उचित नहीं है।

किन्तु आचार्य महिमभट्ट की इस युक्ति में कोई विशेष बल नहीं दीखता, समान शब्दों के होने पर भी अर्थ प्रतीति में सहृदय को भ्रम होता हो इसे कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता। यमक अलंकार में भिन्न अर्थों में एक समान पद का ही दो या अधिक बार प्रयोग होता है[१] श्लेष अलंकार में समान दो पद भिन्न अर्थ को रखते हुए इतने संश्लिष्ट हो जाते हैं कि पाठक को एक पद की ही प्रतीति होती है, भले ही वह अर्थ की दृष्टि से उक्त पद की आवृत्ति मानकर द्वितीय अर्थ भी

---

४. वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षौ, वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षाः। प्रत्यर्थं शब्दनिवेशान्नैकेनानेकस्याभिधानम्। तत्रानेकार्थाभिधानेनैकशब्दत्वं प्राप्तं तस्मादेकशेषः। — वामनजयादित्य काशिका पृ० ४१

१. (क) सत्यर्थे पृथगर्थाया: स्वरव्यंजनसंहते,
क्रमेण तेनैवावस्थानं यमकं विनिगद्यते। —काव्य दीपिका

(ख) स्वरव्यंजनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम्। —अलंकार सर्वस्व पृ० २६

प्राप्त करता है।[१] एकशेष के अवसर पर भी भिन्न भिन्न व्यक्ति का बोध कराने वाले राम आदि पद एक शेष के कारण एक बार ही प्रयुक्त होकर अर्थ के समय अनेकार्थ को प्रगट करते हैं।[२] किन्तु उक्त किन्हीं भी अवसर पर सहृदय को कभी भ्रम नहीं होता। इतना ही नहीं 'माता च पिता च' 'भ्राता च स्वसा च' 'पुत्रश्च दुहिता च' आदि अर्थों में जब 'पितरौ' 'भ्रातरौ' तथा 'पुत्रौ' आदि पदों का प्रयोग होता है, तो उस स्थिति में अवश्य ही भ्रम की सम्भावना होती है; किन्तु फिर भी वक्ता ऐसे प्रयोगों का व्यवहार करते ही है, भाषाविद् भी उसका समर्थन ही करते हैं[३] फिर यहां भ्रम की कल्पना मात्र से कपाली पद की आवृत्ति को अस्वीकार कर दिया जाए यह उचित नहीं है।

उपर्युक्त समाधान की प्रक्रिया भले ही आलोच्य हो किन्तु इतना तो मानना ही होगा कि उक्त पद्य में कपालिनः पद की आवृत्ति मान कर दोष परिहार की सम्भावना नहीं की जा सकती, क्योंकि यमक अलंकार में जहां समान स्वर व्यंजन समुदाय की आवृत्ति होती है, वहां प्रत्येक पद से भिन्न अर्थ स्वतः अभिहित होता रहता है, श्लेष अलंकार में जहां भिन्न अर्थों में किसी एक पद का एक बार ही प्रयोग किया होता है, वहां भिन्न अर्थ के बोधक उपमा अलंकार आदि हेतुओं का निवन्धन अनिवार्यतः रहता है।[४] एक शेष के अवसर पर जब एक पद

---

१. नानार्थसंश्रयः श्लेषो वर्ण्यावर्ण्योभयाश्रितः। —कुवलयानन्द पृ० ७४
अनेकार्थः शब्दविन्यासः श्लेषः। —जयदेव चन्द्रालोक पृ० ७५

२. सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ। —पा० अष्टा १.२.६४
सरूपाणां मध्ये एक एव शिष्यते नेतरे एकविभक्तौ परतः।
—अन्नंभट्टीयमिताक्षरा पृ० ४६ चौखम्वा संस्करण १६०६

३. पितामात्रा। पा अ १.२.७०
भ्रातृपुत्रस्वसृदुहितृभ्याम्। १.२.६८

४. यत्र पुनः शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपस्तत्र न शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यंग्य ध्वनिव्यवहारः, तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालंकारव्यवहार एव। यथा:—दृष्ट्या केशवगोपराग···चिरम्। एवं जातीयकः सर्व एव भवतु कामं वाच्यश्लेषस्य विषयः।
—ध्वन्यालोक पृ० १६६-१७०

का ही दो या अधिक व्यक्तियों के बोधन के लिए किया जाता है, उस स्थिति में द्विवचन अथवा बहुवचन की विभक्तियां उन अनेक व्यक्तियों के बोधन के हेतु के रूप में प्रयुक्त रहती हैं। निदान हम यह कह सकते हैं कि जहां भी एक पद एकाधिक अर्थों की प्रतीति कराता है, वहां उस प्रतीति के अवबोधन के लिए किसी हेतु का निबन्धन भी अवश्य ही रहता है। किन्तु प्रस्तुत पद्य में ऐसा कोई हेतु निबद्ध नहीं है कि दोनों अर्थों की प्रतीति के लिए उक्त पद की आर्थी आवृत्ति की भी कल्पना की जा सके। जबकि प्रस्तुत पद्य में कपाल सम्बन्धित्वेन निन्दा रूप अर्थ तथा संज्ञी 'हर' रूप अर्थ की प्रतीति के लिए या तो कपाली पद की आवृत्ति करनी चाहिए थी अथवा उसके पर्यायवाची शब्द द्वारा द्वितीय अर्थ के बोधन की व्यवस्था होनी आवश्यक थी, अथवा सर्वनाम द्वारा उसके परामर्श की व्यवस्था होनी चाहिए।[1] किन्तु कवि ने प्रमादवश दोनों अर्थों को प्रतीति के लिए कोई व्यवस्था नहीं की है, अतः यहां वाच्य का अवचन होने से वाच्यावचन दोष माना जाएगा।

उपर्युक्त उदाहरणों में विशेष्य अथवा विशेषणों के बीच विशेष्य का प्रयोग न होने पर वैरस्य के उदाहरण दिए गये हैं। विगत उदाहरण में विशेषण का अप्रयोग भी माना जा सकता है।

विशेषण अनेक प्रकार के हो सकते हैं, सार्वनामिक विशेषण भी उनमें से एक है। इन विशेषणों के प्रयोग से भी अन्य विशेषणों की भांति विशेष्य गत वैशिष्ट्य की प्रतीति होती है, अतः यदि सार्वनामिक विशेषण के प्रयोग की अपेक्षा होने पर उसका प्रयोग न किया जाए तो वह काव्य वाच्यावचन दोषयुक्त माना जाएगा। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद्य को देखा जा सकता है—

> नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
> सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न नाम शरासनम्।
> अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
> कनकनिकषस्निग्धाविद्युत्प्रिया न ममोर्वशी।[2]

---

१. तत्पर्यायेण तेनैव सर्वनाम्ना विनिर्दिशेत्।
आर्थहेतुत्वनिष्पत्तौ धर्मिधर्मोभयात्मकम्।
—व्यक्तिविवेक संग्रह श्लोक २.७२ पृ० ३३६

२. विक्रमोर्वशीयम् ४.१ पृ० १००

इस पद्य के चतुर्थ चरण में भ्रान्ति के निवृत्त होने पर भ्रान्ति के विषय विद्युत् का इदम् आदि सार्वनामिक विशेषण के साथ प्रयोग करना आवश्यक था, जैसाकि प्रथम तीन चरणों में किया गया है। किन्तु इस चतुर्थ चरण में उक्त प्रकार के विशेषण के अभाव में सहृदय पाठक वैरस्य का अनुभव करता है। फलतः उक्त विशेषण के अभिधान न करने के कारण इस पद्य में वाच्यावचन दोष माना जाएगा।

वाक्यगत पदों में अन्वय की उपपत्ति न होने से भी रसभंग होने लगता है, अतः अन्वय की असम्भावना की स्थिति में कवि का विवक्षित प्रगट नहीं हो सकता। अतः ऐसे प्रयोगों में भी वाच्यावचन दोष माना जाएगा। यथा :—

निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनान् जिघांसुः ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान्।
नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽसौ वीर्योदग्रे राजशब्दे मृगाणाम्॥[1]

इस पद्य में अन्तिम चरण में पठित 'राज शब्द' का सम्बन्ध सिंह से सम्भव नहीं है; क्योंकि न तो राजपद सिंह का वाचक है और न ही यहां राजपद का सिंह पद से कोई सम्बन्ध प्रतीत होता है। हां सिंह के पर्यायवाची मृगराज शब्द में अवश्य ही राजपद सम्बद्ध है, किन्तु मृगराज पद यहां प्रक्रान्त नहीं है। यह तो तब उपयुक्त कहा जा सकता था जब 'मृगाणाम्' पद के स्थान पर मृगराजम् पाठ किया गया होता।

इसी प्रकार सिंह मृगों में राजा होता है, शब्द में नहीं, अतएव 'राज शब्दे' यह प्रयोग भी अनुचित है, साथ ही राजशब्द में वीर्योदग्रता अर्थात् अतिशय वीर्यवत्ता नहीं है, वह अर्थनिष्ठ है; अतएव यहां 'राजशब्दे' पद के साथ 'वीर्योदग्रे पद का प्रयोग भी उचित नहीं है।

निदान राज शब्द का अन्वय न तो 'सिंहानां' पद से सम्भव है और न 'मृगाणां' पद से और न ही 'वीर्योदग्रत्व' से, अतः इस 'राजशब्दे' पद का प्रयोग निश्चय ही असंगत है। अतएव 'राजशब्दे मृगाणाम्' पद के स्थान पर 'राजभावः मृगाणाम्' अथवा 'राजशब्दे मृगेषु' इत्यादि रूप से पाठ विपर्यास करना उचित होगा। किन्तु उसका कथन न होने से यहां वाच्यावचन दोष माना जाएगा।

---

१. रघुवंश ९.६४

जैसाकि ध्वनिकार ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि काव्य में कारक शक्तियां भी व्यंग्यार्थ को प्रकट करती है।[१] वाक्य में किसी शब्द विशेष में कारक विशेष के प्रयोग से जिस अर्थ की प्रतीति हो सकती है, उस कारक का प्रयोग न करने से वह अर्थ विशेष अनुक्त ही रह जाएगा, फलतः वाच्य का वचन न होने से वाच्यावचन दोष माना जाएगा जैसे—

तपेन वर्षाः शरदा हिमागमो वसन्तलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च।
प्रसूनक्लृप्तिं दधतः सदर्त्तवः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां दधुः ॥[२]

प्रस्तुत पद्य में ग्रीष्म वाचक तप शब्द की पुंल्लिगता के कारण पुरुषत्व के साथ ही प्रधानत्व की प्रतीति एवं वर्षा शब्द की स्त्री लिंगता के आधार पर वर्षा के स्त्रीत्व के साथ ही अप्रधानत्व की प्रतीति का होना उचित है; अतः वर्षा शब्द में अप्राधान्य के प्रतीत्यर्थं उसका करण कारक में, अर्थात् तृतीया विभक्ति में तथा तप में प्राधान्य के प्रतीत्यर्थं उसका कर्त्ता कारक में अर्थात् प्रथमा विभक्ति में उसका प्रयोग उचित है, जैसाकि शरद् और हिमागम तथा वसन्त और शिशिर के बीच पुंल्लिगतया निर्दिष्ट में कर्त्ता कारक अर्थात् प्रथमा विभक्ति एवं स्त्री-लिंगतया निर्दिष्ट में करण कारक अर्थात् तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है और तभी वे एक कुटुम्बी के रूप में प्रतीत होते हैं। इसी भांति तप का निर्देश प्रथमा विभक्ति में एवं वर्षा का निर्देश तृतीया विभक्ति में हो जाना चाहिए। ऐसा न होने से यहां वाच्यावचन दोष माना जाएगा।

कारक विभक्तियों के समान ही वचन विशेष का प्रयोग भी वाक्यार्थ प्रतीति में अपेक्षित होता है। अतएव जहां जिस वचन का प्रयोग अपेक्षित है, वहां उसी वचन का प्रयोग होने पर वह काव्य सराहनीय हो पाता है। जैसे

---

१. सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथाकारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्। —ध्वनिकारिका ३.१६

२. शिशुपाल वध १.६६

यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः।
विरराम महीयांसः प्रकृत्यामितभाषिणः ॥[1]

यहां महत्त्व गुण विशिष्ट प्रत्येक व्यष्टिगत प्रकृति का बोध हो एतदर्थ बहुवचनान्त 'महीयांसः' पद का प्रयोग किया गया है।

इसके विपरीत जहां अपेक्षित वचन का प्रयोग न हुआ हो, वहां वाच्यावचन दोष माना जाएगा। यथा—

किमवेक्ष्य फलं पयोधरान्ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया।[2]

इस पद्य में 'महीयसः' पद एकवचनान्त प्रयुक्त है। उसके स्थान पर बहुवचनान्त महीयसां पद का प्रयोग करना चाहिए, जिससे कि महत्व-गुणसम्पन्न प्रत्येक व्यष्टि का बोध हो सके। क्योंकि इस प्रकार की अर्थान्तरन्यास योजना एक प्रकार से अनुमान प्रक्रिया के सदृश है, जहां हेतु द्वारा साध्य की सिद्धि की जाती है। क्योंकि एक स्थान पर हेतु और साध्य का सहभाव व्याप्ति का बोध नहीं करा सकता और इसीलिए पक्ष में साध्य सिद्धि के लिए पर्याप्त नहीं होता, व्याप्ति बोधन के लिए तो जहां जहाँ हेतु की सत्ता है वहां वहां सर्वत्र साध्य का होना भी अनिवार्य होता है।[3] जबकि उपर्युक्त अर्थान्तरन्यास में एक वचन के प्रयोग से एकत्र सहचार की ही प्रतीति होगी। जबकि व्याप्ति के लिए सर्वत्र सहचार का ज्ञान अपेक्षित है; अतः यहां बहुवचन का ही प्रयोग अनिवार्यतः होना चाहिए। उसके अभाव में वाच्यावचन दोष माना जाएगा।

कभी कभी बहुत्व की प्रतीति के लिए कवि गण बहुवचन का प्रयोग न कर उसके बदले बहुत्व अर्थ के अभिधायक सर्व आदि शब्दों का भी प्रयोग कर लेते हैं, उन स्थलों में विवक्षित अर्थ की निर्विघ्न

---

१. शिशुपाल वध २.१३ २. किरात २.२१
३. यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः।
—तर्कसंग्रह-अनुमान खंड

प्रतीति के कारण दोष नहीं माना जाएगा। जैसे—

छायामपास्य महतीमपि वर्त्तमानाम्
आगामिनीं जगृहिरे जनतास्तरूणाम्।
सर्वो हि नोपनतमप्यपचीयमानं
वर्धिष्णुमाश्रयमनागतमभ्युपेति।[1]

इस पद्य में अर्थान्तर का उपादान प्रासंगिक अर्थ की सिद्धि के लिए किया गया है। किन्तु न्याय वाक्य गत हेतु वाक्य की हेतु और साध्य में व्याप्ति के ज्ञान के लिए जो साहचर्य नियम अपेक्षित होता है, वह यहां भी अपेक्षित है। एतदर्थं अर्थान्तरन्यास वाक्य में बहुत्व अर्थ की प्रतीति अनिवार्यतः होनी चाहिए। इसके लिए कवि ने यहां बहुवचन विभक्ति का प्रयोग न कर बहुत्वार्थाभिधायी सर्व शब्द का प्रयोग किया है। फलतः वाच्य का वचन होने से यहां वाच्यावचन दोष की कल्पना नहीं की जा सकती।

यदि वाक्य में किसी अर्थ विशेष के अभिधान के लिए किसी धातु विशेष का प्रयोग अपेक्षिन है, किन्तु कवि प्रमादवश उस धातु का प्रयोग न होकर समानार्थक अन्यधातु का प्रयोग हुआ है, तो अपेक्षित अभिव्यक्ति के साधन का अभाव होने से वाच्यावचन दोष माना जाएग। जैसे—

परिपाति स केवलं शिशूनिति तन्नामनि मा स्म विश्वसीः॥

इस पद्य में 'शिशुपाल' नाम के अर्थ को लेकर विवक्षितार्थ कथन के लिए उक्त पद (शिशु पाल) को व्युत्पत्ति की है, किन्तु शिशुपाल पद की व्युत्पत्ति 'शिशून् पालयति' इस प्रकार होगी, किन्तु कवि ने 'शिशून् परिपाति' इस भांति की है अर्थात् पाल धातु के प्रयोग के अवसर पर परि उपसर्गपूर्वक पा धातु का प्रयोग किया है। इस प्रकार पाल धातु का प्रयोग अभीष्ट होने पर भी उसका प्रयोग कवि ने नहीं किया है अतः इसे भी वाच्यावचन दोष माना जाएगा। उक्त दोष परिहार के लिए—

'स शिशून् किल पालयत्यभीः इति तन्नामनि मा स्म विश्वसीः' यह

---

१. शिशुपाल वध ५.१४

पाठ विपर्यास करना उचित होगा। यथास्थित पाठ 'परिपाति स केवलं शिशून्' पाठ तो उस स्थिति में उचित होता यदि नाम 'शिशुपाल' न होकर 'शिशुपरिपाला' होता। किन्तु वास्तविकता इससे विपरीत है।

इस प्रकार वाच्य वस्तु के अवचन सम्बन्धी विविध उदाहरण सहृदय जनों द्वारा स्वयं विवेचनीय है।

कभी कभी वाक्यगत पदों के क्रम मे भी उचित निर्वाह न होने के कारण प्रधानतया अभिधेय का अभिधान प्रधान रूप से नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में भी प्रधानतया अभिधेय का उस रूप (प्रधानरूप) से अभिधान न होने के कारण काव्य में वाच्याबचन दोष माना जाएगा। उदाहरण के लिए निम्नलिखित प्राकृत गाथा को हम देख सकते हैं—

लच्छी दुहिआ जामादुओ हरी तह घरल्लिआ गंगा।
अमिअमिअंका अ सुआ अहो ! कुटुम्बं महो अणिओ ॥
[लक्ष्मी दुहिता जामाता हरिस्तथा गृहिणी गंगा।
अमृतमृगांकौ च सुतौ अहो कुटुम्बं महोदधेः ॥]

प्रस्तुत पद्य में लक्ष्मी हरि गंगा तथा अमृत और मृगांक को क्रमशः समुद्र की पुत्री जामाता गृहिणी और पुत्र द्वय कहा गया है। इनमें 'लक्ष्मी' तथा 'अमृतमृगांकौ' पदों के अनन्तर क्रमशः पुत्री (दुहिता) तथा पुत्र (सुतौ) कहा गया है। फलतः पुत्रीत्व और सुतत्व की साध्यत्वेन प्रतीति होती है, एवं वाक्यार्थ प्रतीति के अनन्तर इनके सम्बन्धी समुद्र में अतिशय श्लाघ्यता की प्रतीति होती है। अतः इन दोनों का प्रयोग तो उचित है। किन्तु हरि और गंगा को जामाता एवं गृहिणी कहा गया है, परन्तु वाक्य में जामाता और गृहिणी पदों का प्रयोग हरि और गंगा पद से पूर्व किया गया है, अतः जामातृत्व एवं गृहिणीत्व की प्रतीति साध्यतया न होकर सिद्धतया, विशेषण रूप से होती है। तथा सिद्धत्वेन प्रतीति के कारण तत्सम्बन्धी समुद्र में कोई श्लाघनीयता में वृद्धि नहीं होती। अतः वाक्य में उनका प्रयोग अनावश्यक होने लगता है। यदि यहां सकल लोक के अलंकारभूत हरि और गंगा का साध्यत्वेन निबन्धन किया गया होता, तो तत्सम्बन्धी समुद्र की श्लाघ्नीयता में अतिशय वृद्धि होती, किन्तु ऐसा न होने से अर्थात् वाच्य का अवचन होने से यहां वाच्यावचन दोष होगा।

इस प्रसंग में तर्क दिया जा सकता है कि क्योंकि पद्यगत पदों का अन्वय करना पाठक पुरुष की इच्छा पर निर्भर है, अतः उक्त दोनों पदों का विपर्यय करके अन्वय किया जा सकता है, उस स्थिति में दोष की सम्भावना समाप्त हो जाएगी। किन्तु विचार करने पर उपर्युक्त तर्क में सार नहीं दीखता, क्योंकि सभी स्थानों पर अन्वय पाठक पुरुषाधीन नहीं माना जाता। किन्तु जहां विशेष्य और विशेषण स्वसौन्दर्यवश ही विध्यनुवाद भाव से प्रतीति हो रहे हैं, वहां वाक्यगत पदयोजना के क्रम से ही अर्थ प्रतीति होती है एवं पद पदार्थोपस्थिति क्रम से ही वाक्यार्थ का बोध होता है। जैसे—

त्वक्तारवी निवसनं मृगचर्म शय्या
गेहं गुहा विपुलपत्रपुटा घटाश्च।
मूलं दलं च कुसुमं च फलं च भोज्यम्
पुत्रस्य जातमटवो गृहमेधिनस्ते ॥[1]

इस पद्य में निवसन शय्या घट भोज्य आदि अर्थ विधेय हैं तथा वन पदार्थ तारवीत्वक् आदि उद्देश्य। उद्देश्य प्रतोतिपूर्विका विधेयप्रतीति ही उचित मानी जाती है तथा सिद्धपदार्थप्रतीतिपूर्वक साध्य प्रतीति में औचित्य होता है, अतः तारवी त्वक् आदि का कथन पूर्व एवं शय्या आदि विधेय का कथन पश्चात् होना चाहिए। इसीलिए यहां उद्देश्य कथन पूर्वक विधेय कथन किया गया है तथा वाक्यार्थ बोध भी उसी क्रम से होता है। प्रत्युदाहरण के रूप में इसी पद्य के द्वितीय चरण गत 'गेहं गुहा' प्रयोग को देख सकते हैं। यहां गुहा पद का प्रयोग गेह पद से पूर्व होना चाहिए। क्योंकि गुहा पदार्थ उद्दिष्ट है एवं उसमें गेहत्व विधेय है। प्रत्युदाहरण के रूप में निम्नलिखित पद्य भी द्रष्टव्य है—

शय्या शाद्वलमासनं शुचि शिला सद्म द्रुमाणामधः
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहायाः मृगाः।
इत्यप्रार्थितलभ्यसर्वविभवे दोषोऽयमेको वने
दुष्प्रापार्थिनि यत्परार्थघटनावन्ध्यैर्वृथा स्थीयते ॥[1]

प्रस्तुत पद्य में वन के गुण दोष विवेचन के प्रसंग में वन में विद्यमान वस्तुओं को उद्देश्य बनाकर उनमें शय्या आदि की विधेयता प्रतिपादित की गई है, यहां औचित्य के अनुसार उद्देश्य का कथन

प्रथम तथा विधेय का उसके अनन्तर करना चाहिए, किन्तु कवि ने उसके विपरीत प्रयोग किया है फलतः औचित्य की प्रतीति नहीं होती सहृदय हृदय इसका साक्षी है।[1]

अतएव इस सम्बन्ध में सदा स्मरण रखना चाहिए कि क्योंकि सिद्ध अर्थ की प्रतीति के बिना साध्य अर्थ की प्रतीति नहीं होती, अतः अनुवाद्य (उद्‌देश्य) का कथन किए बिना विधेय का कथन कभी नहीं होना चाहिए। इस उद्‌देश्य विधेय भाव की स्थिति रूप्यरूपकभाव के समान ही है तथा रूपक योजना में जैसे आरोप विषय का कथन पहले तथा आरोप्यमाण का कथन पश्चात् होता है। उसीभांति यहां भी उद्‌देश्य वाचक पद का प्रयोग प्रथम एवं विधेय वाचक पद का प्रयोग उसके अनन्तर ही होना चाहिए, इसके विपरीत नहीं। जैसाकि निम्न-लिखित पद्य में किया गया है—

स्पष्टोच्छ्वसत्किरणकेसरसूर्यबिम्ब-
विस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम्।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतार-
बद्धान्धकारमधुपावलि सञ्चुकोच॥[2]

प्रस्तुत पद्य में किरण सूर्य बिम्ब दिवस, अष्टदिक् (दिशाएं) तथा अन्धकार पर क्रमशः केसर, विस्तीर्ण कणिका, अरविन्द दलकलाप (पंखुड़ियों) तथा भ्रमर का आरोप किया गया है, अतः यहां आरोप्य-माण विधेय हुआ एवं आरोपविषय उद्‌देश्य। तथा पूर्व निर्दिष्ट व्यवस्था के अनुसार ही यहां उद्‌देश्यभूत किरण आदि का प्रयोग पूर्व हुआ है तथा केसर आदि विधेय का प्रयोग उद्‌देश्य के अनन्तर किया गया है।

वाक्य में कभी कभी सम्बन्ध के अन्यथा भाव से अनिष्ट अर्थ की प्रतीति होने लगती है, एवं इष्ट अर्थ अनुक्त ही रह जाता है; अतः ऐसे विपरीत सम्बन्ध प्रकट कराने वाली रचना को भी वाच्यावचन दोष

---

१. तुलनीय—अत्र शाद्वलानुवादेन शय्यादीनि विधेयानि। अत्र च शब्दरचना विपरीता कृता। इत्यादि। —हेमचन्द्रीय काव्यानुशासन पृ० १७२-१७३
२. हरविजय सर्ग १९.१

युक्त माना जाता है। जैसे—

तव कण्ठसृजा सिक्ता करवाललता द्विषाम्।
प्रसूते समरारण्ये यशः कुसुमसम्पदम्॥

इस पद्य में तव तथा द्विषाम् दो पद सम्बन्धार्थक प्रत्यय से युक्त प्रयुक्त हुए हैं, पदपदार्थप्रतीति के स्वभाव के अनुसार सम्बन्ध (षष्ठी) प्रत्ययान्त पद अपने अव्यवहित पूर्व या अव्यवहित पर में प्रयुक्त पद से सम्वन्धित होकर अर्थ प्रतीति कराते है, इस स्वभाव के अनुसार 'तव' पद कण्ठ से सम्बन्धित होकर एवं 'द्विषां' पद 'करवाल लता' से सम्बद्ध होकर अर्थावबोध में प्रवृत्त होंगे। ऐसी स्थिति में सर्वथा विपरीतार्थ की प्रतोति होगी क्योंकि वक्ता का अभीष्ट अर्थ उपस्थित राजा की चाटु करना है, तथा उपर्युवत अन्वय से 'तुम्हारे कण्ठ रक्त से सनी हुई शत्रु की असि लता' इत्यादि अर्थ की प्रतीति होगी, एवं परिणाम स्वरूप उक्त राजा की चाटु की प्रतोति न होकर शत्रु को चाटु में अर्थ प्रकट होगा। अतः इस प्रकार की विपरीतार्थ उपस्थित करने वाली रचना सर्वथा त्याज्य है।

यहां दोष निवृत्ति के लिए या तो युष्मद् एवं शत्रुवाचक पदों का स्थान परिवर्त्तन करना उचित होगा, अथवा समास का प्रयोग भी किया जा सकता है। जैसे—

द्विषत्कण्ठसृजा सिक्ता करवाललता तव।
प्रसूते समरारण्ये यशः कुसुमसम्पदम्॥

समास करने पर पद्य का रूप निम्नलिखित होगा—

द्विषत्कण्ठसृजासिक्ता त्वत्कृपाणलतावरा।
प्रसूते समरारण्ये यशः कुसुम सम्पदम्॥

क्योंकि इष्टार्थ प्रतीति के लिए उपर्युवत दोनों प्रकारों से ही कथन उपयुक्त था, किन्तु इसके विपरीत कथन होने से अर्थात् वाच्य का अवचन होने से, यहां भी वाक्यावचन दोष होगा।

इसी प्रकार

मधुश्च ते मन्मथ साहचर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव।
समीरणः प्रेरयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुतासनस्य॥[1]

---

१. कुमारसम्भव ३.२१

इस पद्य में सम्बन्धार्थक प्रत्यययुक्त पद एवं संबध्य पद अत्यन्त विश्रृंखलित रूप में निबद्ध है, फलतः यहां अनिष्टार्थ प्रतीति न होने पर भी विश्रृंखलित प्रतीति होने से सहृदय हृदय में उद्वेग की अनुभूति तो होती ही है। अतः इस उद्वेग के निराकरण हेतु पद्य के उत्तरार्ध में निम्नलिखित रूप से परिवर्तन कर देना चाहिए—

व्यादिश्यते केन समीरणो वा हविर्भुजश्चोदयिता भवेति ॥

अतएव कवि को सदा दत्तावधान होना चाहिए कि जिन पदों का जिन पदों के साथ सम्बन्ध है, उनके साथ ही उन पदों का प्रयोग किया जाए, उनके बीच में व्यवधान करना उचित नहीं है।

इस सन्दर्भ में यह प्रश्न किया जा सकता है कि न्यायशास्त्र एवं न्याय सुधा में प्राप्त इस मान्यता के अनुसार कि 'जिसका जिसके साथ सम्बन्ध है, दूरस्थ होने पर भी वह उससे स्वतः सम्बद्ध हो जाता है;'[१] उपर्युक्त स्थलों में सम्बन्ध का बोध हो सकता है, फिर इनमें दोष की सम्भावना क्यों की जाए?

आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि उपर्युक्त मान्यता स्वीकरणीय नहीं है। क्योंकि यह कथन अर्थ प्रतीति के वैचित्र्य पर विचार किये बिना ही प्रतिपादित हुआ है। वस्तुतः उन्होंने ऐसे पदों के दूर और निकट प्रयोग के गुण और दोष पर ध्यान नहीं दिया है।[२]

जिस प्रकार वाच्य वस्तु के वचन न होने पर वाच्यावचन दोष माना जाता है, उसी प्रकार यदि अभिधेय अथवा व्यंग्य अलंकार की अपेक्षा होने पर उसकी योजना न की जाए, तो वहां भी वाच्यावचन दोष

---

१. येन यस्याभिसम्बन्धो दूरस्थेनापि तेन सः।
पदानामसमासानामानन्तर्यमकारणम्।
—तन्त्रवार्त्तिक न्याय सुधा पृ० ५८२, जैमिनिसूत्र ३,१,२४, न्याय सूत्र भाष्य १.२.६

२. इति प्रतीत्योर्वैचित्र्यमनालोच्यैव चर्चितम्।
गुणदोषमपश्यद्‌भिःर्दूरादूरस्थयोस्तयोः॥
स्वरूपेऽवस्थितिर्येषां शब्दानामिति नेष्यते।
न तानन्यव्यवहितान् प्रयुञ्जीत विचक्षणः॥
—व्यक्तिविवेक पृ० ३७४

होगा। जैसे निम्नलिखित पद्य में समासोक्ति अलंकार का प्रयोग अधिक उचित था, किन्तु कवि ने उसकी उपेक्षा कर उसके विषय में श्लेष अलंकार का निवन्धन किया है, क्योंकि यहां वाच्य समासोक्ति अलंकार का निवन्धन होना चाहिए किन्तु उसका अवचन हो रहा है अतः यहां वाच्यावचन दोष होगा। जैसे—

अलकालिकुलाकीर्णमारक्तच्छदसुन्दरम्।
आमोदिकर्णिकाकान्तं भाति तेऽब्जमिवाननम्॥[१]

प्रस्तुत पद्य में 'अब्जमिव' पदों का प्रयोग कर यहां शब्दतः उपमा का व्यवहार किया गया है, एवं उस औपम्य के लिए आनन के विशेषण गत 'अलकालिकुला' 'आरक्तच्छद' तथा 'आमोदिकर्णिका' पदों में श्लेष अलंकार माना जाता है। किन्तु यदि शाब्द उपमा का निबन्धन यहां न होता तो उक्त विशेषणों के साम्य से ही अप्रस्तुत अर्थ की व्यंजना होती एवं समासोक्ति अलंकार माना जाता,[२] तथा उस स्थिति में औपम्य के गम्यमान होने पर अधिक चारुत्व की प्रतीति होती। जैसी कि समस्त सहृदय आलोचक वर्ग की मान्यता है कि 'सार रूप अर्थ स्वशब्द वाच्य होकर उतने चमत्कार की अनुभूति नहीं करा पाता जितना कि व्यंग्य होकर'।[३] अतएक सादृश्य रूप अर्थ भी समासोक्ति द्वारा व्यंग्य होकर अधिक चारुत्व की प्रतीति का हेतु होगा, यह निस्सन्दिग्ध है। औपम्यमूलक श्लेष में वह चारुत्व उपलब्ध नहीं हो सकता। अतएव समासोक्ति के प्रयोग की अपेक्षा होने पर भी श्लेष के मोह के कारण समासोक्ति का प्रयोग न करना वाच्य अवचन दोष कहा जाएगा।

---

१. विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः।

—अलंकार सर्वस्व पृ० १०७

३. (क) साररूपोह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरां शोभामावहति।

—ध्वन्यालोक

(ख) नानुमितो हेत्वाद्यैः स्वदतेऽनुमितो यथा विभावाद्यैः।
न च सुखयति वाच्योऽर्थः प्रतीयमानः स एव यथा॥

—व्य० वि० पृ० ७४

इसी प्रकार

बंहीयांसो गरीयांसः स्थवीयांसो गुणास्तव।
गुणा इव निबघ्नन्ति कस्य नाम न मानसम्।[1]

प्रस्तुत पद्य में भी निबघ्नन्ति पद प्रयुक्त निबन्धन क्रिया रज्जु में विद्यमान रहने वाली क्रिया है, वह जहां शौर्य आदि गुणों में गुण वृत्ति से विद्यमान होकर शौर्य आदि के वैशिष्ट्य का बोधन कराती है, वहीं कार्य साम्य से अप्रस्तुत रज्जु रूप अर्थ की व्यंजना कराते हुए समासोक्ति के माध्यम से व्यंग्यतया औपम्य का भी बोध कराएगी। इस प्रकार समासोक्ति द्वारा व्यंग्य औपम्य प्रतीति की उपेक्षा कर कवि ने 'गुणा इव' पद द्वारा औपम्य का शब्दतः कथन किया है। फलतः उस औपम्य के द्योतन के लिए 'बंहीयांसः' आदि विशेषण पदों में श्लेष अलंकार माना जाएगा। किन्तु इस श्लेष योजना में वह चारुत्व नहीं दीखता जो समासोक्ति अलंकार में सम्भव है। अतएव हम कह सकते हैं कि 'ऐसे स्थलों में एक अलंकार के प्रयोग के अवसर पर अन्य अलंकार के मोह में अपेक्षित अलंकार का प्रयोग न करना वाच्य-अवचन दोष माना जाएगा।

प्रस्तुत प्रसंग में यह आशंका हो सकती है कि समासोक्ति के लिए समान विशेषण द्वारा अप्रस्तुत अर्थ की गम्यमानता होनी चाहिए, किन्तु यहां विशेषण साम्य नहीं है, अतः समासोक्ति अलंकार की सम्भावना नहीं हो सकती, फलतः यहां दोष भी न होगा।

उपर्युक्त आशंका का समाधान करते हुए आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि समासोक्ति अलंकार में विशेषण साम्य रहने पर तो अप्रस्तुतार्थ की प्रतीति होती ही है, साथ ही अप्रस्तुत के कार्य का प्रस्तुत पर आरोप करने से अप्रस्तुतार्थ की भी प्रतीति होती है, तभी समासोक्ति अलंकार माना जाता है। जैसाकि किसी आचार्य ने समासोक्ति के लक्षण में कहा है—'प्रकृतार्थक वाक्य से उसके समान विशेषणों द्वारा अप्रस्तुतार्थ कथन को समासोक्ति अलंकार कहा जाता है।"

---

१. प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानविशेषणैः।
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता॥

—काव्यालंकार सारसंग्रह २.१०

किन्तु इतना ही समासोक्ति का पर्याप्त लक्षण नहीं है, अपितु अप्रस्तुत के कार्य का प्रस्तुत पर आरोप होने पर भी समासोक्ति अलंकार होता है।

फलतः यहां समासोक्ति अलंकार सम्भावित है, श्लेष नहीं। किन्तु कवि ने श्लेष निबन्धन किया है, समासोक्ति का नहीं। अतः यहां भी वाच्यावचन दोष माना जाएगा।

उपर्युक्त पद्य में वाच्यावचन दोष का परिहार निम्नलिखित पाठ विपर्यास करके किया जा सकता है—

बंहीयासो गरीयांसः स्थवीयांसो गुणास्तव।
स्थेयांसश्च निबघ्नन्ति कस्य नाम न मानसम्।

इसी प्रकार श्लेष का निबन्धन अपेक्षित होने पर श्लेष का प्रयोग न करके निम्नलिखित पद्य में उपमा का निबन्धन किया गया है, अतः यहां भी वाच्यावचन दोष माना जाएगा।

'भैरवाचार्यस्तु दूरादेव दृष्ट्वा राजानं शशिनमिव जलनिधिश्चचाल'।[2]

प्रस्तुत पद्य खण्ड में राजन् शब्द उभयार्थक होने से राजा और शशि—दोनों का वाचक हो सकता है। कवि ने श्लेष का उपनिबन्धन न कर 'शशिनम् इव' पद का प्रयोग करते हुए उपमा का निबन्धन किया है। यहां सहृदय पाठकों के लिए निबद्ध औपम्य की अपेक्षा श्लेष का निबन्धन अधिक हृदयावर्जक होता। अतः उपनिबन्धन योग्य श्लेष का उपनिबन्धन न होने से यहां भी महिमभट्ट के अनुसार वाच्यावचन

---

१. (क) साधारणविशेषणसमुत्थापिता तु धर्मकार्यसमारोपाभ्यां द्विभेदा··· तदेवं पंचप्रकारा समासोक्तिः। रुय्यकः अलंकारसर्वस्व पृ० ११३ द्वितीय संस्करण निर्णय सागर बम्बई।

(ख) ···ततश्च समासोक्तावप्रस्तुतव्यवहारसमारोपः चारुता हेतुः। ···तस्माद्विशेषणसमर्पिताप्रस्तुतव्यवहारसमारोपमात्रमिहचारुता हेतुः।

—जयदेव कृत चन्द्रालोक पृ० ६७ और ६९

(ग) समासोक्तिः समै र्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः।

—साहित्यदर्पण १०.५६

२. हर्षचरित पृ० १७३। चौखम्भा संस्करण १९५८

दोष माना जाएगा। यहां दोष निरसन हेतु शशि पद को हटा कर '...राजानं जलनिधिरिवोच्चचाल' पाठ करना उचित होगा।

वस्तुतः राजन् शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर भले ही चन्द्र, सूर्य आदि सभी दीप्तिमान् पदार्थों का वाचक मान लिया जाए, किन्तु चन्द्र अर्थ में राजन् शब्द का प्रयोग कहीं संस्कृत साहित्य में दृष्टिगत नहीं होता, और नहीं ही राजन् शब्द चन्द्र के पर्यायवाची के रूप में मेदिनी, विश्व, अमरकोष आदि में पठित है, अतः श्लेष के आग्रह से राजन् पद से चन्द्र अर्थ लेने में क्लिष्टत्व एवं अप्रयुक्तत्वदोष होने लगेगा, अतः यथावस्थित प्रयोग ही उचित है।

महिमभट्ट के अनुसार उपर्युक्त प्रकार से ही—

तदन्वये शुद्धमतिः प्रसूतः शुद्धिमत्तरः।
दिलीप इति राजेन्दुः इन्दुःक्षीरनिधाविव ॥[1]

इस पद्य में राजन् पद का श्लिष्ट प्रयोग करते हुए[2] श्लेष अलंकार का प्रयोग होना चाहिए था। उस स्थिति में राजन् पद से चन्द्र एवं राजा दोनों अर्थों की प्रतीति होती तथा वाक्यार्थ के रूप 'अब्धौ चन्द्रमा इव अन्वये दिलीपः प्रसूतः' इस अर्थ को प्रतीति होती। इस स्थिति में उपमा के व्यंग्य होने पर अधिक चारुत्व की प्रतीति हो सकती थी, किन्तु महाकवि ने उक्त श्लेष की उपेक्षा कर प्रथम तो रूपक का उपक्रम किया,[3] किन्तु तत्काल ही उसकी भी उपेक्षा कर उपमा अलंकार का ही प्रयोग कर डाला है। इस उपमा की अपेक्षा तो रूपक योजना ही अधिक उचित थी, क्योंकि उस स्थिति में भी 'अन्वय' और क्षीरनिधि का सादृश्य तो गम्यमान ही रहता, हां श्लेष की अपेक्षा रूपक में हीनता अवश्य ही रहती; क्योंकि श्लेष में दिलीप और इन्दु में भी उपमानोपमेयभाव गम्य रहता है, जबकि रूपक में वह वाच्य हो जाता है। उपमा का प्रयोग होने पर तो अब्धि और अन्वय तथा राजा और

---

१. रघु० १.१२
२. 'तदन्वयाब्धौ राजा प्रसूत' इस वाक्य में राजन् पद उभयार्थ वाची है। इससे ही चन्द्र तथा राजा दोनों अर्थों की प्रतीति हो सकती है।
३. उपर्युक्त पद्य में राजेन्दु पद का प्रयोग करते हुए कवि ने रूपक योजना का उपक्रम किया था, किन्तु अन्त तक उसका निर्वाह नहीं किया है।

इन्दु दोनों ही स्थलों पर सादृश्य वाच्य हो जाता है, जो प्रतीयमान सादृश्य की अपेक्षा कम चारुत्व हेतु होगा, ऐसा अनेकवार स्पष्ट किया जा चुका है।

फलतः हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत पद्य में श्लेष के (वाच्य) निबध्य होने पर उपमा का उपनिबन्धन करने से वाच्यावचन दोष होगा।

इसी प्रकार निम्नलिखित पद्य में रूपक के विषय में उपमा का प्रयोग भी दोषपूर्ण है—

ततोद्गुतं वैरमदाभितप्तः सोऽतीव रम्याद् भवनाद्रिकुञ्जाद्।
विनिर्ययौ दानवगन्धहस्ती महाद्रिकुञ्जादिव गन्धहस्ती ॥

इस पद्य में 'दानवगन्धहस्ती महाद्रिकुञ्जाद् विनिर्ययौ' इस प्रकार रूपक योजना से ही दानव और गन्धहस्ती के बीच औपम्य की प्रतीति हो सकती है, साथ ही औपम्य के गम्यमान होने पर उपमा की अपेक्षा चारुत्वातिशय की प्रतीति भी होती; अतः रूपक योजना अधिक उचित थी। किन्तु उपमा प्रिय कवि ने महाद्रिकुंज में रूपक का प्रयोग करते हुए भी दानवगन्धहस्ती में रूपक का निरादर कर उपमा का प्रयोग किया है, जो दोषपूर्ण है।

इस प्रसंग में यह शंका हो सकती है कि पूर्व पद्य में प्रथम इन्दु पद तथा प्रस्तुत पद्य में प्रथम गन्धहस्ती पद प्रशंसा वाचक है, तथा द्वितीय इन्दु और गन्धहस्तो पद उपमान वाचक है। इस प्रकार दोनों पद भिन्नार्थक हैं, अतः यहां कवि द्वारा 'रूपक' का उपक्रम न कर उपमा की ही योजना की गयी है। अतः यहां रूपक का प्रारम्भ और उपेक्षा नहीं, किन्तु प्रारम्भ से ही उपमा अलंकार की योजना है, एवं विच्छित्तिभेद से उपमा के चारुत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

उपर्युक्त तर्क की मीमांसा करने पर हम इसे सर्वतोभावेन ग्राह्य नहीं पाते। इस तथ्य को तो कभी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उपमा अलंकार हो या रूपक अलंकार दोनों का ही स्वतन्त्र चारुत्व है। यदि रूपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में अभेद मूलक सादृश्य पाठक के मानस को आह्लादित करता है, तो उपमा का भेदमूलक सादृश्य भी उतनी ही मात्रा में पाठकों के अन्तरतम को आनन्दित करने में

---

१. गन्धहस्ती (पु०) मदकलहस्तिनि। —अभिधान राजेन्द्र भाग ३

सक्षम है। किन्तु साथ ही यह भी स्मरणीय है कि किसी एक अलंकार का प्रक्रम कर उसकी उपेक्षा केवल उसी स्थिति में उचित है, जब उससे अधिक चारुत्व की सृष्टि की जा सके तथा उपमा और रूपक के स्वतन्त्र चारुत्व के होते हुए भी रूपक की योजना के अनन्तर उपमा योजना हृदयग्राही नहीं हो पाती।

इसके साथ ही यह भी स्मरणीय है कि कवि की वाणी केवल अभिधा द्वारा ही भावबोधन नहीं कराती, अपितु उसकी वाणी में प्रत्येक पद प्रकृति, प्रत्यय, अथवा ध्वनि (काकु) भी कुछ अर्थ रखती है।[1] समासोक्ति अलंकार का मूल आधार ही ऐसे शब्दों का प्रयोग है, जो अभिधा द्वारा अर्थ विशेष का अभिधान करते हुए भी सादृश्य विशेष के कारण उपमा आदि की प्रतीति कराते हैं। इसी प्रकार प्रस्तुत पद्यों में 'राजेन्दुः' एवं 'गन्धहस्ती' पदों के अंश इन्दु और गन्ध-हस्ती पद प्रशंसावाचक होते हुए भी यदि सहृदय पाठक को उस वाक्य योजना में ही रूपक के उपक्रम का अनुभव कराते हैं, तो वहां या तो कवि की विवक्षा माननी होगी अथवा विवक्षा के अभाव में ही अर्थ बोध होने पर प्रतिभा का अभाव मानना होगा। दोनों ही पक्षों में काव्य को दोषमुक्त नहीं कह सकते। इस प्रकार किसी तरह इन्दु और गन्ध-हस्ती पदांशों को प्रशंसा परक मानकर भी रूपक की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकेगा। रूपक के उपक्रम को स्वीकार करने के अनन्तर पाठक रूपक के लिए उत्सुक हो उठता है, यही रूपक की योजनीयता है। इसी कारण उसकी योजना न होने पर प्रतीत होने वाले अचारुत्व को वाच्यावचन रूप दोष मानना होगा।

उपर्युक्त उदाहरणों के द्वारा एक अलंकार के विषय में अलंकारा-न्तर की योजना दोष जनक है, यह सिद्ध करने के उपरान्त आचार्य महिमभट्ट ने उपर्युक्त सिद्धान्त को स्पष्टतया प्रतिपादित करने की दृष्टि से शंका उठाई है कि

यदि किसी एक अलंकार की सम्भावित स्थिति होने पर अन्य

---

१. सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैः तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्॥

—ध्वनि कारिका ३.१६

अलंकार की योजना दोषपूर्ण होती है, तो क्या निम्नलिखित पद्य में दोष की कल्पना उचित होगी ? जैसे—

अनिराकृततापसम्पदं फलहीनां सुमनोभिरुज्झिताम् ।
खलतां खलतामिवासतीं प्रतिपद्येत कथं बुधो जनः ।।

इस पद्य में पूर्वार्ध में प्रयुक्त विशेषण चूंकि खलता अर्थात् दुष्टता के वैशिष्ट्य का बोधक होने के साथ ही खलता अर्थात् आकाश लता का भी वैशिष्ट्य प्रगट करते हैं, अतएव यहां समासोक्ति अलंकार का विषय मानना चाहिए; किन्तु प्रयुक्त विशेष्य पद खलता भी दोनों अर्थों को प्रकट करने में सक्षम है, अतः यहाँ समासोक्ति के बाधित होने से श्लेष का विषय माना जाना चाहिए, किन्तु कवि ने श्लेष का प्रयोग भी न करके खलता शब्द के द्विरुपादान द्वारा उपमा का निबन्धन कर दिया है, इस प्रकार समासोक्ति के विषय में श्लेष का एवं श्लेष के विषय में उपमा का निबन्धन होने से यहां वाच्य-अवचन दोष होना चाहिए।

उपर्युक्त पद्य के सम्बन्ध में व्यवस्था देते हुए आचार्य महिमभट्ट की भी मान्यता है कि यहां दोष नहीं है। क्योंकि किसी स्थल पर जिस अलंकार की योजना के लिए श्लिष्ट पद योजना की जा रही है, यदि उसी अलंकार का किसी कारणवश शब्दतः उपनिबन्धन कर दिया जाए, तो उस स्थिति में भी श्लेष अलंकार की सत्ता में कोई बाधा नहीं आती। प्रस्तुत पद्य में भी खलता पद के सकृत् श्लिष्ट प्रयोग द्वारा उपमा की ही अभिव्यक्ति होती, खलता पद के द्विरुपादान से भी उपमा की प्रतीति हो रही है, अतः इस स्थल पर उपमा द्वारा भी श्लेष अलंकार की ही अभिव्यक्ति होगी। इस प्रकार यहां उपमा अलंकार श्लेषालंकार के विषय में प्रयुक्त न होकर श्लेषालंकार के पोषक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अतः यहां श्लेष के विषय में उपमा का प्रयोग है एवं श्लेष का अवचन है, यह नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त पद्य में समासोक्ति की सम्भावना पूर्व पक्ष की ओर से की गई है किन्तु वह भी उचित नहां है, क्योंकि उक्त विशेषण खलता के वैशिष्ट्य बोधन के साथ ही किसी अन्य नियत उपमान की प्रतीति नहीं कराते। क्योंकि ताप के निवारण में असमर्थ पुष्पफल रहित आकाश-

लता के अतिरिक्त अनेक वनस्पतियां हो सकती हैं, अनेक प्रकार के मानवों की संगति भी ताप निवारण में असमर्थ सौमनस्य तथा परिणामरहित हो सकती है। फलतः नियत उपमान की प्रतीति न होने के कारण इस पद्य को समासोक्ति का भी विषय नहीं माना जा सकता।

अतः प्रस्तुत पद्य में अवाच्य वचन दोष की कल्पना नहीं की जा सकती।

अलंकार योजना के प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि 'प्रत्येक अलंकार समान रूप से काव्य में चारुत्व की सृष्टि करते हैं, यह नहीं कि किसी की योजना से अधिक सौन्दर्यसृष्टि होगी और अन्य की योजना में कम। अतएव ऐसा कोई कारण नहीं है कि कवि एक एक अलंकार का निषेध कर अन्य अलंकार की योजना करे।'[1] इतना अवश्य है कि 'यदि किन्हीं शब्दों से किसी अलंकार की प्रतीति होती है तथा उन शब्दों में भी कुछ का प्रयोग किए बिना ही अलंकारान्तर की प्रतीति हो जाए तो लाघव के कारण अल्पतर शब्दों से प्रतीत होने वाला अलंकार ग्राह्य (उपादेय) होता है।[2]

साथ ही यह भी स्मरणीय है कि काव्य रचना का उद्देश्य रसादि की व्यंजना द्वारा सहृदय हृदय को आह्लादित करना होता है। क्योंकि अलंकार भंगीभणिति रूप है,[3] अतः स्वाभाविक रूप से ही, पृथग्यत्न निर्वत्तन के बिना ही उनकी योजना हो जानी चाहिए, तभी वे अलंकार

---

१. न ह्यस्ति निजे कर्मण्यलंकृतीनां स कश्चनातिशयः।
येन विधीयेतैका, परा निषिध्येत वा कविभिः॥

—व्य० वि० संग्रहकारिका २.७४ पृ० ३४१

२. यदलंकारव्यक्त्यै ये शब्दास्तदितरोऽपि तैरेव।
व्यज्येताल्पतरैर्यदि तदसौ गृह्येत लाघवान्नान्यः॥

—व्य० वि० संग्रहकारिका २.७३ पृ० ३४१

३. ...तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते॥

—वक्रोक्तिजीवित १.१० पृ० ५१.

अलंकार है।[1] अतएव पूर्व उदाहरणों में लाघव तथा अपृथग्यत्न निर्वत्य होने के कारण समासोक्ति तथा श्लेष अलंकार को योजना ही करनी उचित थी, किन्तु उनका निबन्धन न होने से उक्त पद्य में वाच्यावचन दोष विद्यमान है यह मानना ही होगा।

अलंकार योजना

इस प्रसंग में अलंकार योजना के औचित्य अनौचित्य विमर्श के हेतु इतना और स्मरण रखना चाहिए कि 'विभाव अनुभाव और व्यभिचारिभाव रस निष्पत्ति के साक्षात् हेतु होने के कारण रस के अंग माने जाते हैं, तथा विभावादि के प्रत्यायक वचनों में वैचित्र्य रूप (उक्ति वैचित्र्य रूप) अलंकार परम्परया रस के आश्रित होते हैं।[2] अतएव रस योजना में सतत उद्यत कवि अलंकारों की निष्पत्ति में यत्नशील नहीं होता। अलंकार स्वतः पृथग् प्रयत्न विना भले ही निष्पन्न हो जाएं।[3]

---

१. (क) रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धःशक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वत्यःसोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥

—ध्वनिकारिका २.१६ ध्वन्यालोक पृ० १४५

(ख) रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥ —वही पृ० १२२

२. रसा वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्याः तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैस्तत्प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलंकाराः।

—ध्वन्यालोक पृ० १४७ व्यक्ति विवेक पृ० २७६

३. तुलनीय—यो रसं बन्धुमध्यवसितस्य कवेरलंकारस्तां वासनामत्यूह्य यत्नान्तरमास्थितस्य निष्पद्यते स न रसांगमिति। यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रहः आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः।···अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति।

—ध्वन्यालोक १४७ और व्य० विवेक २,७५

क्योंकि वे अलंकार काव्य में अप्रधान हैं, तथा रस ही काव्य में प्रवान है अतएव काव्यार्थ की चारुता (काव्यार्थ निष्पत्ति का साधन उक्ति में चारुता) की दृष्टि से उनका उपादान अथवा त्याग कवि करता रहता है।[१]

जैसाकि आचार्य आनन्दवर्द्धन ने भी कहा है कि जैसे स्त्रीजनों में बाह्य अलंकारों से भिन्न लज्जारूप महान् भूषण रहा करता है, इसी भांति रूपकादि अलंकारों से अलंकृत महाकवियों की वाणी में छाया की भांति प्रतीयमान होता हुआ प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ मुख्य भूषा के रूप में विद्यमान रहता है।[२]

अतएव रसादि की अपेक्षा से ही कोई महाकवि उपमा आदि विविध अलंकारों की योजना में सक्षम होकर भी कुछ अलंकारों का ही प्रयोग करता है।

क्योंकि प्राणियों में जीवन हेतु प्राण की भांति प्रायः अधिकांश अलंकारों में उपमा भी किसी न किसी अंश में विद्यमान रहती है,[३] तथा वह भी प्रतीयमान रूप से रहने पर वाच्य की अपेक्षा कहीं अधिक आस्वाद्य होती है[४] तथा यमक आदि शब्दालंकार एवं रूपक आदि

---

१. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥
निर्व्यूढावपि चांगत्वे यत्नेन पर्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलंकारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥
—ध्वनिकारिका २.१८,१९ पृ० १५०

२. मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्।
—ध्वनिकारिका ३.३८ पृ० ४०३

३. तुलनीय (क) रूपकदीपकापह्नुतितुल्ययोगितादौ उपमाद्यलकारो वाच्योपस्कारकत्वेनोक्तः। —अलंकार सर्वस्व पृ० ६, ७
उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूता। —वही पृ० ४०
—(ख) व्यक्ति विवेक २.७८ पृ० ३४३

४. तुलनीय (क) वाच्यालंकारवर्गोऽयं व्यंग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥
—ध्वनिकारिका ३.३७ पृ० ३९३ (ख) व्यक्ति विवेक २.७९ पृ० ३४३

अर्थालंकार इसीलिए (उपमा की उपर्युक्त प्रकार से व्यापक प्रतीति कराने के कारण ही) उपमा के प्रपंच भी माने जाते हैं।[१] तथापि उसका प्रयोग भी रसादि की प्रतीति के लिए ही किया जाता है, स्वतन्त्र नहीं। अन्यथा वह भी ग्राह्य नहीं हो पाती।

निदान उपमा आदि सभी अलंकार रसादि की दृष्टि से ही आयोज्य हैं, अन्यथा नहीं। रसादि से निरपेक्ष होने पर वे कभी ग्राह्य नहीं हो सकेंगे।

पिछले प्रकरण में प्रासंगिक रूप से चर्चा हो चुकी है कि श्लेष अलंकार के प्रयोग स्थल पर श्लेष बोध के लिए उपमालंकार आदि किसी हेतु का कथन अवश्य होना चाहिए, यदि कवि ने हेतु निबन्धन नहीं किया, तो वहां वाच्य का अवचन होने से वाच्यावचन दोष होगा। इस सम्बन्ध में उदाहरण देने से पूर्व आचार्य महिमभट्ट ने श्लेषालंकार का सामान्य परिचय भी दिया है। उनका कहना है कि—

"श्लेष अलंकार के दो भेद हैं शब्द श्लेष और अर्थ श्लेष। जहां अन्यून तथा अनतिरिक्त अर्थात् समान शब्दों के द्वारा दो वस्तुओं में

---

१. आचार्य वामन ने अनेक अलंकारों को उपमा का प्रपंच माना है।—प्रति-
वस्तुप्रभृत्युपमाप्रपंचः। —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४.३.१
इसकी व्याख्या करते हुए श्री गोपेन्द्र त्रिपुर हर भू पाल ने लिखा है कि—
प्रतिवस्तुप्रभृतयः उद्दिश्यन्ते यथाक्रमम्।
प्रतिवस्तु समासोक्तिरथाप्रस्तुतप्रशंसनम्।
अपह्नुती रूपकञ्च श्लेषोवक्रोक्त्यलंकृतिः॥
उत्प्रेक्षातिशयोक्तिश्च सन्देहः सविरोधकः।
विभावनानन्वयः स्यादुपमेयोपमा ततः॥
परिवृत्तिक्रमः पश्चाद् दीपकं च निदर्शना।
अर्थान्तरस्यन्यसनं व्यतिरेकस्ततः परम्॥
विशेषोक्तिरथ व्याजस्तुति व्याजोक्त्यलंकृतिः।
स्यात्तुल्ययोगिताऽऽक्षेपः सहोक्तिश्च समासतः।
अथ संसृष्टिभेदौ द्वावुपमारूपकं तथा।
उत्प्रेक्षावयवएश्चेति विज्ञेयोऽलंकृतिक्रमः॥
—कामधेनुव्याख्या, वामनीय काव्यालंकार सूत्र, पृ० १४२

सादृश्य कथन किया जाए उसे शब्द श्लेष कहते हैं।[1] इस शब्द श्लेष में कर्तृत्व कर्मत्व अथवा क्रियात्व रूप अर्थ के प्रधानत्व की हानि नहीं होनी चाहिए। शब्दश्लेष की स्थिति में कभी धर्मिप्रतिपादक (अर्थ-युक्त) और कभी धर्म प्रतिपादक (अर्थ युक्त) शब्दों का निवन्धन किया जाता है। इस प्रकार शब्द श्लेष दो प्रकार है।[2]

अर्थ श्लेष का आलंकारिकों ने विशिष्ट विवेचन किया है। इस कारण महिमभट्ट ने उसका परिचय नहीं दिया है। महिमभट्ट के समय अथवा उनके उत्तरकाल में अर्थ श्लेष उसे कहते रहे हैं, जब एक वृन्त गत दो फलों की भांति परिवृत्ति सह एक शब्द से अनेक अर्थों की प्रतीति होती हो।[3]

शब्द श्लेष और अर्थ श्लेष दोनों में ही श्लेष प्रतीति के लिए

---

१. यत्र शब्दभेदेन अर्थ भेदः तत्र शब्दलेष।

—काव्यप्रकाश वामनीय टीका पृ० ६१० व्य० विवेक २.८१, ८२ पृ० ३४४

२. यत्रान्यूनातिरिक्तेन सादृश्यं वस्तुनोर्द्वयोः।
शब्दमात्रेण कथ्येत् स शब्दश्लेष इष्यते ॥
स शब्दैः कर्तृकर्मादिप्रधानार्थाविना कृतैः।
निवद्धौ धर्मिधर्मार्थे द्विविधः परिकीर्त्तितः ॥
इत्थं समासतो ज्ञेयं शब्दश्लेषस्य लक्षणम्।
अपरस्तु प्रसिद्धत्वादिहास्माभिर्न लक्षितः ॥
उभयत्राप्यभिव्यक्त्यै वाच्यं किंचिन्निबन्धनम्।
अन्यथा व्यर्थ एव स्याच्छ्लेषवन्धोद्यमः कवेः ॥

—व्य० वि० २.८१-८४ पृ० ३४४

३. (क) श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन्यत्रानेकार्थता भवेत्।

—काव्यप्रकाश सू० १४७ पृ० ६०६

(ख) परिवृत्तिसहानामेव शब्दानां एकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन यत्रानेकार्थ-प्रतिपादकता सोऽर्थ श्लेषः। —काव्य प्रकाश प्रदीप पृ० ६३

(ग) परिवृत्तिसहानां श्लिष्टानां शब्दानां प्रकरणादि नियमाभावादनेकार्थ प्रतिपादकत्वेऽर्थश्लेषः।

—काव्यप्रकाश वामनीय टीका पृ० ६०६-६१०
व्य० वि० २.८३ पृ० ३४४

किसी हेतु का निबन्ध अवश्य होना चाहिए, अन्यथा कवि का श्लेष निबन्धन का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता अर्थात् श्लेष की प्रतीति सम्भव नहीं होती ।[१] जैसे—

'अत्रान्तरे फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासः कुसुमसमययुगमुपसंहरन्न-जृम्भत ग्रीष्माभिधानो महाकालः ।'[२] इत्यादि गद्य खण्ड में ग्रीष्म के संफुल्लमल्लिका आदि विशेषणभूत (प्रयुक्त) पदों के साम्य के कारण समासोक्ति अलंकार होगा तथा उक्त समासोक्ति के प्रमाण से ही ऋतु विशेष अर्थ में प्रथम प्रतीत महाकाल पद से देवता विशेष के वाचक महाकाल पद की आवृत्ति की जाएगी एवं आवृत्तिवशात् धर्मिरूप अर्थ की प्रतीति होगी। इस प्रकार यहां धर्मि प्रतिपादक शब्दविषयत्वेन शब्दश्लेष अलंकार होगा ।

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ऐसे स्थलों पर, जहां शब्दशक्ति से आक्षिप्त अलंकार की प्रतीति होती है वहां शब्द शक्त्युद्भवध्वनि की सत्ता स्वीकार की है।[३]

उनके अनुसार यदि शब्दशक्ति से वस्तु का प्रकाशन हो रहा हो तो शब्द श्लेष अलंकार होगा ।[४] अलंकार के प्रकाशन होने पर केवल

---

१. व्यक्ति विवेक २.८४ पृ० ३४४

२. हर्षचरित पृ० ११६ चतुर्थ सं० कलकत्ता प्रकाशित १६२६। मूल हर्षचरित पुस्तक में उपर्युक्त पाठ से भिन्न पाठ प्राप्त होता है जो निम्नलिखित है—
'तत्रस्थस्य च अस्य कदाचित् कुसुमसमययुगम् उपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः संफुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः । —वही

३. (क) यस्मादलंकारो, न वस्तुमात्रं यस्मिन्काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम् ।
—ध्वन्यालोक पृ० १६४

(ख) यत्र तु शब्दशक्त्या सामर्थ्याक्षिप्तं वाच्यव्यतिरिक्तं व्यंग्यमेवालंकारान्तरं प्रकाशते स ध्वनेः विषयः । —वही पृ० १६५

४. (क) वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः । —वही पृ० १६४

(ख) स चाक्षिप्तोलङ्कारो यत्र पुनः शब्दान्तरेणाहितस्वरूपस्तत्र न शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यंग्यध्वनिव्यवहारः। तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालंकारव्यवहार एव। यथा दृष्टया केशवेत्यादि० 'एवं जातीयकः सर्व एव भवतु कामं वाच्यश्लेषस्य विषयः । —वही पृ० १६९-१७०

वही शब्दश्लेष होगा 'जहां शब्द शक्ति से साक्षात् अलंकारान्तर वाच्य हो रहा हो'।[1] इस प्रकार प्रस्तुत गद्य में शब्द शक्ति के सामर्थ्य से आक्षिप्त समासोक्ति अलंकार की प्रतीति होने से यहां ध्वनिकार के अनुसार शब्द शक्ति उद्भव अलंकार ध्वनि होगी।

उपर्युक्त गद्य में ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन के अनुसार शब्दशक्ति उद्भव अलंकार ध्वनि स्वीकार की जाए, अथवा व्यक्तिविवेककार के अनुसार शब्द श्लेष ? इस प्रश्न के समाधान के लिए हम आचार्य महिमभट्ट के निम्नलिखित कथन "काव्यार्थ के अलंकरण कार्य की दृष्टि से किसी अलंकार में कोई अतिशय नहीं है कि एक उपादेय हो तथा अन्य हेय, अर्थात् प्रत्येक अलंकार से काव्यार्थ में समान चारुत्व की अभिव्यक्ति होती है।[2] तथा वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ सहृदयजनों को अधिक प्रिय है। यही कारण है कि वाच्य औपम्य वाले रूपकादि अलंकार अधिक श्रेष्ठ माने जाते हैं।"[3] के अनुसार जब हम विचार करते हैं तो हमें मानना पड़ता है कि ध्वनिकार का मत अधिक ग्राह्य है। क्योंकि लक्ष्य में जहां समासोक्ति आदि कोई अलंकार किसी शब्द विशेष द्वारा वाच्य हो रहा है, तथा अन्यत्र जहां वह प्रतीयमान हो रहा है दोनों के चारुत्व की प्रतीति में अन्तर स्पष्ट है। प्रस्तुत उदाहरण में द्वितीय अर्थ स्वशब्दवाच्य न होकर प्रतीयमान हो रहा है, इसकी तुलना…' दृष्ट्या केशवगोपराग……गोप्यैवं गदितः सलेशमवतात्'[4] इत्यादि पद्य से करते हैं, जहां द्वितीय अर्थ 'सलेश' पद द्वारा

---

१. (क) यत्र तु सामर्थ्याक्षिप्तं सदलंकारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स सर्व एव ध्वने विषयः। यथा—अत्रान्तरे इत्यादि। वही पृ० १७१

(ख) आक्षिप्त एवालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तशब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः। २.२१ वही पृ० १६३

२. न ह्यस्ति निजे कर्मण्यलंकृतीनां स कश्चनातिशयः।
येन विधीयेतैका परा निषिध्येत वा कविभिः। व्य० वि० पृ० ३४१

३. वाच्यात्प्रतीयमानोऽर्थः तद्विदां स्वदते स्वयम्।
रूपकादिरतः श्रेयानलंकारेषु नोपमा। व्य० वि० पृ० ३०५

४. दृष्ट्या केशवगोपरागहृतया किञ्चिन्नदृष्टं मया।
तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किन्नाम नालम्बसे।

वाच्य हो रहा है, तो दोनों भिन्नार्थ प्रतीति में स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होता है, दोनों की अलंकारत्व की स्थिति और चारुत्व प्रतीति में अन्तर नहीं होना चाहिए। फलतः यह चारुत्वान्तर प्रतीति एक को (दृष्ट्या केशव इत्यादि पद्य में) हीन चारुत्व प्रतीति के कारक शब्द शक्त्युद्भव ध्वनि मानना उचित होगा।

ध्वनि और अलंकार के इस विवेचन के अधिक विस्तार में न जाकर हमारा इतना ही कहना है कि ध्वनिकार और व्यक्तिविवेक-कार दोनों के पक्ष में ही श्लेष अलंकार के लिए किसी प्रत्यायक हेतु का निबद्ध होना नितान्त आवश्यक है। यदि प्रत्यापक हेतु का निबन्धन न किया गया हो, तो वहां वाच्यावचन दोष होगा। जैसे—

आच्छादितायतदिगम्बरमुच्चकैर्गाम्,
आक्रम्य च स्थितमुदग्रविशालश्रृंगम्।
मूर्ध्निस्खलत्तुहिनदीधितिकोटिमेनम्,
उद्वीक्ष्य को भुवि न विस्मयते गिरीशम्॥

इस पद्य में श्लिष्ट पद की आवृत्ति का निबन्धन नहीं है, अतः यहां वाच्यावचन दोष माना जाएगा।

उपर्युक्त उदाहरण के प्रसंग में यह शंका हो सकती है कि जैसे 'श्वेतो धावति' वाक्य से लक्षणा द्वारा 'श्वेतवर्णयुक्त कोई अश्व अथवा वृषभ आदि दौड़ता है' इस अर्थ की तथा श्वा इतः धावति 'यहां से कुत्ता भागता है' इस अर्थ की यथायोग प्रतीति होती है। अथवा जैसे वस्तु का प्रकाशक हेतु दीपक किसी स्थान पर स्थित होकर अनेक वस्तुओं का प्रकाशन करता है, उसी प्रकार एक बार प्रयुक्त गिरीश पद भी 'रैवतक पर्वत' तथा महादेव' दोनों का प्रकाशक है, ऐसा क्यों न माना जाए ?

इस आशंका का समाधान देते हुए आचार्य महिम भट्ट का कथन है कि शब्द उसी स्थल पर अर्थान्तर का बोधन कराने में समर्थ हो पाता

एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गतिः
गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम्॥
—ध्वन्यालोक पृ० १७० से उद्धृत

है, जब प्रतिपत्ता अन्य अर्थ का परामर्श करे, वह (शब्द) स्वभावतः सकेत की अपेक्षा बिना किये ही प्रदीप की भांति अर्थान्तर का प्रकाशन नहीं करता। प्रतिपत्ता अन्य अर्थ का परामर्श केवल उसी स्थिति में करता है, जब अन्यार्थ प्रत्यायक हेतु का निबन्धन किया गया हो। विना हेतु के निबन्धन के ही यदि शब्द से विविध अर्थों की प्रतीति होने लगे तो 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' 'धातूनामनेकार्थत्वम्' आदि शब्द शास्त्रियों में प्रसिद्ध मान्यताओं के अनुसार प्रत्येक शब्द से विविध अप्रांसगिक अर्थों की भी प्रतीति होने लगेगी। जो किसी को इष्ट नहीं है। फलतः अन्यार्थ प्रतीति के लिए किसी हेतु का निवन्धन परम आवश्यक है। उसके अभाव में यहां श्लिष्ट शब्द के प्रयोग सम्बन्धी कवि का प्रयास निष्फल ही है।

उपर्युक्त प्रसंग में आचार्य महिमभट्ट ने 'श्वेतो धावति' वाक्य (शब्द तन्त्र) तथा प्रदीप (अर्थतन्त्र) का सादृश्य देते हुए पूर्व पक्ष में तन्त्र शब्द का प्रयोग किया है। समाधान पक्ष में तन्त्र के विषय को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'जहां दीपक की भांति समय स्मृति आदि की आकांक्षा के बिना ही कोई शब्द अनेक अर्थों की प्रतीति कराता है, वहीं तन्त्र का विषय माना जाता है, अन्यत्र नहीं।'[1]

सामान्य रूप से तन्त्र के अतिरिक्त एक शब्द दो अर्थों की प्रतीति नहीं कराता। जहां एक पद से दो अर्थ प्रगट हो रहे हैं, ऐसी प्रतीति होती है वहां प्रत्येक अर्थ का बोधक शब्द भिन्न भिन्न ही होता है। दोनों शब्दों में अति सादृश्य के कारण ही अभेद प्रतीति अर्थात् एक ही पद है यह प्रतीति होती है। और केवल इसी (भ्रम मात्र) के आधार पर किसी शब्द को अनेकार्थक नहीं माना जा सकता। जहां भी अनेक अर्थ प्रतीत होते हैं, वहाँ निश्चित ही समान वर्ण वाले अनेक पद होते हैं। उन अनेक पदों का जब केवल एक बार प्रयोग करते हैं, तो उनकी आवृत्ति के हेतु का निबन्धन अवश्य होता है।

आचार्य आनन्दवर्द्धन तथा लोचनकार अभिनवगुप्त का मत महिम भट्ट की इस मान्यता से सर्वथा भिन्न है। उनके अनुसार जब अभिधा

---

१. तुलनीयः-अनेकोपकारिसकृदुच्चारणं तन्त्रम्। —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचित कामधेनु व्याख्या पृ० १२८

को नियन्त्रित करने वाले हेतु[1] 'संयोग विप्रयोग साहचर्य विरोधिता अर्थ प्रकरण लिंग (चिह्न सहचारि धर्म) अन्य शब्द की सन्निधि सामर्थ्य औचित्य देश काल व्यक्ति (स्त्रीलिंग पुल्लिंग आदि) स्वर आदि नहीं होते वहां अभिधा से ही दो अर्थों की प्रतीति होती है। इसके लिए ध्वनिकार ने :

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजंगहारवलयो गंगाञ्च योऽधारयत्।
यस्याहुःशशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्सः स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदो माधवः।

इस पद्य में स्पष्टतः श्लेष स्वीकार किया है; यद्यपि व्यक्ति विवेककार के अनुसार यहां आवृत्ति का कोई हेतु निबद्ध नहीं है अतः उभयार्थ प्रतीति नहीं होनी चाहिए।

इतना ही नहीं उपर्युक्त मान्यता को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए अभिनव गुप्त ने लिखा है[2] कि—

जहां अनेकार्थक पदों का प्रयोग किया गया है, किन्तु उन अनेकार्थों में किसी एक अर्थ को ही नियन्त्रित करने वाले संयोगादि अभिधा नियामक नहीं है, जैसे—येन ध्वस्तम् इत्यादि उदाहरण में अभिधा-नियामक हेतुओं का प्रयोग नहीं है, किन्तु द्व्यर्थक पद प्रयुक्त हैं, वहां

---

१. अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरंजनम्। कारिका
(वृत्ति) संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।' इत्युक्त दिशा।
—काव्यप्रकाश वामनीय टीका पृ० ६३-६४

२. उभयार्थप्रतिपादनशक्तशब्दप्रयोगे यत्र तावदेकतरविषयनियमनकारणमभिधाया नास्ति यथा 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इति, यत्र वा द्वितीय अभिधाव्यापारसद्भावावेदकं प्रमाणमस्ति, यथा—'तस्या विना' इत्यादौ··· तावत्सोऽर्थो अभिधेय एव इति स्फुटम् अदः।
—ध्वन्यालोक लोचन पृ० ६९

तथा जहां नियामक हेतु अभिधा का नियमन तो करते हैं, किन्तु द्वितीय अभिधा को प्रयुक्त करने वाले प्रमाण विद्यमान है, वहां दोनों ही अर्थ अभिधेय ही होते हैं।

अपनी उक्त मान्यता को और अधिक स्पष्ट करते हुए अभिनव गुप्त ने आगे कहा है कि जहां अभिधा का एकार्थ में नियामक हेतु प्रकरणादि विद्यमान है, जिसके कारण अभिधा द्वितीयार्थ में संक्रान्त नहीं होती है, वहां पर भी यदि ऐसा शब्द प्रयुक्त है कि बाधित अभिधा भी पुनः प्रति प्रसूत होकर कार्यरत हो जाती हो, तो वह भी ध्वनि का विषय नहीं है, अपितु श्लेष का विषय है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं आनन्दवर्द्धन अथवा अभिनवगुप्त पद की आवृत्ति न मानकर एक पद से ही अभिधा द्वारा दो अर्थों की प्रतीति मानते हैं तथा एक पद गत अभिधा शक्ति ही दोनों अर्थों को प्रकट करती है, यदि कहीं वह प्रकरणादि से बाधित हुई तो पुनः प्रतिप्रसव हेतु मिलने पर प्रतिप्रसूत होकर वही अन्य अर्थ की प्रतीति भी कराती है। इसका फल यह होता है कि यदि अभिधा प्रकरणादि से नियन्त्रित न हो रही हो तो किसी वाक्य में आवृत्ति हेतु च आदि का निबन्धन न होने पर भी, एक ही पद से अभिधा द्वारा दो अर्थ प्रतीत हो जाते हैं।

दूसरा वैशिष्टच यह है कि महिम भट्ट के अनुसार आवृत्ति हेतु के निबन्धन होने पर 'येन ध्वस्तमनोभवेन इत्यादि पद्यों में श्लेषार्थ प्रतीति निर्दुष्ट न होगी, जबकि आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त के अनुसार नियन्त्रित अभिधा के अभाव में अनेकार्थ प्रतीति अभिधा द्वारा ही होगी उसके लिए आवृत्ति हेतु अथवा अन्यार्थ प्रत्यायक हेतु के निबन्धन की कोई अपेक्षा नहीं है।

उनके अनुसार अन्य अर्थ के प्रत्यायक अर्थात अभिधा के प्रतिप्रसव के हेतु महिमभट्ट के मत में आवृत्ति हेतु, के निबन्धन की आवश्यकता

---

१. यत्र अभिधाया एकत्र नियमनहेतुः प्रकरणादि विद्यते तेन द्वितीयस्मिन्नर्थे नाभिधा संक्रामति, तत्र द्वितीयोऽर्थोऽसावाक्षिप्त इत्युच्यते। तत्रापि यदि पुनस्तादृक् शब्दो विद्यते येनासौ नियामकः प्रकरणादिरपहृतशक्तिकः सम्पाद्यते, अतएव साभिधा शक्तिर्बाधितापि सती प्रतिप्रसूतैव तत्रापि न ध्वनेर्विषयः'। —वही पृ० ९७-९८

केवल उस स्थिति में ही है, जब अभिधा प्रकरणादि से नियन्त्रित हो, अन्यत्र नहीं।

आचार्य महिमभट्ट क्योंकि अनुमितिवादी हैं, तथा अनुमितिवादी प्रत्येक साध्य के लिए लिंग को अनिवार्य मानता है (शायद योगिप्रत्यक्ष जैसी अलौकिक वस्तु उसके क्षेत्र में प्रवेश ही नहीं कर पाती), इसीलिए वह सामान्य सामाजिक (सहृदय) की प्रतीति पर भी विश्वास नहीं कर पाता। इसीलिए उन्होंने 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादि स्थलों में अर्थान्तर प्रतीति को स्वीकार ही नहीं किया है।[1]

यह निबद्ध हेतु अव्यय इवादि के रूप में अथवा अनव्यय सदृश आदि शब्दों के रूप में विविध प्रकार का प्रयुक्त हो सकता है।

जैसे—

प्रकटकुलिशकुन्तचक्रभास्वत्परबलभीहितमत्तवारणाङ्काः।
दिशि दिशि ददृशे निशान्तपंक्तिः समरविमर्दभुवं विडम्बयन्ती।[2]

इस पद्य में 'विडम्बयन्ती' पद द्वारा व्यतिरेक अलंकार निर्दिष्ट है, वह वाच्य व्यतिरेकालंकार ही श्लेष का हेतु है। इस प्रकार वाच्य हेतु का निबन्धनः होने से यहां वाच्यावचन दोष न होगा।

इसी प्रकार—

उषसि विगलितान्धकारं पंकप्लवशबलं घनवर्त्मदूरमासीत्।
मधुरतरणितापयोगतारं कमलवने मधुपायिनां च पवितः।[3]

इस पद्य में समुच्चयार्थक 'च' अव्यय पद श्लेष प्रतीति का हेतु है। अतः यहां भी वाच्यावचन दोष न होगा।

उपर्युक्त दोनों ही पद्य धर्मरूप श्लिष्ट अर्थ के लिए उदाहृत हैं।

धर्मिरूप और धर्मरूप अर्थ पृथक् पृथक् श्लिष्ट हो सकते हैं, इसे पिछले प्रकरण में देखा जा चुका है। ये दोनों अर्थ परस्पर संश्लिष्ट

---

१. यत्र तु आवृत्तिनिबन्धनगन्धोऽपि न सम्भवति न तत्रार्थान्तरावगतिरिति वृथैव तत्र कवीनामुभयार्थपदोपनिबन्धप्रयासः वाच्यावचनदोष दुष्टत्वात्। तत्र शब्दश्लेषे यथाः 'क्ष्माभर्त्तुरस्य' इत्यादि। यथाच—'येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्'। इत्यादि —व्यक्ति विवेक पृ० ३६४

२. हर विजय २८.१०   ३. वही २८.८२

नहीं हो सकते, इसका कारण यह है कि श्लेष के लिए सादृश्य आवश्यक है तथा दो धर्मों में अथवा दो धर्मियों में तो सादृश्य (उपमानोपमेय भाव) हो सकता है, धर्म और धर्मी के बीच सादृश्य का होना सम्भव नहीं है क्योंकि सादृश्य के लिए दोनों अर्थात् उपमान और उपमेय में समान धर्म होना चाहिए। समान धर्म के बिना सादृश्य सम्भव नहीं है, एवं उपमान धर्मी में विद्यमान धर्म तो उपमेय 'धर्म' का स्वरूप ही है, उस स्वरूप रूप धर्म में उसी धर्म की सत्ता तो असम्भव है फलतः समान धर्म के अभाव में धर्म और धर्मी में सादृश्य (उपमानोपमेय-भाव) सम्भव नहीं है, और सादृश्य के अभाव के कारण ही उनमें धर्म और धर्मी में श्लेष की योजना भी उचित नहीं हो सकती।

अभी पूर्व पृष्ठ में धर्मरूप अर्थ की दृष्टि से आचार्य महिमभट्ट द्वारा उदाहृत पद्य—उषसि विगलितान्धकार इत्यादि में 'घनवर्त्म' पद जहां एक ओर 'भंग' के कारण पूर्व पद 'घन' 'ल' शब्द से मिलकर 'लंघन' पद बन जाता है एवं उस स्थिति में वह 'धर्म' वाचक होता है, दूसरी ओर 'घन' पद मेघ वाचक होने से (तथा वर्त्म' पद के साथ समस्त होकर आकाश रूप) धर्मी का वाचक होता है। इस प्रकार धर्म और धर्मी का उपर्युक्त श्लेष दोष पूर्ण है।

इसीलिए आचार्य महिमभट्ट द्वारा श्लेष के आदर्श उदाहरण के रूप में निबद्ध उक्त पद्य को उनके टीकाकार रुय्यक ने स्पष्ट शब्दों में चिन्त्य माना है।[1]

महाकवि बाण के निम्नलिखित गद्य में भी इसी प्रकार धर्म और धर्मी का श्लेष है। जैसे—

'अनवरतनयनसलिलसिच्यमानस्तरुरिव विपल्लवोऽपि सहस्रधा प्ररोहति'[2]

इस गद्य खण्ड में 'विपल्लव' पद में श्लेष विवक्षित है। किन्तु वह

---

१. अत्र घनवर्त्मशब्दस्योपमेयश्लेषेऽन्तर्भावात् धर्मिधर्मोभयार्थस्योदाहरणत्वे न्याय्ये धर्मार्थस्योदाहरणत्वं चिन्त्यम्। व्यक्तिविवेक व्याख्यान (रुय्यक कृत) पृ० ४०६

२. हर्षचरित पृ० ३८

उचित नहीं है। क्योंकि भले ही विपल्लव शब्द स्थान विशेष में धर्मार्थक तथा स्थानान्तर में धर्म्यर्थक है, किन्तु यहां वह धर्म्यर्थक ही प्रतीत होता है, धर्मार्थक नहीं। यह पद धर्मार्थक केवल उसी स्थिति में होगा, जब वह उपमानभूत तरु का विशेषण हो सके, किन्तु तरु का विशेषण होना आवृत्ति होने पर ही सम्भव है, आवृत्ति के अभाव में यह तरु का विशेषण नहीं बन सकता और इसीलिए धर्मार्थक भी नहीं हो सकता।

क्योंकि यह 'विपल्लव' पद आपत्तिलेशरूप अर्थ के अभिधान के कारण चरितार्थ हो चुका है, तथा 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः'[1] इस सिद्धान्त के अनुसार उसकी पुनः आवृत्ति नहीं हो सकती। आवृत्ति के बिना ही 'विपल्लव' शब्द धर्मरूप अर्थ की प्रतीति करा कर तरु का विशेषण बन सकता है, यह सोचना भी उचित न होगा, क्योंकि उस स्थिति में उपमेय रूप अर्थ की प्रतीति न हो सकेगी, फलतः धर्मिरूप अर्थ का अभाव हो जाएगा। उसके लिए आवृत्ति की अपेक्षा होगी। कहने का तात्पर्य यह है आवृत्ति के अभाव में धर्म और धर्मिरूप अर्थ एक साथ उपस्थित ही न हो सकेंगे, फिर श्लेषालंकार की सत्ता कैसे स्वीकार की जा सकती है।

श्लेष अलंकार के प्रसंग में इतना और स्मरणीय है कि इव आदि अव्यय अथवा सदृश आदि अनव्यय पदों अथवा समासोक्ति आदि अलंकारों के अन्यार्थं बोधक हेतु के रूप में प्रयुक्त होने पर भी केवल अप्रधानार्थ (विशेषणार्थ) अभिधायक पदों की ही आवृत्ति होती है प्रधानार्थ के अभिधायक पदों की नहीं। जो पद एक बार प्रधान अथवा अप्रधान अर्थ की प्रतीति कराते हैं, किन्तु आवृत्ति के बाद क्रमशः अप्रधान अथवा प्रधान अर्थ का प्रत्यायन करा रहे हैं, अर्थात् यदि अर्थ प्रतीति के क्रम में प्रधानार्थ का संस्पर्श भी है, तो उन पदों की आवृत्ति नहीं होती; वहां शब्दतः आवृत्ति करने पर ही श्लेषालंकार होगा, अन्यथा नहीं। यदि प्रधानार्थ संस्पर्श नहीं है, दोनों ही अर्थ विशेषणार्थ ही हैं, तो हेतु का निबन्धन होने पर आवृत्ति होगी ही। जैसे—

'सानुस्थितिर्जनकराजसुतेव भास्व-
दङ्कोल्लपल्लवतया श्रियमेति यस्य।'

---

१. न्याय (प्रसिद्ध वाक्य)

इत्यादि पद्य खण्ड में भास्वदङ्कोल्लपल्लवता' शब्द की आवृत्ति इव पद के निबद्ध होने के कारण हो जाती है। प्रधानार्थ संस्पर्शि अर्थ की प्रतीति के लिए पद का पुनः प्रयोग ही आवश्यक है। इव आदि के प्रयोग के कारण उसकी आवृत्ति नहीं होती और इसीलिए कविगण ऐसे अवसरों पर श्लेष के लिए प्रयास न कर शब्द की पुनः आवृत्ति अवश्य करते हैं। जैसे—

'ब्रघ्नस्येद्धा रुचिर्वो रुचिरिव रुचितस्याप्तये वस्तुनोऽस्तु'

इस पद्य में एक रुचि पद अभिलाषार्थक है तथा द्वितीय दीप्त्यर्थक दोनों ही अर्थ विशेष्य होने के कारण प्रधानभूत हैं, फलतः इव पद के निबद्ध होने पर भी इनकी आवृत्ति प्रधानार्थ संस्पर्शित्वात् सम्भव न थी, यही कारण है कि कवि ने रुचि पद का द्विरुपादान किया है। इसके विपरीत प्रधानार्थ संस्पर्शि अर्थ की पुनः प्रतीति के लिए यदि पद की आवृत्ति न की जाए तो वाच्यावचन दोष होगा। यथा—

'अनवरतनयनसलिलसिच्यमानतरुरिव विपल्लवोऽपि सहस्रधा प्ररोहति।'

इत्यादि उदाहरण में चूंकि विपल्लव शब्द आपदर्थक होने पर प्रधानभूत (विशेष्य भूत) होकर प्रतीत होता है, अतः प्रधानार्थ संस्पर्शित्वात् उसकी इव आदि का निबन्धन होने पर भी आवृत्ति सम्भव नहीं है, उसका द्विरुपादान ही आवश्यक है, जो नहीं किया गया है, अतः यहां वाच्यावचन दोष होगा।

यहां यह आशंका उठाई जा सकती है कि 'अनवरतनयनसलिल' इत्यादि गद्य खण्ड में सादृश्य वाचक इव पद का प्रयोग किया गया है, तथा सादृश्य उभयार्थनिष्ठ होता है, जिनमें उपमान वाचक 'तरु' पद प्रयुक्त ही है, उपमेय वाचक 'विपल्लव' (अल्प आपत्तिवाचक) शब्द भी प्रयुक्त है, किन्तु धर्म प्रतीति के बिना सादृश्य की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः विगत पल्लव रूप तरुधर्म वाचक विशेषण विपल्लव पद को अथवा तरु और विपल्लव के बीच विशेषण विशेष्य भाव की 'इव' पद के प्रयोग के सामर्थ्य से प्रतीति हो जाएगी। फलतः यहां दोष की कल्पना संगत नहीं है।

इस आशंका का समाधान देते हुए आचार्य महिमभट्ट का कहना

है कि 'इव' पद के प्रयोग के सामर्थ्य से 'विपल्लव' पद की आवृत्ति तो तब सम्भव थी, यदि 'इव' पद को सादृश्य वोधन का अवकाश प्राप्त न होता, किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। 'इव' पद तरु तथा विपल्लव के बीच उपमानोपमेय भाव वोधन करके चरितार्थ हो चुका है, अत: तरु धर्म वाचक विपल्लव पद की आवृत्ति अथवा तरु एवं विपल्लव पद में विशेषणविशेष्यभाव के बोधन में उसका सामर्थ्य नहीं है। अत: विशेषणार्थ प्रतीति के लिए विपल्लव पद का द्वि:प्रयोग नितान्त आवश्यक है।

इस प्रसंग में पुन: शंका की जा सकती है कि 'आपद् लेश' अर्थ में प्रयुक्त विपल्लव शब्द से विग्रह भेद से[1] तरु के विशेषण होने योग्य अर्थ की प्रतीति भी सम्भव हो सकती है, साथ ही तरु और विपल्लव शब्द का समान विभक्ति में भी प्रयोग हुआ है, अत: आकांक्षा योग्यता सन्निधिवशात्[2] तरु और विपल्लव में विशेषणविशेष्यभाव रूप अर्थ की भी प्रतीति हो सकेगी, अत: विपल्लव पद के द्वि: प्रयोग की कोई अपेक्षा नहीं है।

किन्तु यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि 'आकांक्षा योग्यता सन्निधि-वशात् विशेषणविशेष्यभाव को प्रतीति में वाक्यभेद अनिवार्य हो जाएगा।[3] एवं आचार्यों ने वाक्य भेद को गौरव के कारण दोष माना है।[4]

इसी प्रसंग में यह कल्पना भी उचित न होगी कि 'यहां विशेषण साम्यवश समासोक्ति अलंकार मानकर समासोक्तिवशात् तरु तथा

---

१. विगत: पल्लवो यस्य स विपल्लव: तरु:। ऐसा विग्रह करने पर

२. (क) आसत्तिर्योग्यताकांक्षातात्पर्यज्ञानमुच्यते। कारणम्...। कारिका आसत्तिज्ञानं, योग्यताज्ञानं, आकांक्षाज्ञानं तात्पर्यज्ञानं च शाब्दबोधे कारणम्। —मुक्तावली पृ० ६१९-६२०

(ख) आकांक्षा योग्यता सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतु:। —तर्क संग्रह शब्द खण्ड

३. विपल्लवस्तरुरिव स च तरुर्विपल्लव:। इस प्रकार दो वाक्य अपेक्षित होंगे।

४. 'सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यते। 'व्यक्ति विवेक व्याख्यान तथा मधुसूदनी टीका से उद्धृत। पृ० ३५३

विपल्लव पद में विशेषणविशेष्यभाव माना जा सकता है,' 'क्योंकि समासोक्ति के लिए केवल विशेषणसाम्य ही अपेक्षित नहीं है, उस में विशेषण साम्यवश अप्रस्तुत अर्थात् उपमान गम्यमान अर्थात् व्यंग्य (अनुमेय) होना चाहिए।'[1] किन्तु प्रस्तुत उदाहरण में तो तरु उपमान स्वशब्दतः कथित है। अतः यहां समासोक्ति अलंकार की सम्भावना ही नहीं हो सकती और इसीलिए उसे हेतुमान कर तरु और विपल्लव पदों के बीच विशेषणविशेष्यभाव भी नहीं माना जा सकता है।

निदान अनेक अर्थों का वाचक मानकर विपल्लव पद का प्रयोग यहां सर्वथा निष्फल है। अतएव यहां दोनों (तरु और विपल्लव) के बीच उपमानेपमेयभाव सलिलसिच्यमानत्व तथा सहस्रधाप्ररोहत्व आदि समान धर्मों के आधार पर ही मानना चाहिए, विपल्लव पद में श्लेष मानकर नहीं। श्लेष प्रतीति तो भ्रान्तिमूलक है। श्लेषालंकार की विवक्षा मानने पर यहां विपल्लव पद का द्विः प्रयोग आवश्यक है, जो नहीं किया गया है, अतः वाच्य का अवचन होने से श्लेषविवक्षा पक्ष में वाच्यावचन दोष होगा।[2]

इसी प्रकार—

'क्वचित् तरुतलविवरवर्त्तिनो बभ्रवः, क्वचित् स्वच्छन्दतृणचारिणो हरिणाः, क्वचिज्जटावल्कलावलम्बिनः कपिलाः।'[3]

---

१. विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः।

—अलंकार सर्वस्व पृ० १०७

२. द्विरुक्ति होने पर भी श्लेषालंकार होगा एतदर्थं व्याक्तविवेक पृ० ३४० तथा मधुसूदनी टीका द्रष्टव्य है। यथा—

'निवन्धनान्तराभावे सत्युपात्तस्यापि शब्दस्य यदेतद् द्विरुपादानं सा श्लेषस्यैवाभिव्यक्तिः। व्यक्ति विवेक पृ० ३४०

'निवन्धनान्तराभावे अन्यालंकाररचनाभावे सति उपात्तस्य खलतामिति शब्दस्य उपमानाभिधायितया यदेतत् खलतामिवेति द्विरुपादानं, साद्विरुक्तिः, श्लेषस्यैव अभिव्यक्तिः तस्य साधिका, न तु तत्र द्विरुपादानस्थले अलंकारान्तरस्य स्पर्शसंभावना। —मधुसूदनी टीका पृ० ३४०

३. हर्षचरित पृ० १२८-१२९

इस वाक्य में प्रासंगिक वन वह्नि के प्रसंग में 'वभ्रु', हरिण, तथा कपिल पद धर्मार्थक है, किन्तु नकुल हरिण (मृग) एवं कपिल मुनि अर्थ बोधन के प्रसंग में धर्मी रूप अर्थ उपस्थित होगा। जैसाकि पूर्व विवेचन किया जा चुका है, श्लेष द्वारा प्रतीत होने वाला अर्थ या तो धर्म रूप होना चाहिए या धर्मिरूप, उभय रूप नहीं। अत: यहां श्लिष्ट अर्थ प्रतीति नहीं हो सकती है। फलतः यहां श्लेषालंकार भ्रान्तिमात्र कृत है।

उपर्युक्त विवेचन शब्द श्लेष के सम्बन्ध में हुआ है। अर्थ श्लेष के प्रसंग में भी उपर्युक्त सिद्धान्त समान रूप से माने जाएंगे। जैसे—

समन्ततः केसरिणं वसन्तम् भीमं च च कान्तं च वपुर्वहन्तम्।
विलोक्य दूरात् तरसाभिमानो दुर्वारणः क्वापि गतः स मत्तः॥

प्रस्तुत पद्य में वसन्त वर्णन प्रस्तुत है जिसके कारण दुर्वारण अभिमान भी निवृत्त हो गया है। इस वसन्त वर्णन के प्रसंग में वसन्त पर केसरी का तथा मान पर दुर्वारण का आरोप अथवा इनके बीच विशेषणविशेष्यभाव निवद्ध है, किन्तु वह उचित नहीं है, क्योंकि वह विशेषण विशेष्य भाव अथवा रूप्यरूपकभाव श्लेष के बिना सम्भव नहीं है, तथा श्लेष धर्मरूप अर्थ अथवा धर्मी रूप अर्थ की प्रतीति में ही होता है, उभयार्थ प्रतीति में नहीं। किन्तु यहां वसन्त पक्ष में केसरी तथा दुर्वारण पद धर्म रूप अर्थ की प्रतीति कराते हैं, जबकि सिंह पक्ष में सिंह तथा दुष्ट हाथी के वाचक होने से धर्मीरूप अर्थ की प्रतीति कराएंगे, पूर्व व्यवस्थानुसार श्लेष में यह कथन भी सम्भव नहीं है।

इसके अतिरिक्त यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि श्लेष द्वारा प्रतीत होने वाला अर्थ प्रधान नहीं होता, सदा विशेषण रूप ही रहता है। प्रधान अर्थ के संस्पर्श होने पर भी श्लेषालंकार न होगा। प्रस्तुत उदाहरण में वसन्त पक्ष में वसन्त ऋतु रूप अर्थ प्रधान है, अप्रधान नहीं। इसीप्रकार सिंह पक्ष में केसरी पद का सिंह रूप अर्थ भी प्रधान ही है, इसी भांति अभिमान पद का अभिमान रूप (गर्वरूप) अर्थ वसन्त पक्ष में प्रधान है, एवं केसरी पक्ष में वारण रूप अर्थ प्रधान है इस कारण भी यहाँ श्लेषालंकार नहीं माना जा सकता।

श्लेषालंकार मानने पर जिन वसन्त, अभिमान, केसरी और वारण पदों से एक पक्ष में विशेष्यार्थ की प्रतीति होती है उन्हीं पदों से अन्य पक्ष में विशेषण रूप अर्थ की प्रतीति स्वतन्त्र रूप से प्रधानतया होती है,

तथा विशेषण रूप में प्रतीति परतन्त्रतया अर्थात् अप्रधानतया होगी। इस प्रकार स्वतन्त्र और परतन्त्र, प्रधान और अप्रधान प्रतीति परस्पर विरोधी हैं, अतः एक पद से दोनों प्रतीतियों का होना सम्भव नहीं है। उभयार्थ प्रतीति के लिए उक्त पदों का द्विः प्रयोग करना नितान्त आवश्यक है। जैसाकि कालिदास कृतः—

अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः कुसुमपंक्तिनिपातिभिरङ्कितः।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव ॥[1]

इस पद्य में उपर्युक्त दोषों के कारण ही एक बार प्रयुक्त तिलक पद से उभयार्थ प्रतीति नहीं हो सकती थी, अतः कवि ने उसका (तिलक पद का) दो बार प्रयोग किया है जो उचित है; किन्तु उपर्युक्त पूर्वपद्य में कवि ने अनिवार्य रूप से आवश्यक होने पर भी वसन्त केसरी, अभिमान और दुर्वारण पदों का द्विः प्रयोग नहीं किया है, अतः वाच्य का अवचन होने से यहां वाच्यावचन दोष होगा।

हां, उस स्थिति में प्रधान और अप्रधान अर्थ की प्रतीति को युक्तियुक्त माना जा सकता है, जब उस प्रतीति के लिए कोई हेतु निबद्ध हो। जैसे—

अतिगभीरे भूपे कूप इव जनस्य निरवतारस्य।
दधति समीहितसिद्धिं गुणवन्तः पार्थिवाः घटकाः ॥[2]

प्रस्तुत पद्य में गुणवन्त तथा घटक शब्द पार्थिव के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हुए धर्मार्थक हैं, तथा कूप पक्ष में वे ही रज्जु तथा ह्रस्व घट के बोधक होने पर समानार्थक हैं, साथ ही पार्थिव का विशेषण होने पर घटक पद अप्रधान (विशेषण रूप) अर्थ का वाचक होता है तथा कूप पक्ष में घटार्थक होकर प्रधान विशेष्य रूप अर्थ का बोधक हो रहा है, जो पूर्व स्पष्ट की गयी व्यवस्था के अनुसार दोषपूर्ण है किन्तु, क्योंकि यहां कूप और भूप के मध्य उपमानोपमेय भाव है, जो उपर्युक्त पदों से अनेक अर्थों की प्रतीति के बिना सम्भव नहीं हो सकेगा, अतः उपमानिबन्धनसामर्थ्यात् उभयार्थ की प्रतीति होगी।

---

१. रघुवंश ९.४१

२. हर्षचरित द्वितीय उच्छ्वास आरम्भ श्लोक पृ० ११२

यहां स्मरणीय है कि प्रस्तुत पद्य में उपमा सामर्थ्य से विशेषण-विशेष्यभाव गुणवन्त और घटक पदों के बीच माना जाएगा पार्थिव और घट के बीच नहीं। क्योंकि उस स्थिति में एक बार पार्थिव अर्थ की प्रधानता और घटक अर्थ की अप्रधानता, तथा द्वितीय पक्ष में पार्थिवार्थ की अप्रधानता और अर्थ घटक की प्रधानतया प्रतीति अपेक्षित होगी, जो दोनों अर्थ परस्पर विरोधी होने से असम्भव हैं। फलतः श्लेष तथा उपमानोपमेयभाव दोनों की सत्ता ही समाप्त होने लगेगी। अतः पार्थिव शब्द की विशेषणत्वेन प्रतीति को इवार्थ सामर्थ्यात् मानना उचित न होगा।

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि—'समन्ततः केसरिणं वसन्तम्' इत्यादि पद्य में वसन्त केसरी अभिमान तथा दुर्वारण पदों के द्विःप्रयोग के अभाव के कारण श्लेष अलंकार न माना जा सकेगा।

उपर्युक्त उदाहरण के प्रसंग में इतना यह भी स्मरणीय है कि वसन्त, केसरी, आदि पदों के द्विः प्रयोग के अनन्तर भी अर्थ श्लेष की कल्पना निर्दोष नहीं मानी जा सकती। क्योंकि उक्त पद्य में 'मत्तः' पद पठित है, जो दोनों अर्थों की प्रतीति के समय समान विभक्तिक न माना जा सकेगा। निदान उपर्युक्त पद्य में श्लेष की कल्पना उचित न होकर भ्रान्तिमूलक है।

आचार्य महिमभट्ट ने यहां वाच्यावचन दोष के प्रसंग में श्लेष अलंकार के उदाहरणों को लेते हुए स्पष्टता के लिए श्लेषालंकार का परिचय भी दे दिया है परिचय के प्रसंग में दिए हुए इस श्लेष लक्षण वाक्य का विश्लेषण यद्यपि दोष विवेचन को दृष्टि विशेष महत्त्व नहीं रखता, फिर भी प्रासंगिक रूप से प्रारम्भ किए गये उस विवेचन को भी हृदयंगम कर लेना अनुचित न होगा।

शब्द श्लेष का लक्षण देते हुए आचार्य महिमभट्ट ने माना है कि श्लेष में 'अन्यून' तथा अनतिरिक्त, अर्थात् पूर्णतः समान शब्दमात्र से दो वस्तुओं के सादृश्य का प्रतिपादन होता है।' यहां आचार्य ने शब्द पद के साथ मात्र पद का प्रयोग किया है, जिसका उद्देश्य यह है कि यदि कहीं दो अर्थों की प्रतीति के अवसर पर भिन्न लिंग, भिन्न विभक्ति, भिन्न वचन की भी प्रतीति हो तो शब्द श्लेष में कोई असुविधा नहीं

होती, केवल उपमानोपमेय भाव के निबन्ध के लिए बोधक किसी हेतु का स्पष्ट निबन्धन होना चाहिए। यही कारण है कि उपमान और उपमेय में विभिन्न लिंग वचन और विभक्ति का प्रयोग होने पर भी शब्द श्लेष रहता ही है।

विगत पृष्ठ ३५१ पर उद्धृत 'उषसि विगलितान्धकारं···' इत्यादि पद्य में उपमेय धनवर्त्म शब्द में नपुंसकलिंगता तथा उपमान 'मधुपायिनां पक्तिः' में स्त्रीलिंगता (अर्थात् दोनों के बीच भिन्न लिंगता) रहने पर भी 'च' शब्द निबन्धन शब्द श्लेष होता ही है।

इसी प्रकार—

विघटिततिमिरौघदिव्प्रबन्धप्रकटनभस्यभवन्निशावसाने।
स्फुटदलनमनाश्च पद्मषण्ढाः सपदि हिमेतरदीधितिश्च तेषाम्।[1]

इस पद्य में च शब्द द्वारा श्लेषार्थ की अभिव्यक्ति हो रही है, फलतः हिमेतर दीधिति तथा पद्मषण्ढ में वचनभेद रहने पर भी उपमानोपमेय भाव और शब्द श्लेष की प्रतीति होती ही है। इस प्रकार श्लेषार्थ के बोधन के लिए 'च' पद का प्रयोग उचित ही है।

इसी प्रकार—

तनुत्वरमणीयस्य मध्यस्य च भुजस्य च।
अभवन्नितरां तस्याः वलयः कान्तिवृद्धये।

इस पद्य में भी 'च' शब्द द्वारा श्लेष अलंकार की प्रतीति होती है। यहां श्लिष्ट 'वलय' पद में 'मध्य' अर्थात् उदर से सम्बन्धित अर्थ की प्रतीति के समय 'वलयः' पद बहुवचनान्त, तथा भुज सम्बन्धि अर्थ की प्रतीति के समय 'वलयः' पद एकवचनान्त माना जाएगा। इसके साथ ही 'अभवन्नितराम्' पद समूह में अभवत् तथा अभवन् पदों की सत्ता होने से इसमें भी वचन श्लेष माना जाएगा। यहां भी च पद का प्रयोग होने से श्लेषालंकार का प्रयोग उचित ही माना जाएगा।

इसी प्रकार—

सरसमन्थरतामरसोदरभ्रमरसज्जलया नलिनी मधौ।
जलधिदेवतया सदृशीं श्रियं स्फुटतरागतरागरुचिं दधौ॥[1]

---

१. हरविजय २८.६५

इस पद्य में अनव्यय 'सदृश' पद निबन्धना श्लेष प्रतीति हो रही है। यहां नलिनी तथा जलधि देवता के बीच उपमानोपमेय भाव भिन्न विभक्तिक होने पर भी प्रतीत हो रहा है। साथ ही तन्मूलक विभक्ति श्लेष की प्रतीति भी होती है। अतः यह भी आदर्शभूत प्रशस्य प्रयोग है। इसके विपरीत जहां समत्वेन प्रतीति होती वहां समत्व अभिधायक पद का प्रयोग न होने पर वाच्यावचन दोष होगा। शब्द श्लेष के प्रसंग में अन्यून तथा अनतिरिक्त शब्दों द्वारा सादृश्य अपेक्षित इसलिए माना गया है कि न्यून अथवा अधिक शब्दों द्वारा सादृश्य कथन करने पर प्रधान विशेषण की उपमान और उपमेय दोनों में समत्वेन प्रतीति न हो सकेगी, अतएव जहां न्यून अथवा अतिरिक्त शब्दों द्वारा सादृश्य का कथन किया जाएगा, वहां प्रधान विशेषण की उपमान और उपमेय दोनों में समान प्रतिपत्ति न होने से श्लेष का प्रयोग उचित न होगा। जैसे—

इह चटुलतया विलोचनौघैः स्फुटशितितारकविभ्रमैस्तरुण्यः।
दधति मधुकरैश्च कोरकान्तस्थितिरमणीयतरैः श्रियं नलिन्यः॥[२]

प्रस्तुत पद्य में कवि ने नलिनियों और तरुणियों के मध्य श्लेष की सहायता से उपमानोपमेय भाव की योजना की है। किन्तु जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है, सादृश्य अन्यून और अनतिरिक्त अर्थाभिधायी शब्दों द्वारा प्रतीत होना चाहिए, अन्यथा प्रधान विशेषण की उपमान और उपमेय में समत्वेन प्रतीति नहीं हो सकती। प्रस्तुत पद्य में प्रधान विशेषण 'स्फुटशितितारकविभ्रम' तरुणियों में विद्यमान है, तो नलिनियों में उसके प्रतिबिम्बरूप मधुकर कोरकान्त स्थिति रमणीय हैं, किन्तु वह स्फुटशितितारकविभ्रमचटुल है, जबकि मधुकर स्थित होने से चटुल नहीं है, अतएव अपेक्षाकृत न्यून है। फलतः इस न्यूनता के कारण उचित रूप से सादृश्य प्रतीति नहीं हो सकती। इस पद्य में 'च' अव्यय आवृत्ति के हेतु के रूप में निबद्ध है।

इसी प्रकार—

दिशि दिशि विहगास्तनूः समन्तादनलसपक्षतयोपचीयमानाः।
उषसि जिगमिषाकुलास्तदानीं दयितवियोगदशाः वधूश्च देहुः॥

इस पद्य में विहग तथा दयितवियोगदशा कर्तृरूप से तथा

शरीरार्थक 'तनू' पद तथा अभिसारिका का वाचक वधूः पद कर्मरूप से निबद्ध है 'देहुः' क्रिया समान रूप से दोनों कर्तृ पदों एवं कर्म पदों से सम्बद्ध है। किन्तु विहग पक्ष में 'देहुः' पद 'एकत्र समवेत हुए' इस अर्थ का बोधक है, दूसरे अर्थात् 'दयितवियोगदशा' पक्ष में 'भूतकालिक दहन क्रिया का। यहाँ दहन क्रिया के कर्त्ता के रूप में दयितवियोग का कथन ही पर्याप्त था और उस स्थिति में ही उपमानभूत विहग कर्त्ता से उसका पूर्ण साम्य सम्भव था, किन्तु दशापद के अतिरिक्त प्रयोग के कारण अधिक अर्थ की प्रतीति होने से प्रधान विशेषण की उपमान और उपमेय में पूर्णतया साम्य प्रतीति न होने से शब्द श्लेष को अधिक युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता है। यदि उपमान 'विहग' में भी संघाः पद का प्रयोग कर दिया जाता, तो यह अतिरिक्तत्व निवृत्त होने पर समतया प्रतीति हो सकती थी, इस प्रकार 'विहगाः' पद के साथ 'संघ' (विहगसंघाः) पद वाच्य था, उसका वचन न होने से वाच्यावचन दोष होगा। इस पद्य में आवृत्ति के हेतु के रूप में 'च' अव्यय का निबन्धन किया हुआ है।

शब्दश्लेष के प्रसंग में इतना और स्मरणीय है कि कर्त्ता कर्म आदि कारकों में विद्यमान प्रधानतया उपनिबद्ध पदों में सादृश्य की योजना करना उचित नहीं होता। क्योंकि ऐसा होने पर उन पदों में से श्लिष्टार्थ का अन्वेषण प्रारम्भ होने पर उनके प्रधान स्वरूप के ही तिरोहित होने की सम्भावना हो जाती है। जैसे—

इह विबुधगजस्य कर्णताल-
स्खलनसमीरविधूतकुम्भधातोः।
वहति मदनदीपरागरक्ता
रतिगृहभित्तिरिव श्रियं परार्घ्याम्॥[1]

इस पद्य में प्रधान तथा कर्त्ता रूप में विवक्षित 'परागरक्ता' विशेषण युक्त 'मदनदी' तथा 'रतिगृहभित्ति' क्रमशः उपमेय और उपमान है। इनमें कर्तृत्वेन विवक्षित उपमेय 'मदनदी' पद अपने विशेषण 'परागरक्ता' पद से संयुक्त होकर श्लेष द्वारा उपमान 'रति-

---

१. हरविजय ५.११

गृहमित्ति' का विशेषण हो जाता है। उस समय 'मदन-दीप-राग-रक्ता' पद कर्तृत्वेन प्रतीत न होकर उपमान के विशेषण के रूप में प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार कर्तृपद श्लिष्ट होकर अपने प्रधान स्वरूप को भी खो बैठता है। अतः प्रधान रूप से वाच्य उपमेय 'मदनदी' रूप अर्थ का श्लेष के कारण प्रधानतया वचन न होने से यहां वाच्यावचन दोष होगा। इस पद्य में 'इव' पद श्लेष के उत्थापन के लिए हेतु के रूप में निवद्ध है। इसीप्रकार—

संग्रामनाटककुतूहलिनां तदानीम्
उत्थापनेन दधतो मुदमुत्तमानाम्।
विस्पष्टभाण्डरुचयोऽतिविचित्ररूपाम्
लक्ष्मीं दधुर्जवनिकामहितास्तुरंगाः॥

इस पद्य में संग्राम पर नाटक का आरोप होने से रूपक अलंकार है तथा उक्त रूपक से ही श्लेष की उत्थापना होगी। यहां प्रधानतया कर्त्तृत्वेन विवक्षित (उपमान और उपमेय भूत) रंग और तुरंग पद में शब्दसादृश्य उपकल्पित है अर्थात् उपमान और उपमेय रंग और तुरंग रूप अर्थ श्लिष्ट है, क्योंकि उनकी प्रतीति आवृत्ति पर निर्भर है, फलतः श्लेष वश उनके प्रधान स्वरूप का अपहार हो जाता है। यहां दधुःक्रिया के कर्त्तृभूत 'रंग' और 'तुरंग' अर्थ प्रधानतया अभिधेय थे किन्तु श्लेषवश उनका अप्रधानतया कथन होने के कारण प्रधानतया कथन नहीं हो रहा है, अतः यहां वाच्यावचन दोष माना जाएगा। इसी प्रकार—

अबन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदाम्
भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना
न जातहार्देन न विद्विषादरः॥[1]

इस पद्य में कर्ता के रूप में प्रधानतया विवक्षित भयार्थक 'दर' पद तथा सम्मानार्थक 'आदर' पद परस्पर संश्लिष्ट है,[2] किन्तु परस्पर

---

१. किरातार्जुनीय सर्ग २

२. विद्विषा विशिष्टद्विषा शत्रुणा दरः भयम् न, तथैव विगतद्विषा मित्रेण आदरः न इत्यर्थः।

श्लिष्ट होने के कारण इनके प्रधान स्वरूप का ही अपहार उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार प्रधानतया वाच्य का प्रधानतया कथन न होने से यहां वाच्यावचन दोष होगा। यहां नञ् का दो बार प्रयोग श्लेष प्रतीति का हेतु है।

उपर्युक्त समस्त उदाहरणों में प्रधानतया विवक्षित कर्तृपद के प्रधान स्वरूप के अपहार के कारण प्रधानतया प्रतीति में बाधा पड़ती है। अतः यहां वाच्यावचन दोष माना जाएगा।

निम्नलिखित पद्य में प्रधानतया विवक्षित कर्म पद का श्लेष है, अतः उसके प्रधान स्वरूप का अपहार होने से वाच्यावचन होगा।

कुन्तालीभिर्युधमिव गहनामेताम्
आसाद्योच्चैश्शितशरशतसंकीर्णाः।
अस्मिन्नानाफलकवलनसंसक्ता
वलगन्त्येते दिशि दिशि हरिसैन्यौघाः॥[1]

इस पद्य में इव पद द्वारा युद्ध और कु (पृथिवी) के बीच उपमानोपमेत भाव प्रकट हो रहा है, तथा इसी उपमा द्वारा श्लेष की अभिव्यक्ति हो रही है। एवं श्लेष द्वारा आसाद्य क्रिया के कर्म, पृथिवी रूप अर्थ की 'कु' पद द्वारा प्रतीत होती है, उपमेय होने के कारण यह अर्थ प्रधानतया विवक्षित है। किन्तु श्लेष अलंकार के कारण यह अर्थ प्रधानतया कथित नहीं हो रहा है, इस प्रकार यहां वाच्यावचन दोष विद्यमान है। प्रधानतया विवक्षित क्रिया भी श्लेषालंकार द्वारा अभिहित होने के कारण जहां अप्रधानत्व को प्राप्त हो रही हो, वहां भी वाच्यावचन दोष माना जाएगा। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है—

कुसुमैः कृतवासनः समन्तादपनिद्रत्वमुपेयिवद्भिरस्मिन्।
श्रुतिमन्त्रगणाभिरामरूपैर्नववौषट्पदशोभिभिः समीरैः॥[2]

प्रस्तुत पद्य में कुसुम के लिए 'श्रुतिमन्त्रगण-अभिरामरूप' विशेषण दिया है तथा मन्त्रगण के लिए 'नव वौषट्पदशोभि' पद विशेषण के रूप में प्रयुक्त है तथा वाक्य में प्रधानभूत क्रिया 'ववौ' उक्त विशेषण के

---

१. हरविजय ५.३५ २. वही ५.७३

मध्य श्लिष्टतया निविष्ट है। आवृत्ति के द्वारा ही उसकी प्रतीति होती है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार यहां प्रधानतया विवक्षित क्रिया पद का अप्रधान रूप से कथन होने से वाच्यावचन दोष माना जाएगा।

इस प्रकार शब्दश्लेष की योजना करते हुए प्रधानतया विवक्षित कर्तृ पद कर्मपद तथा क्रियापद आदि में शब्द के सादृश्य का निबन्धन अर्थात् इनमें शब्दश्लेष की योजना उचित नहीं है। ऐसा होने पर इस प्रकार के काव्य में वाच्यावचन दोष उपस्थित हो जाता है।

आचार्य महिमभट्ट ने उपर्युक्त मान्यता के सम्बन्ध में कारण देते हुए कहा है कि 'शब्दश्लेष अलंकार में 'च' 'इव' आदि अव्यय पद सदृश आदि अनव्यय पद तथा उपमा रूपक समासोक्ति आदि अलंकारों को आवृत्ति का हेतु मान कर जब किसी पद की आवृत्ति करना चाहते हैं, उस स्थिति में सम्पूर्ण पद की ही आवृत्ति अभीष्ट होती है, पदांश की नहीं, जबकि उपर्युक्त उदाहरणों में 'मदनदीप-रागरक्ता' इस पद में हमें 'मदनदी' इस पदांश की ही 'वहति' क्रिया के कर्त्ता के रूप में अपेक्षा होती है, तथा 'रतिगृहभित्ति' के विशेषण के लिए समस्त पद की आवृत्ति अपेक्षित होती है।

पदांश की आवृत्ति के निषेध का कारण यह है कि पद की भांति पदांश के अर्थ को कहीं भी स्वीकार नहीं किया गया है।[1] यदि पदच्छेद विशेष के आधार पर पदांश को एक पद मान कर अर्थ करने का प्रयत्न किया जाता है, तो पदच्छेद से पूर्व ग्रहण किया जाने वाला अर्थ तिरोहित होने लगता है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण 'मदनदीपरागरक्ताः' पद में केवल 'मदनदी' पदांश ही कर्तृत्वेन विवक्षित है, किन्तु पदांश में शक्ति स्वीकार नहीं की गई है अतः 'मदनदोप' पदांश सार्थक न हो सकेगा। इस स्थिति में 'वहति' क्रिया के कर्तृत्व का अपहार स्वाभाविक ही है और यदि 'मदनदी' पदांश को एक पद मानकर अर्थ करना चाहेंगे तो 'मदनदीपरागरक्ताः' यह अर्थ नष्ट होने लगेगा। अतः पदांश की आवृत्ति को उचित नहीं माना जाता और इसीलिए प्रधानतया विवक्षित कर्तृ कर्म और क्रिया आदि पदों को श्लेषगत करना दोषपूर्ण माना जाता है।

---

१. वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा—स्फोट प्रकरण

कर्त्ता कर्म आदि का भी श्लिष्ट प्रयोग उस स्थिति में उचित माना जा सकता था यदि आवृत्ति की अपेक्षा न होती एवं एक पद से ही अनेक अर्थों की प्रतीति होती। इस स्थिति में लाघव के कारण ऐसे यथेच्छ अर्थ प्रयोग भी सराहनीय हो सकते थे। किन्तु अनेक अर्थों की प्रतीति के लिए आवृत्ति आवश्यक है, क्योंकि एक पद अपनी अभिधा शक्ति के बल से एक अर्थ के ही अभिधान में समर्थ है, अनेक अर्थों के अभिधान में नहीं, यह पहले सिद्ध किया जा चुका है। फलतः हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि शब्द श्लेष के प्रसंग में प्रधानतया विवक्षित कर्त्तृ कर्म तथा क्रिया पदों का श्लिष्ट निबन्धन उचित नहीं है। श्लेष होने पर वाच्यावचन एवं अवाच्यवचन दोष अपरिहार्य रूप से उपस्थित होगा।

वाच्यावचन-अवाच्यवचन दोष विवेचन के प्रसंग में प्रासंगिक रूप से श्लेषालंकार की चर्चा करते हुए हमने देखा है कि जहां उभयार्थक पदों की आवृत्ति के लिए 'च', 'इव' आदि अव्यय 'सदृश' आदि अनव्यय अथवा समासोक्ति आदि अलंकारों का निबन्धन है, ऐसे काव्य को आचार्य महिमभट्ट श्लेष अलंकार का निर्दुष्ट उदाहरण मानते हैं। जिन स्थलों में आवृत्ति के हेतु का निबन्धन नहीं है, वहां वाच्यावचन दोष की सत्ता आचार्य महिमभट्ट ने मानी है, उनके अनुसार जब तक आवृत्ति के हेतु का निबन्धन न किया जाए, तब तक इस प्रकार के पद्यों में उभयार्थ की प्रतीति न होगी।

ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य आनन्दवर्द्धन के अनुसार जहां आवृत्ति के हेतु का निबन्धन है, वहां तो श्लेष अलंकार है ही। इसके अतिरिक्त जहां अभिधा के नियामक प्रकरण आदि अभिधा का नियमन नहीं करते, वहां भी श्लेष अलंकार होगा, इससे भिन्न स्थलों पर शब्दशक्तिमूलाध्वनि होगी।

इस अन्य अर्थ को ध्वनि अथवा व्यंजना प्राप्त अर्थ इसलिए कहा जाता है कि इसकी प्रतीति साक्षात् अभिधा और लक्षणा व्यापार द्वारा नहीं होती अथवा दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रकरणादि से नियन्त्रित होने के कारण जब अभिधा एक अर्थ का वोधन कर विरत हो चुकी है, अन्य कोई ऐसा साधन निबद्ध नहीं है कि उसका प्रत्युज्जीवन किया जा सके, लक्षणा की परिस्थिति नहीं है, ऐसी स्थिति

में प्रतीत अर्थ को व्यंग्यार्थ अथवा ध्वनि कहना ही उचित होगा।

इस ध्वनि को, व्यंग्यार्थ को, शब्दशक्तिमूलक इसलिए कहा जाता है कि यहां ऐसे शब्दों का निबन्धन है, जो अन्यार्थ के भी अभिधायक हैं। अन्यार्थाभिधायक शब्दों का निबन्धन ही अन्यार्थ प्रतीति के लिए सहृदय सामाजिक को प्रेरित करता है, अतः इसे शब्दशक्तिमूलाध्वनि संज्ञा दी गयी है।

आनन्दवर्द्धन अथवा उनके टीकाकार अभिनवगुप्त के अनुसार अन्यार्थ प्रतीति के लिए शब्द की आवृत्ति अपेक्षित नहीं होती, अपितु अन्यार्थ ध्वनित होता है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की व्याख्या लोचन में अन्यार्थ प्रतीति के क्रम के सम्बन्ध में निम्नलिखित मतों चर्चा की है—

१. कुछ लोगों का मत है कि क्योंकि इन शब्दों में अन्य अर्थ के प्रसंग में अभिधा का व्यापार देखा जा चुका है, अतएव उस अर्थान्तर में दृष्ट शक्ति वाले शब्दों द्वारा पाठक को व्यंजना व्यापार से अन्यार्थ की प्रतीति होगी। क्योंकि प्रत्येता को इन शब्दों से केवल उन्हीं अर्थों का बोध होता है, जिनका कि वह अभिधा द्वारा साक्षात्कार अन्यत्र कर चुका है तथा जो अर्थ उसके अन्तर्मानस में पूर्व से विद्यमान हैं, जैसे विभावादि द्वारा मानस गत रति आदि भाव व्यंजित होते हैं, उसी प्रकार पाठक जब पुनः पूर्व ज्ञात शब्दों को सुनता है, तब उसके मानस में अन्यार्थ रूपी सुप्त संस्कार व्यंजित हो जाते हैं। इस प्रकार अन्यार्थ प्रतीति में व्यंजना व्यापार ही कारण होता है।[1]

२. वह अभिधा ही प्राकरणिक अर्थ से सादृश्य रखने वाले अन्यार्थ को व्यक्त करती है, क्योंकि यह अर्थ प्रकरणादिवशात् प्रधानत्व को

---

१. अत्र ऋतुवर्णनप्रस्तावेन नियन्त्रिता अभिधाशक्तयः। अतएव 'अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी' इतिन्यायमापाकुर्वन्तो महाकालप्रभृतयः शब्दा एकमेवार्थमभिधाय कृतकृत्या एव। तदनन्तरमर्थावगतिर्ध्वननव्यापारादेव शब्दशक्तिमूलात्।

तत्र केचिन्मन्यन्ते—'यत एतेषां शब्दानां पूर्वमर्थान्तरेऽभिधान्तरं दृष्टं तत-स्तथाविधेऽर्थान्तरे दृष्टतदभिधाशक्तेरेव प्रतिपत्तुर्नियन्त्रिताभिधाशक्तिकेभ्यः एतेभ्यः प्रतिपत्तिर्ध्वननव्यापारादेवेति। शब्दशक्तिमूलत्वं व्यंग्यात्मकत्वं चेत्यविरुद्धम्।'

—ध्वन्यालोक लोचन पृ० १२०

प्राप्त नहीं कर पाता, अतः इसे ही ध्वन्यार्थ ही कह दिया जाता है ।[1]

३. इस मत के अनुसार शब्दश्लेष में अर्थ भेद के कारण तथा शब्दार्थ श्लेष में शक्ति भेद के कारण द्वितीय शब्द की उपस्थिति हो जाती है एवं द्वितीय शब्द से अन्यार्थ की प्रतीति उसी प्रकार होती है, जैसे दो प्रश्नों का एक साथ उत्तर देते हुए व्यक्ति कहता है 'श्वेतो धावति'। इस एक उत्तर को सुनते ही एक प्रश्नकर्ता 'कः धावति' प्रश्न का उत्तर पा लेता है कि श्वेत वर्ण वाला पुरुष दौड़ रहा है। वहीं पार्श्व स्थित द्वितीय पुरुष 'श्वा कुत्र अस्ति ?' इस प्रश्न का उत्तर' श्वा इतः धावति' कुत्ता इधर (यहां से) भाग रहा है उत्तर पा जाता है एव दोनों में ही अभिधा व्यापार कार्य करता है। उसी प्रकार यहां भी उभयार्थ की प्रतीति अभिधा व्यापार से ही होगी। किन्तु यहां अन्य शब्द की उपस्थिति प्रतीयमान है, अतः इसे ध्वनि ही कहा जाएगा।[2]

४. क्योंकि निबद्ध शब्दों से अन्य अर्थ की प्रतीति पाठक अन्यत्र कर चुका है, अतः उक्त शब्दों के प्रयोग के सामर्थ्य से ही अन्य अभिधा प्रतिप्रसूत होकर उन्हीं शब्दों से अन्य अर्थ की प्रतीति कराती है। वह द्वितीय अर्थ भी अभिहित ही होता है, ध्वनित नहीं होता। वह प्रतिपन्न द्वितीय अर्थ प्रथम प्राकरणिक अर्थ के साथ जो संगति प्राप्त करता है उससे उपमा आदि अलंकार ध्वनित होते हैं।[3]

---

१. अन्येतु—साभिधैव द्वितीयार्थसामग्र्यं ग्रीष्मस्य भीषणदेवताविशेषसादृश्यात्मकं सहकारित्वेन यतोऽवलम्ब्यते ततो ध्वननव्यापाररूपोच्यते' इति
—वही पृ० १२१

२. एके तु शब्दश्लेषे तावदर्थभेदे (तावद्भेदे ?) सति शब्दार्थश्लेषे अपि शक्तिभेदाच्छब्दभेद इति दर्शने द्वितीयः शब्दस्तत्रानीयते। स च कदाचिदभिधाव्यापारात् यथोभयोत्तरदानाय 'श्वेतो धावति' इति प्रश्नोत्तरादौ वा। तत्र शब्दान्तरबलादपि तदर्थान्तरं प्रतिपन्नं प्रतीयमानमूलत्वात्प्रतीयमानमेव युक्तम् इति।
—वही पृ० १२१

३. इतरेतु—द्वितीयपक्षव्याख्यातं यदर्थसामर्थ्यं तेन द्वितीयाभिधैव प्रतिप्रसूयते, ततश्च द्वितीयोऽर्थोभिधीयते एव न ध्वन्यते, तदनन्तरं तु तस्य द्वितीयार्थस्य प्रतिपन्नस्य प्रथमार्थेन प्राकरणिकेन साकं रूपणा तावद्भात्वेव न चान्यतः शब्दादिति सा ध्वननव्यापारात्। तत्राभिधाशक्तेः कस्याश्चिदप्यनाशंकनीयत्वात्। तस्यां च द्वितीयशब्दशक्तिर्मूलम्। तयाविना तस्यारूपणाया अनुत्थानात्, अतएवालंकार ध्वनिरित्युक्तम्।वक्ष्यते च असम्बद्धार्थाभिधायकत्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यादि। —ध्वन्यालोक लोचन पृ० १२१

उपर्युक्त अनेक मतों की चर्चा करते हुए अभिनवगुप्त ने किसी पक्ष विशेष का समर्थन नहीं किया है, किन्तु व्यंजना व्यापार की प्रक्रिया से साम्य तथा प्रथम निदर्शन के आधार पर हमारा अनुमान है कि वे प्रथम पक्ष के ही समर्थक हैं।

श्लेष अलंकार और शब्दशक्तिमूलाध्वनि का अन्तर दिखाते हुए आचार्य आनन्दवर्द्धन ने अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, प्रस्तुत प्रकरण में आचार्य महिमभट्ट ने भी उन उदाहरणों में से शब्द शक्तिमूलाध्वनि के उदाहरणों का खण्डन तर्कपूर्वक किया है, इनके अनुसार शब्दशक्ति-मूलाध्वनि के अनेक उदाहरण वाच्यश्लेष के अन्तर्गम समा जाते हैं, तथा कुछ वाच्यावचन दोष के उदाहरण के रूप में शेष रह जाते हैं, महिमभट्ट के अनुसार ऐसे दोषपूर्ण काव्य को ध्वनि संज्ञा देकर उत्तम काव्य की कोटि में रखना कभी भी उचित नहीं है। जैसे—

'यत्र च मातगंगामिन्यः शीलवत्यश्च, गौर्यो विभवरताश्च, श्यामाः पद्मरागिण्यश्च, धवलद्विजशुचिवदना मदिरामोदिनिश्वसिताश्च प्रमदाः।"[1]

हर्षचरित से उद्धृत इस वाक्य के सम्बन्ध में आचार्य आनन्दवर्द्धन का कहना है कि यहां श्लिष्टार्थ को प्रतीति विरोधालंकार के कारण होगी, किन्तु विरोधालंकार में विरोध पद, अथवा विरोध वाचक 'अपि' अव्यय का निबन्धन होना चाहिए, ऐसा होने पर यहां वाच्य विरोधा-लंकार एवं तन्मूलक श्लेषालंकार होता। किन्तु कवि ने न तो विरोध पद का निबन्धन किया है और न ही तदभिधायक 'अपि' अव्यय का। अतः यहां शब्दतः विरोध अलंकार की प्रतीति न होगी, किन्तु उभयार्थक पदों की योजनावश विरोध की व्यंजना होगी; अतः यहां विरोधालंकार ध्वनि (शब्दशक्तिमूला अलंकार ध्वनि) होगी।[2]

---

१. मूल हर्षचरित में—व्यक्ति विवेक तथा ध्वन्यालोक में दिए गए उदाहरणों 'निश्वसिताश्च' से भिन्न 'निःश्वसनाः' पाठ प्राप्त होता है।

२. अत्रहि वाच्यो विरोधस्तच्छायानुग्राही वा श्लेषोऽयमिति न शक्यं वक्तुम्। साक्षाच्छब्देन विरोधालंकारस्याप्रकाशितत्वात्। यत्र हि साक्षाच्छब्दा-वेदितो विरोधालंकारस्तत्र हि श्लिष्टोक्तौ वाच्यालंकारस्य विरोधस्य श्लेषस्य वा विषयत्वम्। यथा तत्रैव—"समवाय इव विरोधिनां पदार्था-नाम्। तथाहि सन्निहितबालान्धकारापि भास्वन्मूर्त्तिः। इत्यादौ।
ध्वन्यालोकपृ० १७७-१७८ दिल्ली संस्करण

आचार्य महिमभट्ट इस उदाहरण के प्रसंग में ध्वनिकार के पक्ष का स्पष्ट विरोध करते हुए कहते हैं कि यह उदाहरण तो वाच्य विरोधालंकार का है, विरोध तथा अपि पद का निबन्धन भले ही यहां न हो किन्तु विरोधार्थाभिधायक 'च' अव्यय का निबन्धन तो यहां है ही। अतः विरोध की वाच्यता में यहां कोई सन्देह नहीं हो सकता।

'च' अव्यय की विरोधाभिधायकता के प्रसंग में यहां उन्होंने महाभारत के निम्नलिखित पद्यांश को उद्धृत किया है—

'घृणी कर्णः प्रमादी च तेन मेऽर्धरथोमतः।'

जिसमें विरोधार्थक घृणी और प्रमादी पदों का संयोजन (विरोधाभिधान) 'च' पद द्वारा किया है।[1]

इस प्रकार आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि 'उपर्युक्त तथा इसी प्रकार के अन्य प्रयोगों के आधार पर 'अपि' अव्यय की भांति ही 'च' अव्यय भी विरोधाभिधायक है' यह सिद्ध होता है।

फलतः प्रस्तुत उदाहरण 'यत्र च मातङ्गगामिन्यः' इत्यादि में विरोध साक्षात् शब्द प्रदर्शित नहीं है ध्वनिकार का यह कथन अनुचित है। साक्षात् शब्द निवेदित होने से यहां विरोधालंकार वाच्य है तथा उस विरोधालंकार रूप निबद्ध हेतु के आधार पर श्लेषालंकार भी वाच्य है। ध्वनिकार यहां शब्द शक्तिमूलाध्वनि की सत्ता मानते हैं। इसीप्रकार—

खं येऽभ्युज्ज्वलयन्ति लूनतमसो ये वा नखोद्भासिनः
ये पुष्णन्ति सरोरुहश्रियमधिक्षिप्ताब्जभासश्च ये।
ये मूर्धस्ववभासिनः क्षितिभृतां ये चामराणां शिरां-
स्याक्रामन्त्युभयेऽपि ते दिनपतेः पादाः श्रिये सन्तु वः।[2]

ध्वनिकार के अनुसार यहां भी व्यतिरेक साक्षात् शब्द निवेदित नहीं है, अतः यह पद्य भी शब्दशक्तिमूल व्यतिरेकालंकार ध्वनि का

---

१. घृणी दयालुः प्रमादी असावधानः। यो हि दयालुः भवति स कदाचिदपि मम कृत्येन कस्यापि पीडा स्यादिति सततमप्रमत्तो भवति, इति घृणित्वप्रमादित्वयोरसामानाधिकरण्येन विरोधः तं 'च' शब्द आवेदयति इह व्यासवाक्ये।
—व्य० वि० मधुसूदनी टीका पृ० ३६२

२. ध्वन्यालोक, पृ० १०१-१०२,

उदाहरण है।

आचार्य महिमभट्ट ने ध्वनिकार के उक्त तर्क का खण्डन करते हुए लिखा है कि क्योंकि यहां रश्मि तथा अंगुलि आदि अवयव दोनों के लिए पृथक् पृथक् विशेषण निबद्ध हुए हैं, अतः दोनों में '(उपमान और उपमेयभूत अंगुल्यादि अवयव तथा रश्मि में) भिन्न भिन्न वैशिष्ट्य भेद के बिना सम्भव नहीं है। इस प्रकार व्यतिरेक के लिए अपेक्षित भेद का प्राधान्य तथा उपमान में उपमेय की अपेक्षा वैशिष्ट्य पर अधिकता, अथवा न्यूनता तत्त्व'[1] यहां शब्दतः अभिहित हो जाते हैं, अतः यहां व्यतिरेक की व्यंजना की अपेक्षा ही नहीं है, वह शब्दतः ही प्रतीत होगा, तथा व्यतिरेकमूलक श्लेष की भी प्रतीति हो जाएगी, निदान यहां शब्दशक्तिमूलाध्वनि नहीं, अपितु वाच्य व्यतिरेक अलंकारमूलक श्लेष अलंकार ही विद्यमान है।

उपर्युक्त उदाहरण में भिन्न-विशेषणत्व को हम व्यतिरेक का हेतु इसलिए कहते हैं कि उपमेय और उपमान होने के लिए अभिन्न (अर्थात् सामान्य) विशेषणों का निबन्धन किया जाए तो उपमेय से उपमान में वैशिष्ट्य की प्रतीति न होकर सादृश्यमात्र की ही प्रतीति होगी। जैसाकि निम्नलिखित पद्य में देखा जा सकता है।

> 'भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
> ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतै र्नीते हितप्राप्तये।
> लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीं दृशोस्तन्वती
> युष्माकं कुरुतां भवार्त्तिशमनं नेत्रे तनु र्वा हरेः॥'[2]

इस पद्य में नेत्र और तनु दोनों के लिए समान विशेषण दिए गए हैं जिसके फलस्वरूप दोनों में साम्य की प्रतीति होती है। एवं विकल्पार्थक वा शब्द के प्रयोगवश वाच्य विकल्प अलंकार विद्यमान है। प्राचीन आचार्य इसे विरोध नाम देते हैं। यही विकल्प अलंकार प्रस्तुत पद्य में श्लेषालंकार का हेतु बनेगा। जहां भिन्न विशेषणों द्वारा उपमान

---

१. भेद प्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः।
—(रुय्यक) अलंकार सर्वस्व पृ० १०१

२. भागवतामृतवर्द्धन सुभाषितावलि में संकलित

और उपमेय में (तनु और नेत्र दोनों में) परस्पर वैशिष्ट्य की प्रतीति होती हो, वहां वैशिष्ट्य प्रतीति के कारण व्यतिरेक अलंकार माना जाएगा।

इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि 'खं येऽभ्युज्वलयन्ति' इत्यादि पद्य में व्यतिरेक अलंकार भिन्न विशेषणत्व के कारण ही है, ध्वनिमूलक नहीं तथा वही श्लेष अलंकार की प्रतीति का हेतु भी है।

कभी कभी श्लेष अलंकार की प्रतीति अन्योच्चरित वचनों से भी हो जाती है ऐसी स्थिति में भी वाच्यावचन दोष न होगा। यथा—

रक्तप्रसादितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥[1]

इस पद्य में कुरुराज सुतों के सभृत्य स्वास्थ्य लाभ के प्रसंग में नियन्त्रित अभिधा द्वारा प्रथमपंक्ति द्वारा 'अनुरागवश भूमण्डल (वासियों) को सन्तुष्ट करने वाले तथा नष्ट कलह वाले' अर्थ की ही प्रतीति होती है। किन्तु इसी प्रसंग में भीमसेन को सान्त्वना देते हुए सहदेव का कथन—'आर्य मर्षय मर्षय। अनुमतमेव नो भरतपुत्रस्यास्य वचनम्'[2] द्वितीय भिन्न अर्थ की प्रतीति करा देता है।[3] इस प्रकार यहां अन्यवचन ही श्लेष प्रतीति का हेतु है, अतः यहां वाच्यावचन दोष न होगा।

कहीं कहीं श्लेष की प्रतीति प्रतीयमान अर्थ द्वारा भी हो जाती है। यथा—

आलिंगनादरचितस्थितिराबभौ या
पत्युर्विकासिपरिखाजलनीविबन्धा।
विस्तारिसालजघनं परिवर्त्तमान-
नक्षत्ररत्नरशनागुणमुद्वहन्ती ॥[4]

---

१. वेणीसंहार अंक १ पद्य ७ पृ० १५
२. वही पृ० १८-१९
३. रक्तसे भूमि को सिंचित कर देने वाले तथा नष्ट सेना वाले कौरव सानुचर स्वस्थ अर्थात् आत्मलीन हो जाएं अर्थात् मृत्यु को प्राप्त करें।
४. हरविजय १.३३

प्रस्तुत पद्य में नगरी के धर्मविकासि परिखाजल, विस्तारिसाल, तथा परिवर्त्तमान नक्षत्र' पर क्रमशः नायिकोचित गुण नीविबन्ध, विस्तारिजघन, तथा परिवर्तमान रसनागुण का आरोप किया गया है। फलतः काव्यानुमिति (व्यंजना) द्वारा नगरी पर नायिकात्व का आरोप भी होगा, इस प्रकार प्रतीयमान नायिकार्थ को हेतु मान कर यहां श्लेष की प्रतीति होगी।[1] फलतः यहां भी वाच्यावचन दोष न हो सकेगा।

इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं श्लेष द्वारा जहां अन्यार्थ प्रतीति श्लिष्ट पदों की आवृत्ति पूर्वक होती है, उन पदों की आवृत्ति के हेतु 'च' आदि अव्यय पद, 'सदृश' आदि अनव्यय पद उपमा समासोक्ति विरोध व्यतिरेक आदि अलंकार अथवा प्रतीयमान अर्थ' आदि अनेक हेतु हो सकते हैं। जिन स्थलों में आवृत्ति के किसी हेतु का निबन्ध कथमपि दृष्टिगत नहीं होता, किन्तु अर्थान्तर की प्रतीति हेतु' उभयार्थक पदों का प्रयोग है, वहां वाच्यावचन दोष माना जाएगा। अन्यथा अर्थात् दो अर्थों की विवक्षा स्वीकार न करने पर ऐसे पद्यों में कवि द्वारा उभयार्थक पदों का निबन्धन व्यर्थ होगा।

इस प्रसंग में महिमभट्ट ने आचार्य आनन्दवर्द्धन द्वारा ध्वन्यालोक में उद्धृत अनेक पद्यों को उद्धृत किया है तथा ध्वनिकार द्वारा श्लेषालंकार की स्वीकृति की आलोचना की है। ध्वनिकार की मान्यता है कि दो वस्तु रूप अर्थों की शब्द शक्ति द्वारा प्रतीति होने पर श्लेष अलंकार होगा।[2]

इनकी इस व्यवस्था के अनुसार—

क्ष्माभर्त्तुरस्य विकटः कटकः सपोलु-
पालीकुलस्सहरिसैन्यशतावमर्दः ।
लक्ष्मीं विलासघटनां नयति व्यपास्त
नानाधिकामचरमागधराजितश्रीः ॥

---

१. 'आलिंगनार्थ आदर से कृतस्थिति वाली, विकासिपरिखा जलवत् स्थिति वाली, विस्तारिसालवृक्षसदृश जघनस्थलवाली, परिवर्त्तमान नक्षत्रों सदृश रत्नों से निर्मित रशना (कटिसूत्र) धारण करने वाली यह नायिका यह अर्थ श्लेष द्वारा प्रतीत होगा।

२. वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः। —ध्वन्यालोक पृ० १६४

प्रस्तुत पद्य में 'नयति' क्रिया के कर्त्ता कटक पद तथा उसके समस्त विशेषण द्व्यर्थक हैं। एक अर्थ कटक पद के 'सेना' अर्थ के लिए प्रवृत्त होता है, दूसरा अर्थ पर्वत के नितम्ब प्रदेश को लेकर। किन्तु इस पद्य में कटक अथवा उसके विशेषण पदों की आवृत्ति के लिए किसी हेतु का निबन्धन नहीं है। अतः महिमभट्ट के अनुसार यहां श्लेष अलंकार के लिए पदों की आवृत्ति के हेतु का निबन्धन न होने से वाच्यावचन दोष मानना चाहिए।

ध्वनिकार के अनुसार उभयार्थक पद क्योंकि अन्यार्थ प्रतीति के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं, अतः अन्य अर्थ की प्रतीति हेतु आवृत्ति के लिए किसी हेतु के निबन्धन की आवश्यकता नहीं होती। अतः दोनों अर्थ किये जाने चाहिए तथा दोनों अर्थ क्योंकि न तो रसादि रूप हैं और न अलंकाररूप, अपितु वस्तु रूप हैं; अतः प्रकाश्यमान उभयार्थ के वस्तु रूप होने से यहां श्लेष अलंकार माना जाएगा।

पूर्व पृष्ठों में श्लेष अलंकार के प्रसंग में उपस्थित होने वाले वाच्यावचन दोष का दिग्दर्शन कराया गया है। इसी प्रकार अन्य अलंकारों में भी वाच्य के अवचन से उक्त दोष हो सकता है, उदाहरणार्थ उपमा अलंकार में सामान्य धर्मी का अभिधान अपेक्षित होने पर उसका अभिधान न कर विशिष्टधर्मी का कथन किया गया हो अथवा विशिष्ट के अभिधान की विवक्षा में सामान्य का कथन हुआ हो, तो विवक्षित का अभिधान न होने से वाच्यावचन दोष माना जाएगा। यथा—

पतिते पतंगमृगराजि निजप्रतिबिम्बरोषत इवाम्बुनिधौ।
अथ नागयूथमलिनानि जगत्परितस्तमांसि परितस्तरिरे ॥[1]

प्रस्तुत पद्य में नागयूथ सामान्य से तम का साम्यकथन अभीष्ट है, किन्तु कवि ने प्रमादवश नागयूथ सामान्य का कथन न कर मलिनत्व धर्म विशिष्ट नागयूथ विशेष का कथन किया है। फलतः वाच्य नागयूथ सामान्य का वचन न होने से यहां वाच्यावचन दोष विद्यमान माना जाएगा।

प्रस्तुत दोष परिहार के प्रसंग में यह तर्क किया जा सकता है कि

१. शिशुपालवध ९.१८

मलिनत्व नाथयूथ और तम के बीच सामान्य धर्म है, अतः नाथयूथ में मलिन विशेषण लगाने के कारण नागयूथ विशेष अर्थ लेने में भी कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु विचार करने पर उपर्युक्त तर्क निराधार प्रतीत होता है, क्योंकि मलिनत्व मात्र से नाथयूथ और तमस् का साम्य यहां सिद्ध नहीं होता है। साम्य तो नाथयूथ धर्मी अर्थात् नागयूथ सामान्य से विवक्षित है, क्योंकि प्रतिपक्षी मृगपति के गिर जाने पर नागयूथ सामान्य (धर्मी) का ही निष्प्रतिपक्ष होकर स्वेच्छया भ्रमण करना उचित है। पतंग पर मृगपति की रूपणा की उपयोगिता के आधार पर अर्थात् पतंग पर मृगपति के आरोप के सामर्थ्य से ही यह मानना आवश्यक हो जाता है कि तमस् का साम्य, नागयूथगत मलिनत्व से न होकर नागयूथ धर्मी से है। निदान मलिनत्व विशिष्ट नागयूथ का कथन होने और नागयूथ सामान्य का अवचन होने से यहां वाच्यावचन दोष की स्थिति पूर्ववत् ही होगी।

उपर्युक्त दोष परिहार के प्रसंग में दूसरा तर्क यह हो सकता है कि यहां मलिन पद केवल सामान्य धर्म वाचक न होकर हारि सुन्दर सुभग आदि शब्दों की भांति ही उपमावाचक के रूप में प्रयुक्त हो रहा है। जैसाकि—

ददृशे ललाटतटहारि हरेर्हरितो मुखे तुहिनरश्मिदलम्॥[1]

इत्यादि पद्यों में हम हारि आदि पदों का उपमावाचक के रूप में प्रयोग देख सकते हैं। इसी प्रकार मलिन पद विशेषणार्थ मात्र न होकर धर्म सादृश्य वाचक है। फलतः यहां वाच्यावचन दोष मानना उचित नहीं है।

उपर्युक्त तर्क का समाधान देते हुए आचार्य महिमभट्ट का कथन है कि 'मलिन शब्द में सादृश्यार्थ बोधन सामर्थ्य का दर्शन नहीं होता; अतः इसे धर्मसादृश्य बोधक नहीं माना जा सकता।'[2] इतना ही नहीं यदि इस प्रकार के धर्म वाचक पदों को धर्मसादृश्य बोधक माना

---

१. शिशुपाल वध ६.२८

२. न च तत् मलिनादिशब्दाः शक्नुवन्ति वक्तुम् हारिसुन्दरसुभगसदृशसन्निभादिशब्दानामेव तदभिधानसामर्थ्यदर्शनात्। —व्यक्ति विवेक पृ० ३६७

जाएगा तो—

'सरोजकर्णिकागौरीं गौरीं प्रति मनो दधौ'।

इत्यादि पद्यों में गौर आदि पद भी धर्मि साम्य के ही बोधक मानने पड़ेंगे। जबकि ऐसे पद धर्ममात्र का साम्य प्रकट करने के लिए ही प्रयुक्त किए जाते हैं। यदि कहीं गौर आदि पदों को धर्मि साम्य बोधक माना जाएगा तो उपर्युक्त उदाहरण में अथवा ऐसे अनेक उदाहरणों में वाक्यार्थ ही अव्यवस्थित हो जाएगा, क्योंकि गौरी में सरोजकर्णिका से गौरत्वमात्र कृत सादृश्य की विवक्षा है, धर्मिसादृश्य की नहीं।

इस प्रसंग में यदि यह माना जाए कि गौर आदि शब्द भी सदृश आदि पदों की भांति ही साक्षात् धर्मि साम्य के अभिधायक हैं, और क्योंकि कर्णिका गौरत्व से अव्यभिचरित है, अतः सामर्थ्य मात्र से गौर धर्म साम्य की ही प्रतीति होगी, धर्मिमात्र साम्य की नहीं। फलतः 'नागयूथ मलिनानि' इत्यादि पदों में भी दोष परिहार हो जाएगा।

किन्तु विचार करने पर यह कल्पना भी पूर्वोक्त तर्कों की भांति ही निस्सार प्रतीत होती है। क्योंकि ऐसा मानने पर उपर्युक्त पद्यों में धर्मि साम्याभिधायक पदों का प्रयोग होते हुए भी धर्मि साम्य की प्रतीति न होने पर 'श्रुतहानि' तथा धर्म साम्य की प्रतीति होने पर 'अश्रुत कल्पना' दोष उपस्थित होंगे। अतः मलिन गौर आदि पदों को धर्मि-साम्याभिधायक मानना उचित न होगा तथा इस अवस्था में पूर्वोक्त पद्य में पूर्वोक्त दोषों की स्थिति यथापूर्व बनी रहेगी।

इसी प्रसंग में 'नागयूथमलिनानि' आदि पद्य को निर्दुष्ट सिद्ध करने के लिए यह माना जाए कि एक धर्म प्रतीति होने पर[1] अन्य धर्म की साहचर्य से प्रतीति हो जाएगी। जैसाकि आचार्य वामन स्वीकार करते हैं, तथा निम्नलिखित पद्य में हम इस सिद्धान्त को कवि परम्परा में

---

१. धर्मयोरेकनिर्देशेऽन्यस्य संवित्, साहचर्यात्।
(वृत्ति) धर्मयोरेकस्यापि धर्मस्य निर्देशे अन्यधर्मस्य संवित् प्रतिपत्तिर्भवति। कुतः साहचर्यात्। सहचरितत्वेन प्रसिद्धयोरवश्यम् एकस्य निर्देशे अन्यस्य प्रतिपत्तिर्भवति। —काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ४.२.१० पृ० ११६

भी प्राप्त करते हैं।

> निर्वृष्टेऽपि बहिर्घने न विरमन्त्यन्तर्जरद्वेश्मनो,
> लूता तन्तुततिच्छिदो मधुपृषत्पिंगा पयोबिन्दवः।
> चूडावर्वरके निपातकणिकाभावेन जाता शिशो—
> रंगास्फालनभग्ननिद्रगृहिणीचित्तव्यथादायिनः ॥

इस पद्य में पयोद बिन्दुओं को मधु-पृषत्-पिंग कहा गया है… जिससे उसमें सहचरित वृत्तत्व धर्म की भी प्रतिपत्ति होती है। इसी प्रकार मलिनत्व धर्म सहचरित अन्यधर्मों की प्रतीति भी नागयूथ मलिनानि आदि पद्यों में हो जाएगी एवं अवाच्यावचन दोष की शंका न रहेगी।

उपर्युक्त तर्क का उत्तर देते हुए आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि साहचर्य से अन्य धर्म की प्रतीति को कभी उपयुक्त नहीं माना जा सकता। उपर्युक्त उदाहरणों में भी वृत्त आदि धर्म की प्रतीति साहचर्य-वशात् मानना उचित न होगा, अन्यथा माधुर्य आदि समस्त धर्मों की भी प्रतीति माननी होगी, जोकि अभीष्ट नहीं है। अतः एक धर्म को देखकर अन्य सहचरित धर्मों की कल्पना उचित नहीं है।

घट आदि पदार्थों में रूप आदि धर्मों को देखकर सत्ता आदि धर्मों का जहां अनुमान किया जाता है, वहां वह सत्ता आदि धर्म की प्रतीति हेतु रूप धर्म के द्वारा अनुमान के माध्यम से होती हैं। यहां मलिन पद हेतु रूप से प्रयुक्त हुआ है, यह कथमपि सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि कथमपि उसका हेतुत्वेन निर्देश मान भी लें, तो भी अन्य धर्मों की प्रतीति संभव नहीं है, क्योंकि मलिनत्व एवं अन्य धर्मों के बीच हेतु हेतुमद्भाव ही सिद्ध नहीं हो पाता। क्योंकि कोई धर्म हेतु तभी बन सकता है जब वह साम्य से नियत सहचरित हो।[1] तथा यहां

---

१. (क) उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात्।
—न्याय दर्शन १.१.३४-३५

(ख) लिंगं त्रिविधम्-अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि चेति। अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि। यथा वह्नौ साध्ये धूमवत्त्वम्। यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथामहानसमित्यन्वयव्याप्तिः। यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा महाह्रदः इतिव्यतिरेकः व्याप्ति।
—तर्क संग्रह अनुमानप्रकरण पृ० ४०

मलिनत्व धर्म धर्मिगत समस्त धर्मों का नियत सहचारि नहीं है, अतः समस्त धर्मों की प्रतीति नहीं हो सकती है, जिससे कि धर्मिमात्र नागयूथ का बोध हो सके।

निदान उपर्युक्त पद्य में नागयूथ उपमान के साथ मलिन विशेषण लगाने के कारण धर्म विशिष्ट नागयूथ की प्रतीति होगी, धर्मिमात्र नाथयूथ की नहीं। जबकि नागयूथ सामान्य (धर्मिमात्र) उपमानत्वेन विवक्षित है। अतः यहां धर्मिमात्र वाच्य का अवचन होने से वाच्यावचन दोष होगा।

यदि हेतुहेतुमद्भाव के अभाव में भो केवल साहचर्य मात्र से अन्य सहचरित धर्म की कल्पना करने लगेंगे तो—

'**दुःखाभितप्तस्य जनस्य** जाने तुषारशीतः प्रतिभाति वह्निः ॥'

इत्यादि पद्य में वह्नि और तुषार के बीच उपमानोपमेय भाव की कल्पना की गयी है, जिसमें शीतत्व प्रतीति समानधर्म है। यहां तुषारगत शीतत्व धर्म को अग्नि में देखकर पाण्डुत्व (अभास्वर शुक्लत्व) धर्म की प्रतीति भी होनी चाहिए, किन्तु इस प्रकार की प्रतोति नहीं होती सहृदय हृदय इसका साक्षी है।

साथ ही यह भी स्मरणीय है कि यदि एक धर्म के रहने पर अन्य समस्त धर्मों की प्रतीति अनिवार्यतः होती, तो उस स्थिति में उन अन्य धर्मों की प्रतिपत्ति के लिए साहचर्य अथवा अन्य किसी हेतु की कल्पना न की जाती।

यदि यह कहा जाए कि एक धर्म के साहचर्य के आधार पर यदि अन्य धर्मों की प्रतोति न स्वीकार करेंगे तो 'मधुपृषत्पिगाः पयोविन्दवः' इस पद्य में पयोविन्दुओं में मधु पृषत्पिगत्व' सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः साहचर्य कल्पना करना नितान्त आवश्यक है। इसके उत्तर में आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि ऐसे स्थलों में यदि सिद्धि न हो सकती हो तो न हो, किन्तु प्रयोजन देख कर प्रमाण की कल्पना नहीं की जाती।

इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि किसी एक धर्म का निर्देश होने पर धर्मी में समस्त धर्मों के होते हुए भी केवल निर्दिष्ट धर्म की ही प्रतीति होगी, अन्य समस्त धर्मों की नहीं। फलतः उदाहरणगत 'नागयूथमलिनानि' वाक्य में नागयूथगत अनेक धर्मों के होते हुए

भी केवल निर्दिष्ट मलिनत्व की ही प्रतीति होगी तथा तद्विशिष्ट धर्मी के अन्वेषण के अवसर पर एतद्धर्म विशिष्ट नागयूथ विशेष की प्रतीति होगी। फलतः यहां सामान्य नागयूथ के विवक्षित होने पर उसका अवचन होने से वाच्यावचन दोष सिद्ध होगा। इस दोष के परिहार हेतु यदि 'मलिनानि' पद के स्थान पर 'सदृशानि' पाठ कर दिया जाए तो दोष निवृति हो जाएगी। उस स्थिति में उक्त पद्य का स्वरूप निम्नलिखित होगा—

'पतिते पतंगमृगराजिनिजप्रतिबिम्बरोषत इवाम्बुनिधौ।
अथ नागयूथसदृशानि जगत्परितस्तमांसि परितस्तरिरे॥'

जहां कहीं उपमेय में उपमान गत दो धर्मों की प्रतीति होती है, वहां साहचर्य आदि के आधार पर उक्त प्रतीति नहीं होती; अपितु उसके अन्य कारण हैं। जैसे—

'करिकलभ विमुंच लोलतां चर विनयव्रतमानताननः।
मृगपतिनखकोटिभङ्गुरो गुरुरुपरि क्रमते न तेऽङ्कुशः॥'

इस पद्य में उपमेय अंकुश में वक्रत्व तथा दुःसहत्व रूप धर्म की प्रतीति अभीष्ट है, किन्तु ये दोनों ही धर्म उपमान मृगपति नखगत प्रतीत हो रहे हैं ऐसी बात नहीं है क्योंकि भंगुर पद दोनों अर्थों की प्रतीति नहीं कराता, क्योंकि यह पद कौटिल्य मात्र के अभिधायक के रूप में ही प्रसिद्ध है, अ : उससे केवल कौटिल्य अर्थ की ही प्रतीति होगी। दुःसहत्वरूप अर्थ की प्रतीति मृगपति पद प्रयोग के सामर्थ्य से होगी।

इसी प्रकार—

प्रभवति च समरमूर्धनि नवनीरद नील एष तवखड्गः।
विशति च मानसममलं सतां यशो हंसविसरसितमनः॥

इस पद्य में खड्ग तथा यश के लिए नवनीरद सामान्य (धर्मी रूप) तथा हंस विसर सामान्य (धर्मीरूप) उपमानत्वेन इष्ट है। किन्तु पूर्व पद्य की भांति ही यहां नवनीरद तथा हंसविसर के साथ क्रमशः नील और सित विशेषण संलग्न हैं। फलतः नवनीरद सामान्य एवं हंसविसर

---

१. हर्ष चरित पृ० २१७

सामान्य की प्रतीति नहीं हो सकेगी, जोकि अपेक्षित है। फलतः खड्ग की नवनीरद रूपता एवं यश की हंसयूथरूपता सिद्ध न हो सकेगी। आचार्य महिमभट्ट के अनुसार यहां भी अर्थान्तर प्रतीति, अर्थात् नवनीरद विशेष से नवनीरद सामान्य एवं हंसविसरसित से हंसविसर सामान्य की प्रतीति की कल्पना केवल भ्रममूलक है।

फलतः इस पद्य में भी वाच्यावचन दोष माना जाएगा। इस दोष की निवृत्ति के लिए यहां निम्नलिखित पाठ करना उचित होगा—

प्रभवति च समरमूर्ध्नि नवनीरदसुन्दरः कृपाणः।
विशति च मानसममलं सतां यशो हंसविसरसमम्॥

इसी प्रकार—

'तेनावरोधप्रमदासखेन विगाहमानेन सरिद्वरां ताम्।
आकाशगंगारतिरप्सरोभिः वृतो मरुत्वाननुयातलीलः॥'[1]

इस पद्य में 'राजा ने इन्द्र का अनुगमन किया' इस वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए राजा और इन्द्र के बीच कर्त्तृ कर्मभाव का प्रतिपादन कवि का उद्दिष्ट है। एतदर्थ या तो कर्मकर्त्तृभाव का साक्षात् कथन करना चाहिए अथवा ऐसी क्रिया का प्रयोग होना चाहिए कि उस कर्त्तृ-कर्मभाव का अभिधान हो सके। किन्तु कवि ने एतदर्थ कोई योजना नहीं की है, अतः वाच्य का अवचन होने से यहां भी वाच्यावचन दोष माना जाएगा। उक्त दोष की निवृत्ति निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास करके की जा सकती है—

'आकाशगंगारतिरप्सरोभिः वृतोऽनुयातो मघवाविलासैः।'

इस प्रकार पाठ विपर्यास करने पर क्रियान्तर की आकांक्षा भी समाप्त हो जाती हैं। प्रस्तुत पद्य में महिमभट्ट ने क्रिया के अप्रयोग के कारण वाच्यावचन दोष माना है। उनके अनुसार 'तेन मरुत्वान् अनुयातलीलः बभूव' इस वाक्यार्थ की प्राप्ति के लिए केवल बभूव क्रिया की अपेक्षा है, जिसका कथन नहीं किया गया है। किन्तु इनकी वह आलोचना स्वयं अपनी ही मान्यता के विरुद्ध है। वाक्य योजना के प्रसंग में इनकी मान्यता है कि 'अस्ति' 'भवति' आदि क्रियाएं 'क्रिया

---

१. रघु १६.७१

सामान्य' हैं। वाक्य में यदि इनका प्रयोग न भी किया जाए तो भी इनकी प्रतीति में कोई विघ्न नहीं आता'।[1] अतएव सत्तारूप क्रिया सामान्य की प्रतीति प्रयोग के बिना ही हो सकती है, अत: यहां वाच्यावचन दोष की कल्पना उचित नहीं है।

काव्य में जिस प्रकार वाच्य का अवचन रस भंग का हेतु होता है उसी प्रकार अवाच्य का वचन (कथन) भी सहृदय हृदय को उद्विग्न कर रस प्रतीति में (परम्परया) वाधक होता है। आचार्य महिमभट्ट ने यद्यपि दोष विवेचन का प्रारम्भ करते हुए केवल पांच दोषों की गणना की थी,[2] जिनमें अवाच्यवचन को शब्दत: संगृहीत नहीं किया गया था, किन्तु वाच्य के अवचन को वैपरीत्य सम्बन्ध द्वारा (सामर्थ्यमात्र से) अवाच्यवचन को भी वहीं संगृहीत मानना चाहिए।[3] क्योंकि दोनों ही इष्टार्थ विपर्यात्मक होते हैं।

वाच्य अवचन की भांति ही अवाच्यवचन भी अनेक प्रकार का है।

किसी एक ही वस्तु को पर्यायमात्र के भेद से भिन्न मानकर पुन: उपनिबन्धन करते हुए उनमें उपमानोपमेय भाव का कथन करना अवाच्यवचन का प्रथम प्रकार है। जैसे—

सरित्समुद्रान् सरसींश्च गत्वा
रक्ष: कपीन्द्रैरुपपादितानि।
तस्यापतन्मूर्ध्नि जलानि जिष्णो:
विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवाप: ॥[4]

---

१. (क) अकृत्वा परसन्तापं अगत्वा खलनम्रताम्।
अनुत्सृज्य सतां मार्गं यत्स्वल्पमपि तद्वहु।
अत्र हि प्रकरणादिगम्यायाः लाभक्रियायाः अनुपादानम्। —व्य.वि. पृ० ३०

(ख) इत्थं चास्तिभवत्यादि क्रियासामान्यमुच्यते।
नान्तरंगतयावश्यं वक्तारस्तत्प्रयुञ्जते॥ —व्य० वि० १.१९

२. अपरं पुनर्वहिरंगं बहुप्रकारं सम्भवति। तद्यथा—विधेयाविमर्शः, प्रक्रमभेदः क्रमभेदः, पौनरुक्त्यं वाच्यावचनं चेति। —व्य० वि० पृ० १४३

३. (क) अनेन च वाच्यावचनेन सामर्थ्यादवाच्यवचनमपि संगृहीतं वेदितव्यम्। तस्यापीष्टार्थविपर्यात्मकत्वात्। —व्यक्ति विवेक पृ० ३७६

४. रघुवंश १४.८

इस पद्य में राम के अभिषेक के समय शिर पर गिरते हुए जल के लिए मेघजन्य जल की उपमा दी गई है। कवि ने प्रथम बार जल शब्द द्वारा तथा पुनः 'आप' शब्द द्वारा पर्यायमात्र भेद से ही उपमानोपमेय भाव की कल्पना की है। किन्तु पर्यायमात्र का भेद वास्तविक भेद नहीं माना जा सकता तथा वास्तविक भेद के अभाव में किन्हीं दो वस्तुओं में उपमानोपमेय भाव नहीं किया जा सकता। अतः महिमभट्ट के अनुसार यहां उपमानोपमेयभाव का निबन्धन अवाच्यवचन दोष से युक्त है। उक्त दोष के परिहार हेतु 'विन्ध्यस्य मेघप्रभवानि यद्वत्' पाठ विपर्यास कर देना उचित होगा। इस पाठ विपर्यास के फलस्वरूप लिंगभेदरूप उपमा दोष का भी परिहार हो जाता है।

वस्तुतः प्रस्तुत पद्य में दोष नहीं है क्योंकि उपमेय रूप जल को गंगा आदि से उपपादित कहा गया है, इस प्रकार वह जल विशेषण विशिष्ट होने के कारण सामान्य जल से भिन्न रूप में प्रतीत होता है। इसी प्रकार उपमान जल भी 'मेघप्रभवाः' विशेषण के कारण विशिष्ट जल ही होगा। इस प्रकार वैशिष्ट भेद से जल में भेद की कल्पना करना अनुचित नहीं है, एवं उपयुक्त भेद के आधार पर उपमानोपमेय भाव का निबन्धन भी अनुचित मानना उचित न होगा। हां इस स्थिति में पर्याय प्रक्रम भेद दोष[1] तथा लिंगभेद[2] रूप उपमादोष अवश्य माना जा सकता है।

इसी प्रकार—

'शोकानलधूमसम्भार सम्भृताम्भोदभरितमिव वर्षति नयनवारिधाराविसरं शरीरम्।'[3]

प्रस्तुत गद्य खण्ड में शोक तथा अनल में रूप्यरूपकभाव विद्यमान है, इस रूप्यरूपकभाव की योजना में आरोप्यमाण अनल के साथ धूम का निबन्धन किया गया है, जबकि आरोप विषय शोक के साथ ऐसा कोई रूप्य नहीं है जिस पर धूम का आरोप किया जा सके, अतः

---

१. व्यक्ति विवेक पृ० २५१-२५३

२. उपमानोपमेययोर्लिङ्गव्यत्यासो लिंगभेदः।

—वामन काव्यालंकार सूत्र वृत्ति ४.२.१२

३. हर्ष चरित पृ० ४

यहां घूम पद अवाच्य है, फलतः अवाच्य का वचन होने से प्रस्तुत गद्य खण्ड में अवाच्यवचन दोष माना जाएगा। कवि ने स्वयं अन्यत्र इसी भय से घूम का निबन्धन नहीं किया है। यथा—

शोकानलदाहभीतेव न हृदयमवतरति।[1]

रूप्यान्तर के रहने पर धूम का निबन्धन अनुचित न होगा—जैसे—

तस्य धौताञ्जनश्यामा हृदयं दहतोऽनिशम्।
शोकाग्ने धूमलेखेव गलत्यश्रुकणावलिः॥

इस पद्य में आरोप विषय शोक के कार्य अश्रुकणावलि की भांति आरोप्यमाण अनल के कार्य धूम का निबन्धन अनुचित नहीं है। किन्तु 'शोकानलधूमसम्भार' इत्यादि पूर्वोक्त गद्य में आरोप विषय (रूप्य) का अभाव है, अतः आरोप्यमाण की योजना अवाच्य ही है।

यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि चूंकि शोक पर अनल का आरोप किया जा चुका है, अतः शोक के अनलरूप होने पर अनल के कार्य के निबन्धन में क्या आपत्ति है?

इस प्रश्न के समाधान के प्रसंग में दो आपत्तियां उपस्थित की जा सकतीं हैं, अनवस्था और अतिप्रसंग। अर्थात् आरोप विषय पर आरोप्यमाण के आरोप के समय यदि तत्सम्बद्ध का निबन्धन भो आवश्यक या उचित मान लेंगे तो आरोप्यमाण से साक्षात् सम्बद्ध की भांति परम्परया सम्बद्ध की याजना में भी औचित्य मानना होगा, एवं परम्परया सम्बन्ध कहीं समाप्त ही नहीं हो सकता है, अतः अनवस्था दोष उपस्थित होगा।

इसके साथ ही आरोपविषय पर आरोप्यमाण की भांति ही उसके सम्बन्धी के निबन्धन में भो रूपकौचित्य स्वीकार करने पर उन स्थलों पर भी रूपक अलंकार स्वीकार करना होगा जहां आरोप्यमाण से सम्बद्ध का निबन्धन होगा, जबकि ऐसी स्थिति में रूपक अलंकार माना नहीं जाता।

अतः अनवस्था और अतिव्याप्ति (अति प्रसंग) दोष के कारण

---

१. हर्षचरित पृ० ४

आरोप्यमाण से सम्बद्ध की योजना रूपक में उचित नहीं मानी जा सकती। चूंकि शोकानलधूमसम्भार' आदि गद्य में आरोप्यमाण अनल से सम्बन्धित धूम, जो अवाच्य है, का निबन्धन किया गया है, अतः यहां अवाच्यवचन दोष माना जाएगा।

इसी प्रकार—

दृढ़तरनिबद्धमुष्टेः कोशनिषण्णस्य सहजमलिनस्य।
कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः॥[1]

इस पद्य में भी अवाच्यवचन दोष है, क्योंकि यहां कृपण और कृपाण के मध्य 'आ' कार के आधार पर व्यतिरेक की कल्पना की गई है जो उचित नहीं है कारण यह है कि आकार शब्द से दो प्रकार के अर्थ की प्रतीति होती है; आकृति रूप एवं 'आ' अक्षर विशेष रूप।

इनमें प्रथम आकृति विशेषरूप अर्थ यहां नहीं लिया जा सकता, क्योंकि आकृति आदि धर्मों के आधार पर जिन दो वस्तुओं में किंचित भी साम्य नहीं है, जो कभी भी सहृदय के मानस में उमानोपमेय के रूप में सहभाव से भी उपस्थित नहीं होते, उन वस्तुओं में साम्य का अभाव दिखाने में कोई चारुत्व प्रतीत नहीं होगा। अतः आकृति रूप अर्थ यहां नहीं लिया जा सकेगा।

'आ' अक्षर विशेष रूप अर्थ भी यहां सम्भव नहीं है क्योंकि अक्षर कृत वैशिष्टय एक मात्र शब्द में ही सम्भव है, अर्थ रूप वस्तु में नहीं। जबकि उपमा अथवा तन्मूलक अलंकारों में साम्य शब्द गत न लेकर अर्थ गत (वस्तुगत) लिया जाता है।

इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि शब्द का स्वरूप भी तो अर्थ रूप (विषय रूप) ही होता है, अर्थात् शब्द का स्वरूप भी पदार्थ के रूप में मान्य है जैसाकि वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने लिखा है—

विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते।
न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः॥[2]

अर्थात् विषयभाव को प्राप्त हुए बिना शब्द किसी अर्थ को

---

१. कुवलयानन्द पृ० ५७ से उद्धृत   २. वाक्यपदीय व्य० वि० पृ० ३७८

प्रकाशित नहीं कर पाते, अन्यथा इन्द्रियग्राह्य हुए विना अर्थात् विषयभाव को प्राप्त हुए बिना ही सत्तामात्र से वे अर्थ को प्रकाशित अवश्य करते।' अभिनवगुप्त भी इसी मान्यता को स्वीकार करते हैं।[1]

अतएव शब्द भी अर्थरूप है, विषयरूप है, अत: शब्द के आधार पर ही औपम्य अथवा तन्मूलक व्यतिरेक आदि अलंकारों की योजना अनुचित नहीं है।

वस्तुत: उपर्युक्त कथन आपाततो ग्राह्य नहीं है, क्योंकि भले ही शब्द के स्वरूप को ही इस रूप में अर्थ मानते हुए प्रतीति का विषय मान लिया जाए, किन्तु वस्तुत: शब्दोच्चारण के समय शब्दों का यह वर्णात्मक स्वरूप तात्पर्य रूप से वक्ता का विवक्षित नहीं हो पाता। अतएव इस स्वरूप को किसी दृष्टि से भले ही विषय और अर्थ कह लिया जाए किन्तु तात्पर्यार्थ की अपेक्षा उसे (शब्द के वर्णात्मक रूप को) विषय नहीं कहा जा सकता।

'अक्षराणामकारोऽस्मि'[2] आदि गीता के पदों में जैसे शब्द का स्वरूप ही तात्पर्यरूप से विवक्षित है, उसी प्रकार यहां भी शब्द का स्वरूप ही विवक्षित है, यह नहीं कह सकते। 'शब्द का स्वरूप ही विवक्षित है' यह मानने पर कृपण और कृपाण के लिए 'दृढ़तर निबद्ध' आदि विशेषण असंगत होने लगेंगे क्योंकि शब्द स्वरूप से उन विशेषणों का कोई सम्बन्ध नहीं है।

निदान प्रस्तुत पद में आकार रूप शब्द विषयक भेद लेकर व्यतिरेक की कल्पना उचित नहीं है और इसीलिए अवाच्य भी है। इस प्रकार अवाच्य का कथन होने से यहां अवाच्यवचन दोष माना जाएगा। इसी प्रकार—

येनालंकृतमुद्यानं विहारेणामुना तव।
तेनैव निर्विकारेण करिकुम्भनिभौ कुचौ॥

इस पद्य के पूर्वार्ध में उद्यान को 'विहार' से अलंकृत बताकर उत्तर

---

१. यदाह तत्रभवान्—विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते।
—ध्वन्यालोक लोचन पृ० १८७

२. गीता १०.३३

पद से वि उपसर्ग रहित विहार अर्थात् हार से कुचों को अलंकृत बताया गया है। यहां भी पूर्वोक्त प्रकार से ही अवाच्यवचन दोष है। क्योंकि उद्यान की शोभा विहार शब्द से न होकर विहार क्रिया से है, तथा अर्थरूप क्रिया में उच्चरित ध्वनि रूप 'वि' की सत्ता ही नहीं है, जो उसका अभाव बताकर उस अभाव विशिष्ट विहार से कुचों को अलंकृत किया जा सके।

इसके अतिरिक्त विहार क्रिया के वाचक विहार पद के स्वरूप को लेकर भी अर्थ में संगति नहीं हो पाती, क्योंकि, क्रिया विशेष वाचक विहार पद में किसी पदांश को निकाल कर शेष पदांश से कुच आदि किसी पदार्थ का अलंकरण नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाए कि विहार पद गत हार पदांश स्वरूपेण पदार्थ का अलंकरण नहीं करता, किन्तु उस पदांश 'हार' द्वारा वाच्य माल्य रूप अर्थ तो अलंकरण का हेतु है; अतः उक्त कथन उचित ही होगा। तो यह कथन भी प्रमाणविरुद्ध होने के कारण स्वतः अग्राह्य है, क्योंकि शाब्दिक आचार्य जब वाक्यार्थ के कल्पित अंश पदों में भी स्फोट की (प्रधानार्थ की) सत्ता स्वीकार नहीं करते, (वे केवल वाक्य में ही स्फोट स्वीकार करते हैं।[1]) तो फिर पद के भी एक कल्पित खण्ड पदांश में अर्थ की कल्पना करना तो सर्वथा अनुचित ही होगी।

यदि कथमपि दुर्जनतोषन्यायेन विहार पद के खण्ड की कल्पना भी कर लें एवं उसका कुछ अर्थ भी कल्पित करें, तो वह कल्पित अंश भी किस रूप में कुचों को सुभूषित करेगा यह प्रश्न उस समय भी शेष

---

१. (क) ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युः निरर्थकाः। वाक्यपदीय।

(ख) वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा

(ग) तत्र पदस्यार्थो वाच्यएव नानुमेयः तस्य निरंशत्वात्।
—व्य० वि० पृ० ३९-४०

(घ) अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः। वाक्यमेव च वाचकम् 'इति येप्याहुः तैरपि अविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पना कर्त्तव्यैवेति।
—काव्यप्रकाश पृ० २५१

(ङ) अनवयवमेव वाक्यमनाद्यविद्योपदर्शितालीकपदवर्णविभागमस्या-मूलम्॥
—वेदान्त दर्शन

रहेगा ही। अतः यहां विहार के वि उपसर्ग रहित अंश से कुचों की शोभा वृद्धि, अवाच्य ही है, अतः उसका कथन दोषपूर्ण ही होगा। विहार पद के 'वि' उपसर्ग रहित अंश 'हार' पदांश से आकृति साम्य रखने वाले 'हार' पद के वस्तुरूप वाच्य अर्थ से कुचों की शोभा होती है।[१] किन्तु इस अल्प आकृतिमात्र साम्य के आधार पर विहार पद के वि रहित अंश 'हार' एवं माल्याभिधायी 'हार' पद की समानता नहीं सिद्ध की जा सकती। फलतः 'निर्विकारेण अमुना विहारेण कुचावअलंकृतौ' यह कथन अवाच्य है। अतएव अवाच्य का वचन होने से यह पद्य भी 'अवाच्य वचन' दोषयुक्त माना जाएगा।

किन्तु जहां शब्द द्वारा केवल उसके स्वरूप का कथन ही किया जा रहा है तो वहां इस प्रकार के पदों का कथन अनुचित न होगा। जैसे—

अक्षराणामकारोऽहमिति यः स्वयमभ्यधात्।
सोऽपि त्वयामुना स्वामिन्नाकारेण लघूकृतः॥

इस पद्य में 'अक्षराणां अकारोऽहम्' इस वाक्य में अकार का अर्थ विवक्षित न होकर स्वरूप विवक्षित है, क्योंकि कवि इस स्वरूपात्मक वाक्य के वक्ता विष्णु के वामन रूप को राजा के विशाल आकार की अपेक्षा लघु कहना चाहता है।' अतः ऐसे स्थलों पर शब्द का स्वरूप ही वाच्य है, अतः यहां उक्त दोष की सम्भावना नहीं हो सकती।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'यद्यपि शब्द के दो अर्थ हैं : स्वरूप तथा अर्थरूप। एवं शब्द भी उन दोनों अर्थों का क्रमशः अभिधान करता है। किन्तु शब्द गत अभिधारूप व्यापार 'स्वरूप' से सम्बद्ध न होकर 'अर्थ' रूप से ही सम्बद्ध होता है एवं उस अर्थरूप' पदार्थ की प्रतीति कराकर ही अभिधा रूप व्यापार विश्रान्त होता है। इसके अतिरिक्त यह अर्थ वाक्यार्थ बोध में कार्यकारी होता है, जबकि स्वरूपार्थ इसमें कार्यकारी नहीं है। साथ ही स्वरूपार्थ की प्रतीति पहले एवं 'अर्थ रूप' अर्थ की प्रतीति पीछे होती है; अतः धर्म भेद एवं 'कक्ष्या-

---

१. विहार पद का वि रहित अंश है 'हार' इससे आकृति-साम्य रखने वाला माल्याभिधायी 'हार' पद है। उसके वस्तु रूप अर्थ माल्य से कुचों की शोभा में वृद्धि होती है।

भेद के कारण स्वरूपार्थ एवं अर्थरूपार्थ को श्लिष्ट रूप में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। फलतः ऐसे प्रयोगों, जहां स्वरूपार्थ एवं अर्थरूपार्थ परस्पर श्लिष्ट किये गये हों, को दोषपूर्ण माना जाएगा।

इसी प्रकार

'यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरे हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते।'[1]

इस पद्य में अभिधेय रूप में हिरण्याक्षरूप असुर (भक्त प्रह्लाद का पिता) विवक्षित है। हिरण्यकशिपु उस असुर अर्थ का अभिधायक पद है, किन्तु कवि ने चित्रालंकार के प्रति प्रेम के कारण हिरण्यकशिपु न कहकर हिरण्यपूर्वंकशिपु' पद का प्रयोग किया है, जो कि विवक्षित नहीं है। इस प्रकार अविवक्षित (अवाच्य) का कथन होने से यहां भी अवाच्य वचन दोष माना जाएगा।

कारण यह है कि विचार प्रसंग में यहां सर्वप्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यहां हिरण्य और कशिपु शब्द को अभिधेय प्रधान माना जाए अथवा शब्द प्रधान। अभिधेय की प्रधानता मानने पर अर्थ असंगत होने लगता है[2] साथ ही अभिधेय प्रधान होने पर कशिपु शब्द को नपुंसक लिंग होना चाहिए। अतः इन्हें अभिधेय प्रधान नहीं मान सकते।

इसी प्रकार इन्हें स्वरूप प्रधान मानना भी सम्भव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इस स्थिति में अर्थात् स्वरूप प्राधान्य होने पर ये पद असुर विशेष के वाचक हिरण्यकशिपु नाम की कथन (प्रचक्षते) क्रिया के कर्म के रूप में अभिहित नहीं हो सकते, जबकि उक्त पद्य में 'प्रचक्षते' क्रिया के कर्म के रूप में इनका निर्देश किया गया है। इस प्रकार स्वरूप प्राधान्येन अथवा अर्थ प्राधान्येन उभयथा 'हिरण्यपूर्वं कशिपुम्' यह वाक्यांश अवाच्य ही रहता है।

वस्तुतः शब्द के स्वरूप का प्राधान्य केवल अनुकरण में ही होता है। शब्द का यह अनुकरण दो प्रकार का है शाब्द तथा आर्थ। शाब्द अनुकरण में अनुकरणीय शब्द को 'इति' पद से व्यवच्छिन्न कर

---

१. शिशुपाल वध १.४२

२. हिरण्य अर्थात् स्वर्ण है पूर्व में जिसके, ऐसा कशिपु अर्थात् अन्न अथवा अन्नत्वक्। स्वर्ण पूर्वक अन्न, अथवा स्वर्ण पूर्विका अन्न की तुषा।

दिया जाता है जैसे—

तं कर्णमूलमागत्य पलितच्छद्मना जरा।
कैकेयीशंकयेवाह 'रामे श्रीः दीयतामिति'।

यहां 'रामे श्रो र्दीयताम्' ये पद इति से व्यवच्छिन्न है। अतः इसे शब्दानुकरण कहा जाएगा।

जहां इति आदि व्यवच्छेदार्थक अव्ययों का प्रयोग बिना किए ही शब्द का अनुकरण किया जाए, किन्तु वे पद अर्थतः ही व्यवच्छिन्न हों उसे आर्थ अनुकरण कहा जाता है। जैसे—

महदपि परदु.खं शीतलं सम्यगाहुः।

यहां व्यवच्छेदक इति आदि अव्यय का प्रयोग न होने से इसे आर्थ अनुकरण कहा जाएगा।

प्रस्तुत पद्य में केवल अभिधान का अनुकरण करना चाहिए उसका अनुकरण नहीं किया गया है तथा जिसका अनुकरण किया गया है वह उस असुर का अभिधान नहीं हो सकता इस प्रकार यहां अवाच्यवचन दोष माना जाएगा। यदि लोक में उसका नाम 'हरिण्यकशिपु' न होकर हिरण्य पूर्व कशिपु होता तो यहां दोष न माना जाता। किन्तु लोक में हिरण्यपूर्व कशिपु नाम व्यवहृत नहीं होता, जो कि यहां कथित हैं; अतः अवाच्यवचन दोष मानना ही होगा। इसी प्रकार—

'क्षुण्णं यदन्तः करणेन वृक्षाः फलन्ति कल्पोपपदास्तदेव'।

इस पद्य में इति शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, अतः यहां आर्थ अनुकरण माना जाएगा। इसके अतिरिक्त इस पद्य में कल्पवृक्ष के लिए 'कल्पोपपदाः वृक्षाः' कहा गया है। किन्तु कल्प वृक्ष के नामों में 'कल्पोपपद वृक्ष' शब्द कहीं प्राप्त नहीं होता। अतः यह प्रयोग दोषपूर्ण है, जिसके निरकरण के लिए—'क्षुण्णं यदन्तःकरणेन नाम तदेव कल्पद्रुमकाः फलन्ति' यह पाठ करना अधिक उचित है, उपर्युक्त पाठ विपर्यास में द्रुमशब्द से कुत्सार्थक कन् प्रत्यय का प्रयोग होने के कारण राजा की अपेक्षा कल्पवृक्ष में तिरस्कार प्रतीति से राजा में असम्भावित दान के स्वभाव की प्रतीति होकर चमत्कृत राजभक्ति (भाव) की प्रतीति होगी। यह गुणान्तर भी प्राप्त हो जाएगा।

इसो प्रकार—

> त्वन्निष्यन्दोच्छसितवसुधागन्धसम्पर्करम्यः
> स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभग दन्तिभिः पीयमानः ।
> नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषो देवपूर्वं गिरिन्ते
> शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ।[1]

इस पद्य में भी अवाच्यवचन दोष विद्यमान है। यहां 'देवपूर्वं गिरिम्' पद समूह का प्रयोग कवि ने देवगिरि रूप अर्थ लाभ के लिए किया है, किन्तु वह उचित नहीं है। क्योंकि यहां गिरि पद से पर्वत रूप अर्थ का बोध होगा 'गिरि' शब्द का नहीं। पर्वत रूप अर्थ देवपूर्वक हो, यह संभव नहीं है तथा देवपूर्वक गिरि शब्द अर्थात् देवगिरि शब्द की प्रतीति अभिधा आदि व्यापारों के द्वारा सम्भव नहीं है। इस प्रकार विवक्षित का अवचन और अविवक्षित का वचन होने से यहां अवाच्यवचन एवं वाच्यावचन दोष विद्यमान है, जो इस काव्यरत्न को कलंकित कर रहा है। अतएव दोष निरास के लिए—**'नीचैर्वास्यत्यथ जिगमिषोर्देवगिर्यन्तिकं ते'** इत्यादि पाठ विपर्यास करना उचित होगा।

इस प्रकार स्वरूपानुकरण के दो प्रकारों शाब्द अनुकरण और आर्थ अनुकरणों में से दोनों का ही पूर्वोक्त 'यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं' इत्यादि पद्य में अभाव होने से यहां स्वरूपानुकरण सिद्ध नहीं होता। फलतः 'हिरण्यपूर्वं कशिपुं' प्रयोग को शब्द प्रधान भी नहीं कहा जा सकता।

परिणामस्वरूप हिरण्यकशिपु शब्द का प्रयोग शब्द प्राधान्य और अर्थ प्राधान्य दोनों ही पक्ष में असंगत है, अतएव इस पद अवाच्य का कथन होने से, यहां अवाच्यवचन दोष माना जाएगा। इसी प्रकार—

> **'दशपूर्वरथं समाख्यया दशकण्ठारिगुरुं प्रचक्षते।**

चूंकि राम के पिता का नाम दशरथ है, दशपूर्वरथ नहीं, अतः इस पद्य में भी 'दशपूर्वरथं' पद का प्रयोग पूर्वोक्त प्रकार से ही अवाच्य है। फयतः उसका प्रयोग होने से यहां अवाच्यवचन दोष माना जाएगा। यदि दशरथ नाम न होकर दशपूर्व रथ नाम होता तो उस स्थिति में पद्यगत प्रयोग को उचित माना जा सकता था।

---

१. मेघदूत १.४२

तात्त्विक दृष्टि से एक किन्तु व्यवहारतः (भिन्न विभक्तिकतया) भिन्न प्रतीत होने वाली दो वस्तुओं में पृथक् पृथक् विरोधी गुणों की योजना करने से विरोधालंकार सिद्ध नहीं होता। अतः ऐसी स्थिति में विरोध की योजना में अवाच्यवचन दोष होगा। यथा—

या घर्मभासस्तनयापि शीतलैः
स्वसा यमस्यापि जनस्य जीवनैः।
कृष्णापि शुद्धेरधिकं विधातृभिः
विहन्तुमंहांसि जलैः पटीयसी॥[1]

इस पद्य में 'घर्मभासस्तनयात्व' तथा 'शीतलत्व' आदि धर्मों का निबन्धन विरोध प्रदर्शन की विवक्षा से किया गया है। किन्तु इनका विरोध एकाश्रयत्वेन उचित है, भिन्नाश्रयत्वेन नहीं; क्योंकि भिन्नाश्रयत्वेन निबन्धन होने से विरोध की उपपत्ति नहीं हो पाती, यमुना में विद्यमान 'घर्मभासस्तनयात्व' आदि तथा जल में विद्यमान 'शीतलत्वादि' का विरोध सम्भव भी कैसे हो सकता है, अतः असम्भाव्य तथा अवाच्य-भिन्नाश्रय-विरोध का निबन्धन होने से यहां अवाच्यवचन दोष माना जाएगा।

यद्यपि यमुना और जल तात्त्विक दृष्टि से दोनों एक हैं, किन्तु 'यमुनायाः जलम्' इत्यादि लौकिक प्रयोग इन दोनों में कल्पनिक भेद की सत्ता सिद्ध करते हैं। कवि ने भी यहां यमुना तथा उसके विशेषणों का कर्त्तृत्वेन प्रथमा विभक्त्यन्त, तथा जल एवं उसके विशेषणों का तृतीया विभक्त्यन्त प्रयोग करके अतात्त्विक भेद को ही स्वीकार किया है, यदि जल के समस्त विशेषणों को भी यमुना का समानाधिकरण अर्थात् प्रथमा विभक्त्यन्त कर दिया जाए तभी यमुना और जल में तात्त्विक ऐक्य की प्रतीति होगी, एवं उस स्थिति में 'घर्मभासस्तनयात्व' साथ ही 'शीतलत्व' की योजना से विरोध प्रतीति होगी। यही कवि का अभीष्ट है। उस स्थिति में दोष न रह जाएगा। इस स्थिति में पद्य का स्वरूप निम्नलिखित होगा—

या घर्मभासस्तनयापि शीतला
स्वसा यमस्यापि जनस्य जीवनी।

---

१. शिशुपालवध १२.६७

कृष्णापि शुद्धेरधिकं विधायिनी
विहन्तुमहांसि जलैः पटीयसी।

इससे पूर्व निर्दिष्ट विविध काव्य दोषों के कारण भी अनेक पद अवाच्य हो सकते हैं एवं उन पदों के प्रयोग को भी अवाच्यवचन दोष कहा जा सकेगा। जैसे—

'रुरुचे हिमालयगुहामुखोन्मुखः
पयसां प्रवाह इव सौरसैन्धवः।'[1]

इस पद्य में 'पयसां प्रवाहः' पद प्रयुक्त है। क्योंकि केवल प्रवाह पद के प्रयोग से अव्यभिचरित साहचर्यवश 'पयःप्रवाह' अर्थ का ही बोध होगा। अतः पयस् शब्द का अर्थ अर्थतः अभिहित है, उसका शब्दतः भी अभिधान होने से पुनरुक्ति दोष होगा।[1] इसी प्रकार 'सौरसिन्धवः' पद में तद्धित प्रत्यय के अर्थ का बोध षष्ठी विभक्ति द्वारा अथवा षष्ठ्यर्थ समास के द्वारा हो सकता है, तथापि पुनः उसी अर्थ के अभिधान के लिए यहां तद्धित प्रत्यय का प्रयोग किया गया है, वह भी पूर्वोक्त प्रकार से दोषपूर्ण है। फलतः पुनरुक्ति दोष के कारण अवाच्य होने से प्रवाह पद तथा सौर पद में तद्धित प्रत्यय दोनों ही अवाच्य हैं। अतः इनका वचन होने से यहां भी अवाच्यवचनदोष होगा। जिसके निवारण हेतु **'रुरुचे हिमालयगुहामुखोन्मुखः सुमहान्प्रवाह इव जह्नुजन्मना'** इत्यादि रूप से पाठ विपर्यास करना उचित होगा।

वस्तुतः उपर्युक्त पद्य एवं इसी प्रकार के अन्य अनेक पद्यों में जहां किसी दोष की सत्ता स्वीकार की जा चुकी है, वहां विशिष्ट रूप से पुनरुक्ति आदि विभिन्न दोष तो स्वीकृत ही हैं, अतः उन्हें पुनः उन्हीं दोषों को मूल आधार मानकर अवाच्यवचन के उदाहरणों में उपस्थित करना उचित न होगा। अन्यथा प्रत्येक दोष अवाच्य वचन दोष के व्याप्य दोष हैं, ऐसा ही मानना पड़ेगा, एवं इस स्थिति में उनके स्वतन्त्र क्षेत्र का अपहार ही होने लगेगा। फलतः पूर्वस्वीकृत दोषों के अतिरिक्त विविध कारणों से अवाच्य पद प्रयोग को ही अवाच्यवचन दोष का क्षेत्र मानना चाहिए।

---

१. सामर्थ्यसिद्धस्यार्थस्य यथार्थी पुनरुक्तता।
तात्पर्यभेदाच्छब्दस्य द्विरुक्तिः शाब्दयपीष्यते। —व्यक्ति विवेक पृ० ३२७

महिमभट्ट ने पौनरुक्त्य मूलक अवाच्यवचन के निम्नलिखित अन्य उदाहरण भी उपस्थित किए हैं। जैसे—

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम्।
आकर्णकृष्टमपि कामितया सधन्वी,
वाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसंजहार ॥[1]

प्रस्तुत पद्य में कवि ने कृपामृदुमनाः शब्द का व्यवहार किया है, क्योंकि कृपा मन का ही धर्म है, अतः कृपामृदुः कहने पर भी कृपा वश कोमल हृदय वाला यही अर्थ अभिहित होता है, अतः अर्थतः अभिहित अर्थ का मनस् शब्द द्वारा पुनः अभिधान पुनरुक्ति दोषपूर्ण है, और इसी कारण अवाच्य 'मनस्' शब्द का उपादान अवाच्यवचन दोषपूर्ण भी है।

इसी प्रकार —

रहयिष्यति तं लक्ष्मीर्नयनविमुखो नापदां पदं क इव।
स च तव रिपुरेवमतो भावी तस्यापि तद्विरहः॥

इस पद्य में 'एवं स तव रिपुः' कहने के अनन्तर पुनः उसी अर्थ का परामर्श 'अतः' शब्द द्वारा किया है। फलतः यहां पुनरुक्ति दोष होगा, एवं पुनरुक्तिमूलक अवाच्यवचन दोष भी।

न्याय शास्त्र की परम्परा के अनुसार न्याय वाक्य में पांच वाक्य हुआ करते हैं—प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन।[2] जैसे पर्वतो वह्निमान्, धूमात्, यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम्, तथा चायम्, तस्मात् तथा (पर्वतो वह्निमान्) इति। इस न्यायवाक्य में—

१. 'पर्वतोवह्निमान्' यह प्रतिज्ञावाक्य होगा।

---

१. रघुवंश ९.५७

२. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः। साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा। उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात्। साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्। उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा-साध्यस्योपनयः। हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्।

—न्याय सूत्र १.१.२-३६-३९

२. 'धूमात्' यह हेतु है
३. 'यो यो धूमवान् सः सः वह्निमान् यथा महानसम्।'
यह उदाहरण वाक्य हुआ।
४. 'तथाचायम्' (वह्नित्वव्याप्य धूमत्वविशिष्टः पर्वतः)
यह उपनय वाक्य होगा
५. तस्मात्तथा (पर्वतो वह्निमान्) इति यह निगमन वाक्य होगा।[1]

इनमें से निगमन प्रतिज्ञा का ही पुनर्वचन है। गौतम ने कहा भी है—

'हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्।' अतः इसे दोष नहीं मानना चाहिए। यहां आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि व्याप्ति विशिष्ट हेतु का पक्ष में संगमन करने से ही प्रतिज्ञा का पुनर्वचन हो जाता है, अतः उसका शब्दतः पुनर्वचन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। फिर भी यदि शब्दतः पुनर्वचन किया जाता है तो वह अवाच्य वचन दोष युक्त माना जाएगा।

जैसे प्रतिबिम्ब को देखकर ब्रिम्ब के साम्य की प्रतीति स्वतः होती है, उसी प्रकार जहां अप्रस्तुत को देखकर प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति साम्य-वश हो जाती है, वहां प्रस्तुत के कथन की अपेक्षा नहीं होती अर्थात् सामर्थ्यवशात् प्रस्तुत की प्रतीति हो जाने पर प्रस्तुत शब्दतः अवाच्य होगा। तथापि यदि प्रस्तुत का शाब्द कथन किया जाए तो वहां पौन-रुक्त्यमूलक अवाच्यवचन दोष माना जाएगा। जैसे—

आहूतेषु विहंगमेषु मशको नायान्पुरावार्यते,
मध्येवारिधि वा वसंस्तृणमणि धत्ते मणीनां पदम्।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनाम्
धिक् सामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम्।

इस पद्य में 'प्रभुमिव' पदों द्वारा प्रभु पद का शाब्द औपम्य कहा गया है. जबकि वह अर्थ अर्थतः स्वतः अभिहित हो जाता है। अतः पुन-रुक्ति दोष होगा, साथ ही पौनरुक्त्य मूलक अवाच्यवचन दोष भी। इसी प्रकार—

---

१. तर्क संग्रह पृ० २८

द्रविणमापदि भूषणमुत्सवे शरणमात्मभये निशि दीपकः।
बहुविधाभ्युपकारभरक्षमो भवति कोऽपि भवानिव सन्मणिः।।

इस पद्य में प्रस्तुत वाचक 'भवत्' शब्द के अर्थ की प्रतीति अप्रस्तुतार्थ के साम्य से ही हो जाती है, अतः प्रस्तुत 'भवत्' शब्द के प्रयोग की अपेक्षा नहीं है। अपेक्षा (वाच्यत्व) के अभाव में शब्दतः भवदर्थ के कथन में पुनरुक्ति दोष होगा, साथ ही पूर्व पद्यों की भांति ही पुनरुक्ति-मूलक अवाच्यवचन दोष भी।

किन्तु जैसे बिम्ब को देखकर प्रतिबिम्ब की अनिवार्य सत्ता नहीं मानी जा सकती, उसी प्रकार प्रस्तुत के वर्णित होने पर अप्रस्तुत की अर्थ सामर्थ्यात् उपस्थिति नहीं होती। फलतः प्रस्तुत का वर्णन होने पर भी अस्तुत का शब्दतः कथन आवश्यक होता है। अतएव ऐसी स्थिति पूर्व पद्यों की भांति अवाच्यवचन दोष नहीं माना जाएगा। जैसे—

निम्नमुन्नतमवस्थितं चलं वक्रमार्जवगुणान्वितं च यत्।
सर्वमेव तमसा समीकृतं धिङ्महत्त्वमसतां हतान्तरम्।।

इस पद्य में प्रस्तुत तमस् का वर्णन होने पर तत्सदृश असत्पुरुष रूप अर्थ की स्वतः प्रतीति न होगी। अतः उसका शब्दतः कथन करना अनिवार्य हो गया है।

यदि इसी पद्य में तमस् अर्थ अप्रस्तुत होता एवं असत्पुरुष अर्थ प्रस्तुत तो असत्पुरुषरूप अर्थ की प्रतीति अर्थ सामर्थ्य से हो जाती एवं उसके लिए शाब्द प्रयोग को अनुचित माना जाता।

अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार में जहां प्रस्तुत में उत्कर्ष अथवा अपकर्ष की प्रतीत के लिए, श्लेषमुखेन अप्रस्तुत में विद्यमान न रखते हुए भी तद्गत उत्कर्ष अथवा अपकर्ष का वर्णन किया जाता है, क्योंकि वह अप्रस्तुत में अतात्त्विक है, अतः वह उसमें संगत न होकर बिम्बप्रति-बिम्ब भाव से प्रस्तुत में भी संगत प्रतीत न होगा, अतः उसके उत्कर्ष अथवा अपकर्ष के लिए कथन नहीं होना चाहिए। फिर भी यदि उसका कथन किया गया है, तो वह कथन अवाच्यवचन दोषयुक्त माना जाएगा।

जैसे—

सद्वृत्ते महति स्वभावसरले बद्धोऽपि यस्मिन् गुणै-
र्युक्ते संयमहेतुतामुपगते यत्रापि विश्राम्यसि।

तस्याक्षेपपरम्पराभिरभितो दोलायमानस्थिते-
रालानस्य मतंगजैष कतमो निर्मूलने दुर्ग्रहः ।।

इस पद्य में अप्रस्तुत आलान और गज हैं तथा प्रस्तत कोई राजा और उसका सामन्त है। यहां प्रस्तुत कष्टप्रद आलान में तत्त्वतः अविद्यमान सद्वृत आदि गुणों का श्लेष के माध्यम से निवन्धन करते हुए सदाचारवत्ता आदि धर्म से सम्बन्ध दिखाते हुए उत्कर्ष दिखाया गया है, किन्तु यह अप्रस्तुत आलान में अतात्त्विक होने के कारण आलान के उन्मूलन के अनौचित्य की सिद्धि नहीं कर सकता, साथ ही बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव के द्वारा प्रस्तुत में उन्मूलन के अनौचित्य का साधक भी नहीं हो सकता। फलतः इह उत्कर्ष का निवन्धन अनुचित है और इसीलिए अवाच्य भी, तथा उसका निबन्धन होने से इस पद्य में अवाच्यवचन दोष माना जाएगा।

प्रस्तुत पद्य को उस स्थिति में निर्दोष अवश्य माना जा सकता है जब श्लेष का अनादर करके 'कतम' पद में काकुविशेष को अपनाकर व्याख्या की जाए। उस स्थिति में निर्मूलने दुर्ग्रहः कतमः अर्थात् उसके उन्मूलन में दुराग्रह कैसा ? न खलु कश्चित् इति अर्थात् दुराग्रह है ही नहीं, उनका उन्मूलन तो उचित ही है।' यह अर्थ माना जाएगा।

इसीप्रकार अपकर्ष वर्णन के प्रसंग में भी अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं।

आचार्य महिमभट्ट ने वाच्यावचन दोष के प्रसंग में 'सर्वनाम द्वारा परामर्श योग्य अर्थ के स्व शब्द द्वारा कथन को वाच्यावचन दोष कहा है।[1] यहां क्योंकि वाच्य सर्वनाम होता है, और उक्त संज्ञा होती है, अतः सर्वनाम की दृष्टि से वह वाच्य है, किन्तु उसका अवचन किया गया है, अतः उसे वाच्यावचन कहना उचित ही है। इसके ही उदाहरण में उक्त संज्ञा होती है, जो कि अवाच्य है, अतः अवाच्य का वचन होने से उस उदाहरण में ही अवाच्यवचन दोष भी देखा जा सकता है। जैसे—

'उदन्वच्छिन्ना भूः स च निधिरपां योजनशतम्।'

---

३. न्याय सूत्र १.१.३९

१. व्यक्ति विवेक पृ० ३७६

इस पद्य में उदन्वान् शब्द द्वारा समुद्र का एक बार कथन हो चुका है अतः पुनः अपांनिधि द्वारा शब्दतः उसका कथन उचित नहीं है, अपितु सर्वनाम द्वारा ही उसका परामर्श होना चाहिए। इस प्रसंग में पूर्व उद्धृत उदाहरण ही द्रष्टव्य है।

जिस वाक्य में (काव्य में) समान विशेषणों का प्रयोग होने से समासोक्ति द्वारा ही उपमानोपमेय भाव की प्रतीति हो जाती हो, वहां शब्दतः उपमानोपमेय भाव का कथन पुनरुक्तिपूर्ण होगा, साथ ही पुनरुक्तिमूलक अवाच्यवचन दोष युक्त भी। जैसे—

अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः
कुसुमपंक्तिनिपातिभिरङ्कितः।
न खलु शोभयतिस्म वनस्थलीं
न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव ॥[1]

इस पद्य में समान विशेषण होने के कारण तिलक और प्रमदा में से एक का निबन्धन करने पर भी उभयार्थ की प्रतीति हो सकती है, तथापि दोनों का निबन्ध किया गया है। अतः यह पद्य अवाच्यवचन दोष युक्त है।

प्रस्तुत के लिए प्रयुक्त विशेषण पदों के द्वारा समान विशेषण माहात्म्य वशात् अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होकर उपमानोपमेय भाव की प्रतीति कवि और सहृदय दोनों को ही प्रिय है। आलंकारिकों ने इसे (इस प्रकार की योजना को) समासोक्ति अलंकार नाम दिया है।[2] इसकी योजना होने पर अप्रस्तुत की प्रतीति आर्थ हो जाती है, अतः उसकी योजना अपेक्षित नहीं होती। यथा—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोपरागाद्गलितं न लक्षितम् ॥

इस पद्य में निशा और शशि के लिए प्रयुक्त समान विशेषण के द्वारा ही नायक नायिका रूप अप्रस्तुत उपमान की आर्थ प्रतीति हो

---

१. सुभाषितावलि—वल्लभदेव पृ० ३३२
२. विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः।
—अलंकार सर्वस्व पृ० १०७

जाती है,[१] यही कारण है कि यहां कवि नें उनका शाब्दनिबन्धन नहीं किया है।

यदि कवि ने प्रमादवश अर्थतः प्रतीयमान उपमानोपमेय भाव की प्रतीति के लिए पुनः प्रयास किया है, तो वह प्रयास, पुनरुक्तिपूर्ण माना जाएगा और इसी हेतु अवाच्यवच दोष विशिष्ट भी। ऐसे प्रयोग सदा ही त्याज्य हैं। जैसे—

जंघाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः
भर्त्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥[२]

यहां जंघाकाण्ड, नखकिरण प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसर, तथा मंजुमंजीर पर क्रमशः उरुनाल, लसत्केसरी, किसलय तथा भृंग का आरोप किया गया है, इस प्रकार अम्भोजरूप उपमान की शोभा 'दण्डपाद' पर आरोपित प्रतीत होती है, इस प्रकार धर्म समारोप होने से यहां समासोक्ति अलंकार होगा।[३] चूंकि समारोप सदा ही स्वसदृश में ही होता है, अतः समासोक्ति के द्वारा ही 'दण्डपाद' तथा अम्भोज में तुल्यता की प्रतीति नहीं हो सकती है, तथापि 'अम्भोजशोभां विदधत्' वाक्य द्वारा उसी औपम्य का कथन पुनरुक्तिपूर्ण होगा और इसीलिए पुनरुक्तिमूलक अवाच्यवचन दोषयुक्त भी।

इसके अतिरिक्त चूंकि 'अम्भोज' उपमान की प्रतीति के बिना ऊरुनालत्व आदि धर्मों से सम्बन्ध सम्भव नहीं बन सकता, अतः अम्भोज रूप उपमान के उपादान के बिना भी उसकी आर्थ प्रतीति हो सकती है, अम्भोज उपमान का भी शब्दतः उपादान पुनरुक्ति एवं तन्मूलक अवाच्यवचन दोषपूर्ण है।

---

१. अत्र निशाशशिनोः श्लिष्टविशेषणमहिम्ना नायकव्यवहारप्रतिपत्तिः। अपरित्यक्तस्वरूपयोर्निशाशशिनोः नायकनायिकाख्यधर्मविशिष्टयोः प्रतीतेः।
—अलंकार सर्वस्व पृ० १०९

२. चण्डीशतक

३. साधारणविशेषणसमुत्थापिता तु धर्मकार्यसमारोपाभ्यां द्विभेदा (समासोक्तिः)।
—अलंकार सर्वस्व पृ० ११३

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त उक्त पद्य में अन्य भी अनेक दोष विद्यमान हैं। जैसे—इस पद्य में उपमान वाचक शब्द 'अम्भोज' को समासगत रखा गया है तथा 'वृत्तस्य विशेषणयोगो न' इस सिद्धान्त के अनुसार समास में अन्तर्भूत होने से अम्भोज पदार्थ का सम्बन्ध उरुनालत्व आदि धर्मों से नहीं हो सकता, क्योंकि 'पदार्थ पदार्थ से सम्बद्ध होता है पदार्थैकदेश से नहीं' यह पदार्थ का स्वभाव है, अतः अम्भोजपद समासगत होने से पद न रहकर पदांश बन चुका है। फलतः उसका अर्थ भी पदार्थांश होगा, इसलिए उस पदार्थांश से नाल आदि धर्मों का सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। वापीसंभूतत्वरूप धर्म से उस का सम्बन्ध सम्भव है, क्योंकि वह पद भी उसी के साथ समास में विद्यमान है। जबकि 'दण्डपाद' में उरुनालत्व आदि धर्म विद्यमान नहीं है, अतः उरु नाल आदि विशेषण उससे भी सम्बद्ध नहीं हो सकते। फलतः सम्बन्धाभाव होने से उक्त विशेषण भी अवाच्य है अतः उनका वचन अवाच्यवचन दोष माना जाएगा।

इसके अतिरिक्त यहां समास प्रक्रम भेद दोष भी है, क्योंकि उरुनालत्व आदि अम्भोज के विशेषण असमस्त अवस्था में ही प्रयुक्त हुए हैं, अतः असमास प्रक्रान्त होने पर 'वापीसम्भूतत्व' विशेषण को समासगत नहीं करना चाहिए। फलतः यहां समास प्रक्रम भेद दोष भी विद्यमान है।

प्रस्तुत पद्य में उपमानोपमेयभाव के अभिधान के लिए 'इव' आदि का प्रयोग नहीं हुआ है, अतः यहां आर्थ उपमानोपमेय भाव माना जाता है, किन्तु जैसा पहले कहा गया है, अम्भोज पद के समासगत होने के कारण उरुनाल आदि विशेषण अम्भोज से सम्बद्ध नहीं हो सकते। साथ ही दण्डपाद के साथ भी विशेष्यभाव असम्भव होने से उनका सम्बन्ध सम्भव नहीं हो पाता, अतः यहां या तो अम्भोज का दण्डपाद से शाब्द उपमानोपमेयभाव कहना चाहिए अथवा दण्डपाद पर अम्भोज का आरोप करना चाहिए, जिससे कि अम्भोज पद प्रधान होकर उन विशेषणों से सम्बद्ध हो सके। किन्तु कवि ने शाब्द उपमानोपमेयभाव अथवा रूप्यरूपकभाव की योजना नहीं है, अतः यहां विधेयाविमर्श एवं वाच्यावचन दोष भी विद्यमान माना जाएगा।

इसके अतिरिक्त उक्त पद्य में क्योंकि 'भर्त्तुः नृत्तानुकारे' पद द्वारा

पति शिव के नृत्त के अनुकरण को अधिकरण के रूप में निबद्ध किया गया तथा वह नृत्त ताण्डव रूप है, उद्धत रूप है, अतः दण्डपाद के बिना उसकी अनुकृति असम्भव है, इसके अतिरिक्त जंघाकाण्डनालत्व विशेषण के कारण, तथा ताण्डव नृत्त एक विशेष प्रकार का संस्थान है जो पाद (पैर) के दण्ड का आकार ग्रहण किये बिना सम्भव नहीं है अतः पाद का दण्डाकारत्व तथा अभिनवत्व स्वतः अभिहित हो जाता है, उसके कथन की आवश्यकता नहीं है।

अथवा यों कह सकते हैं कि—भगवान शिव पैर को दण्डाकार बना कर ताण्डव नृत्य करते हैं, पार्वती भी दण्डाकार किए बिना ताण्डव नृत्त का अभिनय कैसे कर सकती है, अतः उस नृत्त का अनुकरण कहने से ही पाद की दण्डाकारता विदित हो जाती है, अतः उसका शब्दतः कथन दोषपूर्ण है साथ ही पैरों की दण्डाकारता के बिना 'जंघाकाण्डोरुनाल' रूप वैशिष्टच भी प्रतीत नहीं हो सकता, अतः इस विशेषण द्वारा भी पैर की दण्डाकारता एवं अभिनवत्व स्वतः कथित है, उसका कथन पुनरुक्ति दोष पूर्ण है एवं उस पुनरुक्ति के कारण अवाच्यवचन दोष युक्त भी है।

इसके अतिरिक्त पद्य में 'दण्डपाद' पद द्वारा अम्भोज की शोभाधारण की ही विवक्षा है, यह धारण रूप क्रियार्थ 'धा' (दधाति) धातु से प्रकट होता है, इस धातु में वि उपसर्ग का योग कर देने से धारण अर्थ न रह कर 'करण' रूप अर्थ का अभिधान होने लगता है। अतः यहां 'विदधत्' पद अवाच्य है एवं 'दधत्' पद वाच्य। किन्तु वाच्य का अवचन एव अवाच्य का वचन हुआ है। इस प्रकार इस पद्य में वाच्यावचन एवं अवाच्यवचन दोनों दोष माने जाएंगे।

इस पद्य को निर्दोष बनाने के लिए इसमें निम्नलिखित रूप से पाठ विपर्यास कर देना चाहिए।

> भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
> सम्भूतो भक्तिभाजां भवदवदहनः पादपद्मो भवान्याः॥

आचार्य महिमभट्ट के अनुसार उत्प्रेक्षा अलंकार के प्रसंग में जहां एक साथ गुण क्रिया आदि की उत्प्रेक्षा करनी हो, वहां क्रिया की उत्प्रेक्षा ही करनी चाहिए। जैसाकि निम्नलिखित उदाहरण में देखा

जा सकता है—

ज्योतीरसाश्मभवनाजिरदुग्धसिन्धु-
रभ्युन्मिषत्प्रचुरतुंगमरीचिवीचिः।
वातायनस्थितवधूवदनेन्दुबिम्ब-
सन्दर्शनादनिशमुल्लसतीव यस्याम् ॥

प्रस्तुत पद्य में इन्दुबिम्बसन्दर्शन एवं उल्लसन क्रिया की उत्प्रेक्षा की गई है, क्योंकि वाक्य में क्रिया की प्रधानता होती है,[1] अतः क्रिया उल्लसन की उत्प्रेक्षा से वदनेन्दुबिम्ब संदर्शनरूप हेतु स्वतः उत्प्रेक्षित हो जाता है।

अतः वाक्य में जहां क्रिया तथा गुण द्रव्य आदि की उत्प्रेक्षा करनी हो क्रिया की ही उत्प्रेक्षा करनी चाहिए, यदि कदाचित् कवि ने कहीं क्रिया की उत्प्रेक्षा न करके गुण द्रव्य आदि की उत्प्रेक्षा की है, तो उसे अवाच्यवचन दोष माना जाएगा। जैसे—

पत्ता णिअंबफंसं ह्णाणुत्तिण्णाए सामलङ्गीए।
चिहुरा रुअन्ति जलबिन्दुएहि बन्धस्स व भएण ॥

[प्राप्ता नितम्बस्पर्शं स्नानोत्तीर्णाया: श्यामलाङ्ग्याः
चिकुरा रुदन्ति जलबिन्दुभिः बन्धनस्येव भयेन।]

यहां चिकुरों द्वारा जलबिन्दुस्रवण रोदन के रूप में उत्प्रेक्षित है एवं उसके कारण के रूप में बन्धन भय की उत्प्रेक्षा की गई है। इस प्रकार बन्धन भय एवं रोदन क्रिया ही वाक्य में प्राधान्य के कारण उत्प्रेक्षणीय है, किन्तु कवि ने क्रिया की उत्प्रेक्षा न कर बन्धन भय की उत्प्रेक्षा की है, अतः यहां अवाच्यवचन दोष होगा।

उत्प्रेक्षा अलंकार के सम्बन्ध में आचार्य महिमभट्ट की यह मान्यता सहृदय पाठकों द्वारा विचारणीय है, क्योंकि उत्प्रेक्षा अलंकार में 'जाति क्रिया गुण और द्रव्य' की उत्प्रेक्षा होने से उसे मुख्यतः चार प्रकार की माना जाता है यद्यपि वाक्य में जाति आदि में से किसी एक की उत्प्रेक्षा करने से वाक्य में अविद्यमान् अन्य की उत्प्रेक्षा तो स्वतः हो ही जाती है, एवं वाक्य में क्रिया प्राधान्य के कारण क्रिया की उत्प्रेक्षा

---

१. क्रियाप्राधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते। —व्य० वि० पृ० ४६

तो अनिवार्य होती है, ऐसी स्थिति में यदि प्राधान्य के आधा! पर क्रिया की उत्प्रेक्षा को ही मान्यता दी जाएगी तो जाति गुण और द्रव्य की उत्प्रेक्षा को अवकाश भी न मिल सकेगा। जैसे—

पातालमेतन्नयनोत्सवेन विलोक्य शून्यं मृगलाञ्छनेन।
इहांगनाभिः स्वमुखच्छलेन कृताम्वरे चान्द्रमसीव सृष्टिः ॥[1]

इस पद्य में चन्द्र की उत्प्रेक्षा की गई है तथा चन्द्र एक है अतः द्रव्य है, और इसी लिए यहां द्रव्योत्प्रेक्षा मानी जाती है।[2] किन्तु यहां आकाश में चन्द्र की उत्प्रेक्षा के साथ करण क्रिया भी वास्तव में तो नहीं है, सम्भावित ही है, अतः उसकी भी उत्प्रेक्षा हुई ऐसी स्थिति में क्या इसे भी द्रव्योत्प्रेक्षा न मान कर क्रियोत्प्रेक्षा ही मानेंगे ? एवं क्रिया के उत्प्रेक्षण का कथन न करने से क्या अवाच्यवचन दोष मानेंगे ?

इसी प्रकार—

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुखादिव बद्धमौनम् ॥[3]

इस पद्य में नूपुर की बद्धमौनिता के हेतु की उत्प्रेक्षा की गयो है, किन्तु उसके साथ ही अचेतन नूपुर में अविद्यमान मौनभाव का निबन्धन भी तो अध्यवसेय है। अतः उसकी भी उत्प्रेक्षा शब्दतः होनी चाहिए, साथ ही कार्य और कारण में क्योंकि कार्य साध्य है एवं कारण कार्य के लिए होता है, इसलिए कारण की अपेक्षा कार्य की प्रधानता होगी एवं इस प्राधान्य के आधार पर क्या हेतु उत्प्रेक्षा की उपेक्षा करके फल की ही उत्प्रेक्षा करना ठीक न होगा ? यदि इस प्राधान्यवाद को लेकर चलें तो निश्चित ही उत्प्रेक्षा के विवध भेद समाप्त हो जाएंगे।

वस्तुतः जाति क्रिया द्रव्य और गुण तथा इनके भेद प्रभेद हेतु फल स्वरूप आदि में से चारुत्व के आधार पर कवि जिसके अध्यावसाय पर

---

१. नव साहसांक चरितम् १४.२३
२. द्रव्योत्प्रेक्षा यथा-पातलमेतन्न···सृष्टिः। अत्र चन्द्रस्यैकत्वाद्द्रव्यत्वम्।
—अलंकार सर्वस्व पृ० ९०
३. रघुवंश १३.२०

अधिक बल देता है, उसकी ही उत्प्रेक्षा करता है। 'सैषा स्थली' इत्यादि पद्य में 'बद्धमौनिता' की उत्प्रेक्षा में उतने चारुत्व की प्रतीति नहीं होती, जितनी 'विश्लेषदुखरूप' हेतु की उत्प्रेक्षा में, क्योंकि विश्लेष दु:ख रूप कारण की उत्प्रेक्षा से काव्य नायक राम में सीता के वियोग से उत्पन्न दु:ख की भी व्यंजना हो जाती है, अतः फल की उत्प्रेक्षा न कर कारण (हेतु) की उत्प्रेक्षा की गयी है।

इसी प्रकार 'पातालमेतद्' इत्यादि पद्य में भी अंगनागत सौन्दर्य की अभिव्यंजना के लिए चन्द्र की ही उत्प्रेक्षा अपेक्षित है, कारण रूप क्रिया की नहीं।

इसी प्रकार प्रस्तुत उदाहरण 'पत्ता णिअंवफंस' इत्यादि पद्य में भी अचेतन चिकुर में अविद्यमान बन्धनजन्य भय की एवं भय के कारण नितम्ब बिम्ब के पास पहुंच कर शिकायत करने के लिए रुदनक्रिया की सम्भावना की गई है। इन दोनों संभावनाओं में कवि ने रुदन क्रिया की अपेक्षा भयरूप भाव की विवक्षा को अधिक उचित माना है, कारण स्पष्ट है, भय एक भाव है रोना क्रिया उसका अनुभाव, बन्धन विभाव, नितम्ब बिम्ब के पास पहुंचना भी अनुभाव है और इन सबके द्वारा भयरूप भाव की व्यंजना हो रही है, फलतः भय साध्य है एवं रोना क्रिया उसकी अभिव्यंजक होने से साधन, इस प्रकार प्राधान्य क्रिया का न होकर 'भयरूप' भाव का है। फलतः भय की उत्प्रेक्षा ही उचित है, रोदन रूप क्रिया की नहीं।

इस पद्य में मुख्य रूप से जो दोष है वह है भाव की स्वशब्द वाच्यता। कवि को भयरूप भाव की अभिव्यक्ति करानी थी, उसे शब्दतः नहीं कहना चाहिए था, इस कारण इस पद्य को उत्तम काव्य में स्थान देना उचित न होगा।

निदान हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वाक्य में क्रिया की प्रधानता के आधार पर द्रव्यादि की अपेक्षा क्रिया की ही उत्प्रेक्षा करनी चाहिए, यह सिद्धान्त सर्वतोभावेन ग्राह्य नहीं हो सकता।

इतना अवश्य है कि इस प्रसंग में आचार्य महिमभट्ट ने मूल रूप से जिस सिद्धान्त को स्थापित करने का प्रयत्न किया है वह सिद्धान्त सर्वतोभावन ग्राह्य है। उसके अनुसार—

जहां एक स्थल पर ही उत्प्रेक्षित रूप से अभिमत अनेक अर्थ हों

वहां प्रधान के साथ ही इव आदि उत्प्रेक्षा वाचक का प्रयोग करना चाहिए, अन्य के साथ नहीं।

अन्त में हम संक्षेप में कह सकते हैं कि काव्यार्थ की दृष्टि से जिन वाक्य वाक्यांश पद, पदांश (प्रकृति प्रत्यय) अथवा अलंकार आदि का प्रयोग होना चाहिए यदि उनका प्रयोग नहीं हुआ है, तो उन स्थानों पर वाच्यावचन दोष होगा। इनके अतिरिक्त यदि प्रधानतया प्रतिपाद्य का उस रूप में प्रतिपादन न होने पर विधेयाविमर्श, अपेक्षित एवं प्रक्रान्त का निर्वाह न होने से प्रक्रम भेद, शब्दतः अथवा अर्थतः अभिहित का पुनः अभिधान होने से पुनरुक्त दोष होंगे। इन दोषों की स्थिति में अवाच्य का बचन एवं वाच्य का अवचन होना स्वाभाविक है, अतः उन सभी अवस्थाओं में वाच्यावचन एवं अवाच्यवचन दोष भी माना जा सकता है।

उपर्युक्त सभी दोषों का दोषत्व केवल उस स्थिति में है जब काव्यार्थ भूत रस की प्रतीति में उन से अन्तराय (व्याघात अथवा बिलम्ब) उपस्थित होता हो। किन्तु यह अन्तराय काव्यार्थ का साक्षात् व्याघातक नहीं है, इसी कारण उन्हें अन्तरंग दोष न मान कर बहिरंग दोष माना गया है t

●

परिशिष्ट-क

सहायक-ग्रन्थ-सूची*

ग्रन्थ	लेखक
१. नाट्य शास्त्र	भरत मुनि
२. नाट्य शास्त्र भारती टीका	अभिनव गुप्त
३. काव्यालंकार	भामह
४. काव्यालंकार	रुद्रट
५. काव्यालंकार टीका	नमिसाधु
६. काव्यादर्श	दण्डी
७. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति	वामन
८. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति कामधेनु	त्रिपुरहरिभूपाल
९. ध्वन्यालोक	आनन्द वर्द्धन
१०. ध्वन्यालोक लोचन	अभिनव गुप्त
११. हिन्दी ध्वन्यालोक भूमिका	डा० नगेन्द्र
१२. ध्वन्यालोक दीधिति	बद्रीनाथ
१३. सरस्वती कण्ठाभरण	भोज
१४. शृंगार प्रकाश	भोज
१५. औचित्य विचार चर्चा	क्षेमेन्द्र
१६. वक्रोक्ति जीवित	कुन्तक
१७. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित भूमिका	डा० नगेन्द्र
१८. काव्य मीमांसा	राजशेखर
१९. काव्यालंकार वृत्ति	प्रतिहारेन्दुराज
२०. काव्यप्रकाश	मम्मट
२१. काव्यप्रकाश प्रदीप	गोविन्द ठक्कुर
२२. काव्यप्रकाश उद्योत	नागेश
२३. काव्यप्रकाश वामनी टीका	वामन झलकीकर
२४. दश रूपक	धनिक-धनंजय
२५. नाट्यशास्त्र संग्रह व्याख्या	पं० वासुदेव शास्त्री
२६. साहित्य दर्पण	विश्वनाथ

* प्रस्तुत ग्रन्थ में इन ग्रन्थों के अंशों को उद्धृत किया गया है अथवा उनके विचारों से सहायता ली गयी है।

२७. साहित्यदर्पण महालक्ष्मी टीका	गौरीनाथ
२८. साहित्य दर्पण टिप्पणी	गुरुनाथ विद्यानिधि भट्टाचार्य
२९. रसगंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ
३०. रसगंगाधर मर्मप्रकाश	नागेश
३१. अलंकार चन्द्रिका	विश्वेश्वर पण्डित
३२. अलंकारशेखर	केशवमिश्र
३३. अलंकारसंग्रह	अमृतानन्द यति
३४. साहित्यमंजरी	श्रीपाद
३५. कुवलयानन्द	अप्पय दीक्षित
३६. चन्द्रालोक	जयदेव
३७. काव्यानुशासन	हेमचन्द्र
३८. अलंकार सूत्र	रुय्यक
३९. अलंकार सर्वस्व	रुय्यक
४०. अलंकार विमर्शिनी टीका	जयरथ
४१. अलंकाररत्नाकर	शोभाकरमित्र
४२. एकावली	विद्याधर
४३. वाग्भटालंकार	वाग्भट
४४. प्रतापरुद्रयशोभूषण	विद्यानाथ
४५. अष्टाध्यायी	महर्षि पाणिनि
४६. महाभाष्य	महर्षि पतंजलि
४७. महाभाष्य प्रदीप	कैय्यट
४८. महाभाष्य प्रदीप उद्योत	नागेश
४९. वाक्यपदीय	भर्तृहरि
५०. वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा	नागेश
५१. परिभाषेन्दु शेखर	नागेश
५२. अष्टाध्यायी मिताक्षरा	अन्नंभट्ट
५३. काशिका	जयादित्य वामन
५४. सिद्धान्त कौमुदी	भट्टोजि दीक्षित
५५. सिद्धान्त चन्द्रिका	अनुभूति स्वरूप
५६. धातुपाठ	पाणिनि
५७. न्याय दर्शन	महर्षि गौतम
५८. वात्स्यायन भाष्य	वात्स्यायन
५९. न्याय कारिका	विश्वनाथ पंचानन

६०. व्यक्तिविवेक	महिम भट्ट
६१. व्यक्तिविवेक व्याख्यान	रुय्यक
६२. व्यक्तिविवेक मधुसूदनी वृत्ति	मधुसूदन शास्त्री
६३. अभिधान राजेन्द्र	
६४. अमरकोष	अमर सिंह
६५. कठोपनिषद्	
६६. कठोपनिषद् भाष्य	शङ्कराचार्य
६७. मनुस्मृति	
६८. महाभारत	महर्षि व्यास
६९. अग्नि पुराण	महर्षि व्यास
७०. श्रीमद् भागवत	महर्षि व्यास
७१. भागवतामृत वर्द्धन	
७२. हर्षचरित	बाण
७३. कादम्बरी	बाण
७४. अभिज्ञान शाकुन्तलम्	कालिदास
७५. विक्रमोर्वशीयम्	कालिदास
७६. मालविकाग्निमित्रम्	कालिदास
७७. मेघदूतम्	कालिदास
७८. कुमार सम्भव	कालिदास
७९. रघुवंश	कालिदास
८०. रघुवंश संजीवनी टीका	मल्लिनाथ
८१. पंचतन्त्रम्	विष्णुशर्मा
८२. हितोपदेश	विष्णुशर्मा
८३. किरातार्जुनीयम्	भारवि
८४. गाथा सप्तशती	हाल सातवाहन
८५. महावीरचरितम्	भवभूति
८६. उत्तररामचरितम्	भवभूति
८७. मालतीमाधव	भवभूति
८८. वेणी संहार	भट्ट नारायण
८९. वेणी संहार टिप्पणी	अप्पाशास्त्री
९०. स्वप्नवासवदत्तम्	भास
९१. प्रतिमानाटकम्	भास
९२. हनुमन्नाटकम्	हनुमत्कवि (नरोत्तम परिष्कृत)

९३. रावणवध महाकाव्यम्	भट्टिकवि
९४. विषमबाणलीला	आनन्दवर्द्धन
९५. अमरुक शतकम्	अमरुक
९६. कप्पूर मंजरी	राजशेखर
९७. बालरामायण	राजशेखर
९८. राजतरंगिणी	कल्हण
९९. विक्रमांकदेवचरितम्	विल्हण
१००. नवसाहसांकचरितम्	पद्मगुप्त परिमल
१०१. हरविजय महाकाव्य	राजानक रत्नाकर
१०२. सुभाषितावलि	वल्लभदेव
१०३. सुभाषितरत्नभाण्डागार	काशिनाथ पाण्डुरङ्गपर्व परिष्कृत : नारायण राम आचार्य
१०४. संस्कृत साहित्य का इतिहास (डा० मंगलदेव शास्त्री अनुदित)	ए० वी० कीथ
१०५. संस्कृत साहित्य का इतिहास	वलदेव उपाध्यात
१०६. संस्कृत साहित्य का इतिहास	कन्हैयालाल पोद्दार
१०७. संस्कृत साहित्य का इतिहास	वाचस्पति गैरोला
१०८. History of Sanskrit poetics	P. V. Kanc
१०९. Aspects of Sanskrit Literature	S. K. De
११०. Notes on Tark Sangrah	Bodas
१११. Comperative Aesthetics Part-I	K.C. Panday
११२. Linguistic Survy of India	George Grierson
११३. Elements of Science of Language	Teraporewala
११४. सामान्य भाषाविज्ञान	बाबूराम सक्सेना
१११. सरल भाषाविज्ञान	मनमोहन गौतम
११६. भाषाविज्ञान	डा० भोलानाथ तिवारी
११७. हिन्दी व्याकरण	कामता प्रसाद गुरु

परिशिष्ट-ख

उद्धरण सूची

उद्धरण	पृष्ठ
अक्षराणामकारो	३८५, ३८७
अगाध परि०	१६०
अङ्गुलीभिरिव	२१२
अतिगभीरे	३५८
अत्यन्तपरिणाह०	२२५
अत्रान्तरे फुल्ल०	३४५
अथ तत ऊर्ध्वम्	३०५
अथभूतानि	१७६
अनवरतनयन०	३५२, ३५४
अनिराकृततताप०	३३६
अनुरागवती	२३
अनुरागवन्तमपि	२२७
अपराग समीरणेरित:	२२६
अप्राकृतस्य	१३८
अप्राधान्यं	१०६
अवन्ध्य कोपस्य	३६३
अभिवाञ्छितं	२५४
अयं जन:	२८५
अयं कन्दद्युति:	२२६
अयथार्थक्रिया	१८६
अलंप्रयत्नेन	२०४
अलिभिरञ्जन०	३५८, ३६७
अवगच्छति	१८८
अवन्तिनाथो०	६५
अवहित चेतस:	१८८
अश्वीयसंहतिभि०	१७३
असौ मरुच्चुम्बित०	१५३
अहो न सम्यक्	३०५
आ: किमर्थमिदं	२१६
आकाशगंगा०	३८०
आचार्यो मे	१४५
आच्छादितायत०	३४७
आभोगिनेत्र०	२२५
आलानं जयकंजरस्य	२१०
आलिंगनादर०	३७२
आलोकमार्गं	१०२
आहूतेषु	३०५, ३६४
इयं गेहे लक्ष्मी:	२८३
इह चटुलतया	३६१
इह विबुधगजस्य	३६३
उक्खअ दुमं व	३०१
उत्तिष्ठन्त्या रतान्ते	६४
उत्सवाय जगत:	१७२
उदन्वच्छिन्ना भू:	१४६, ३६६
उदितवपुषि	१८८
उद्योग: करिकीट०	१६१
उपपन्नं ननु	६६
उपहितशिशिराप०	२२४
उपोढरागेण	३६७

उमावृषाङ्कौ २२२
उवाच दूतः २२१
उषसि विगलिता० ३५१

ऊर्ध्वाक्षिताप० १२०

ऋषभोऽद्रीनु० २७१

एकः शंकामहिकुल ३१६, ३१८
एमेव जणो २३९

ऐन्द्रं धनुः २२४

कमलमनम्भसि ३१५
करकलित० १९५
करिकलभं ३७९
कल्याणानां १४०
कस्मिन् लब्ध० १४५
काचित्कीर्णा २५४
कातर्यं केवला० १३०
कारणगुणानु० ९६
किं क्रमिष्यति ३०३
किं लोअणे हि २४९
किं लोभेन १०६
किं हास्येन २७
किमवेक्ष्य फलं ३२६
किम्पुनरीदृशे १८९
कीर्त्तिप्रतापौ २८९
कुन्तालीभि० ३६४
कुर्यां हरस्यापि ३१७
कुसुमैः कृत० ३६४
कृतककुपितैः १०१, २८०
कृतवानसि विप्रियं २६३
कैरवेन्दीवर० १८२

कोपं न गच्छति ३०४
क्वचित्तरुतल० ३५६
क्षान्तं न क्षमया १४०
क्षिप्तो हस्तावलग्नः २८
क्ष्माभर्त्तुरस्य २७३
क्षुण्णं यदन्तः ३८९

खं: येऽभ्युज्वलयन्ति ३७०

गवार्थं ब्राह्मणार्थं ३०७
गाहन्तां महिषाः २६२
गुर्वर्थमर्थी १०१
गोपहीनाः २५१

चकासतं चारु १८१
चक्राभिघात० २८०
चन्दनासक्त० २२९
चन्द मऊएहि २५
चापाचार्यस्त्रिपुर० ९६, २८७
चारुतावपु० १६८, २६५, २६९
चुम्बने विपरिवर्त्ति० १९१
च्युतसुमनसः ७६, २३५

छायामपास्य १७९, ३२७

जंघा काण्डोरुनालो ३९८
जक्षुर्विसान्धृत० १६७
जनकोजनको यस्याः ९९
जयति जगत्त्रयतिलको १६९
जयति निशापति० १६९
जयाशा यत्र १०७
जुगोपात्मानमत्रस्तो० ११०
ज्योती रसाश्म० ४०१

तं कर्णमूलमागत्य ३८६
तं कृपामृदु० ९७, १८७
तं जिगीषुरिव २२८
तं ताण सिरिव २४
तं विलोक्य २२१
ततोद्भुतं ३३७
तदन्वये ३३६
तदीयमातङ्ग० १७८
तद् गेहं नत० २४६
तद्वक्त्रं १३०, २८४
तनुत्वरमणीयस्य ३६०
तपस्विभिर्या १०४
तपेन वर्षा २७३, ३२५
तमब्रवीत्प्रीयमाणो ३१४
तमर्थमिव ३०१
तरङ्गय दृशो २८४
तव कण्ठसृजा ३०७, ३३१
तव कुसुमशरत्वं २७१
तव प्रसादात् १८१, ३१६
तस्मादजायत मनुः १४९
तस्माद् यज्ञात् ३१४
तस्य धौताञ्जन० ३८३
तस्य प्रयातस्य १६२
तस्याः शलाकाञ्जन० १४४
ताताज्जन्म १०३
ताला जाअन्ति २३८
तुल्यकक्ष्यतया २५०
तृप्तियोगः २१६
तेनावरोधप्रमदा० ३८०
ते हिमालयमा० २४१
त्वक्तारवी ३०९, ३२९
त्वगुत्तरासङ्ग० १७०
त्वन्निष्यन्दो० ३६०
त्वमेवं सौन्दर्याः १३९
त्वय्यादातुं १४७
त्वष्टुः सदाभ्यास० १८५
ददृशे लज्ञाटतट० ३७५
दलत्कन्दल० १७९
दशपूर्वरथं समा० ३९०
दिने दिने सा २०६
दिशि दिशि विहगाः ३६१
दुःखाभितप्तस्य ३६८
दृष्टा दृष्टिमधो २६०
दृढतरनिबद्धमुष्टेः ३८४
दृशा दग्धं ३१७
दृष्टदोषाऽपि ३८
दृष्टिर्नामृतवर्षिणी १४४
देशः सोऽयमराति० १००
द्रविणमापदि ३९५
द्वयं गतं सम्प्रति १०५, १३०, २७४, ३१९
द्विषद्वधू० १८४
द्वैतबुद्धिरपास्यैनां १५२
द्वौ नञ्जाविह विख्यातौ १०९
धरस्योद्धर्त्ताऽसि ३०२
धर्मबुद्धिः खल्वहं ३०५
धाता स्वहस्त० १०२
धैर्येण विश्वास्य० २४९
न केवलं यो १३२
न जातु कामः ३०७
न तच्छस्त्रेण ३०७
न तत्र चक्षुर्गच्छति ३०६
ननु साधुक्तं ११२

नमोस्तु ताभ्यो १३७
न मे ह्रिया ३०१
नरपतिर्वसुवृष्टि० २६८
नवजलधरः १०६
नवचन्द्रिका २०८, २०६
न वित्तं दर्शयेत्प्राज्ञः ३०५
नवोऽर्थो जातिर० १२०
न सोऽस्ति प्रत्ययो ३२०
न हायनै नं पलितैः २४८
नाग्निस्तृप्यति ३०६
नाभिवादनप्रसादो २८५
निद्रावशेन २२३
निम्नमुन्नतमवस्थितं ३६५
नियता लघुता २७१
निर्घातोग्रै ३२४
निर्मोकमुक्तिमिव २१०
निर्याय विद्याथ २०५
निर्वाणभूयिष्ठ० १४२
निशि नान्तिकस्था ३१४
नैनं छिन्दन्ति ३०६
न्यक्कारो ह्ययमेव १२१

पतिते पतंगमृग० ३७४, ३७६
पतितैरुत्पतितैः २२०
पत्ता णिअंग ४०१
परिहासरतिर्यश्च २२८
पर्याप्तमेतन्ननु ७५
पातालमेतन्नयनो० ४०२
पातु वस्तारकाकान्त० १८६
पादाहतं १४६
पायात्स शीतकिरणा० १८१
पुण्ड्रेक्षोः परिपाक० १८७
पृथ्वि स्थिरा भव १०६, २४२
पृथ्वीपाल १८६
पौलस्त्यः स्वयमेव १०२
प्रकटकुलिशकुन्त० ३५१
प्रकाशस्वाभाव्यं १२५
प्रजानामेव भूत्यर्थं १३८
प्रतीक्ष्यं च प्रतीक्ष्यायै ३०२
प्रत्यासन्ने नभसि १५०
प्रदक्षिणी कृत्य २५१
प्रभवति च समर० ३७६
प्राप्तावेकरथारूढौ ७५

फलान्यादत्स्व २५५

बंहीयांसो गरीयांसः ३३४
बभूव भस्मैव २५०
बाला केवलमेव १४३
बिभ्राणः शक्तिमाशु १२५
ब्रध्नस्येद्धा रुचि० ३५४

भक्ति प्रह्वविलोकनी ३७१
भर्त्तु र्नृत्तानुकारे ४००
भद्र ! न सर्वमेतत् ३०५
भाति सितभूति० १६६
भंक्ते सदा श्राद्ध० ११३
भैरवाचार्यस्तु ३३५
भो लंकेश्वर २८७
भ्रेमुर्वात्या इवान्या २५५, २५६

मत्तता दयितसंगम० २६६, २७०
मदिराद्रवपान० १६३
मधुश्च ते मन्मथ० ३३१
मध्ये व्योमत्रिशंको० ११५
मनो ब्रह्म इत्युपा० ३०८

महदपि परदुःख० २२९, ३८९
महीभृतः पुत्रवतो २४३
माद्यद्दिग्गज० १२०, १२१
मा धाक्षीन्मा १९४
मा भवन्तमनलः १९४
मिथ्यैतन्नम चिन्तितं १५९
मीलितं यदभिरामता० १४३, १५२
मूढो नात्ममयः १८७
मोहन्तु हरे विहङ्गमो १५७

यं समेत्य २०६
यं सर्वशैलाः १३१
यः सर्वं कषति ११५
यत्तदूर्जितमत्युग्रं १३२
यत्र च मातंगगामिन्यः ३६९
यत्त्वन्नेत्रसमान० २४६
यत्त्ववेतच्छब्दविषयं ८०
यदधरदलमाश्रितं २७६
यदा दृशा कृशांग्याः २२१
यदा यदा हि धर्मस्य १९९
यदुवाच न तन्मिथ्या १२९
यदेतच्चन्द्रान्त० १५५
यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं ३८८
यश्चैकवाक्ये २४१
यशोऽधिगन्तुं २४२
यस्य प्रकोपशिखिना १५४
या धर्मभासस्तनया० ३९१
यान्त्या मुहुर्वलित० ७५
यावदर्थपदां ३२६
युष्मदस्मदोः २७३
येन ध्वस्तमनोभवेन ३४९
येन स्थलीकृतो ९८
येनाकुम्भनिमग्न० १७८
ये नाम केचिदिह १३१
येनालंकृतमुद्यानं ३८५
येषां ताः त्रिदशेभ० १३७
ये सन्तोष सुखं १३९
यो यः शस्त्रं १४१
यो यो यं यमवाप्नुयात् १४१
यो विकल्पमिदमर्थ० १५४

रक्तप्रसादितभुवः ३७१
रहयिष्यति ३९३
राहुस्त्रीस्तनयोः २२७
रुदता कुत एव सा २४२
रुरुचे हिमालय० ३९२
रेणुरक्तपरीताङ्गो १०५

लक्ष्यीकृतस्य ३९३
लच्छी दुहिआ ३२८
लावण्यकान्ति० २८०
लावण्यसिन्धु० २२

वज्ज महविय २२
वत्सस्य होमार्थ० ३०३
वपुषः शुचिभूषणं २७८
वर्णैः कतिपयैरेव २०९
वस्त्रायन्ते नदीनां १६७
वाच्यवैचित्र्य १११
वासो जाम्बव० ४७८
विघटिततिमिरौघ० ३६०
विपदोऽभिभवन्त्य० २५२, २५३
विरहविधुरा सापि ३१५
विवृण्वती शैलसुता० २७
विषयत्वमनापन्नैः ३८४
विसकिसलयच्छेद० १७७

वैदर्भरीतिः कृतिनामु० १२०
व्रजतः तात २४०
व्रजन्ति ते मूढधियः १८८

शय्या शाद्वल० ३१०, ३२९
शरीरकस्यापि कृते १८७
शिशिरकालमपास्य २१८
शीधुरसविषय० १९३
शुचिमूषयति श्रुतं २७७
शुचिस्मितां २२१
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां १०४
शोकानलधूमसंभार ३८२, ३८३
श्रुतस्य यायादयर्भक० ३०२

संकल्पकल्पितां १९०
संग्राम नाटक ३६३
संचारपूतानि २१७
संचेरुः सहसा २५६
संरम्भः करिकीट० १५६
संसारसंभव० १८५
सः कीचकैः ३१४
सजलजलधरं २६४
सततमनङ्गो ३१८
सततमनभिभाषणं २३८
स दुर्मतिः श्रेयसि १२९
सद्वृत्ते महति ३९५
समतया वसुवृष्टि० २६६
समन्ततः केसरिणं ३५७
सम्बन्धमात्रम० ९७
सरसमन्थर० ३६०
सरोजकर्णिकागौरीं ३७६
स वः शशिकलामौलिः १५२
सस्नुः पयांसि २५३
सस्नुः पयः पपुः २५६, २५७, २६५
सानु स्थितिर्जनक० ३५३
सहसा विदधीत १९५
सहायकार्थमिव १८७
सा दयितस्य समीपे ११४
सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैः २५१
सुरभिसंगमजं २२४
सैषा स्थली यत्र ४०२
सूर्याचन्द्रमसौ ९८
सोऽवटः श्याम इति १५५
सौधादुद्विजते १२६
स्कन्दस्य मातुः १०५
स्तम्बेरमः परिणिनंसु० ३०३
स्तुवन्ति गुर्वीमभि० ३८
स्नेहं समापिबति १२४, १२५
स्पष्टोच्छ्वसत् किरण० ३०९, ३३०
स्फुरदधीरतडिन्नयना २२३
स्मरहुताशन० २१५
स्मृतिभूः स्मृतिभूः १५४
स्रस्तां नितम्बादव० ३१०
स्रोतो मूर्त्या भुवि १४७
स्वात्मन्येव समाप्त० १४०
स्वाभाविकं विनीतत्वं १८२

हरस्तु किञ्चित्परि० २६
हसति हसति १६७
हेम्नां भारशतानि १३६, १४५

परिशिष्ट-ग

उद्धृत-ग्रन्थ-सूची

अग्निपुराण	५, ४६, ४७
अभिज्ञानशाकुन्तलम्	३८, २४४, २६२
अभिनवभारती	३०, ५१, ६८, ८६-८८, २६१
अभिधानराजेन्द्र	३३७
अमरकोष	१, ३१७
अमरुक शतक	२८
अर्थसंग्रह	११७
अलंकाररत्नाकर	१६६, २७७
अलंकारशेखर	१३, ६७
अलंकारसर्वस्व	१३२, १४१, १६४-१६६, २१६, २१७, २२३, २२४, २३६, २७७, ३०८, ३२१, ३३३, ३३५, ३४२, ३५६, ३७१, ३९७, ३९८, ४०२
अव्ययार्थ	२२२
अष्टाध्यायी	९१, ९८, १०८, ११३, ११५-११७, ११९, १२७, १२८, १५१, १७४-१७५, १७८-१७९, २०८, २५७-२५९, २६९, २७३, २८८, २९१, ३२२
उत्तररामचरितम्	१०२
एकावली	१७८
कठोपनिषद्	१७४, ३१४
कादम्बरी	११९
काव्यदीपिका	३२१
काव्यप्रकाश	२, ११-१४, २३, ३२, ३६, ४४, ५०, ५५, ६७, १५४, १६६, २१७, २२६, २३६-२३७, २५२, २७१, ३११, ३१८, ३४९, ३८६
काव्यप्रकाश-वामनी	३४४, ३४९
काव्यप्रदीप	३३, ६७, २५२, ३४४
काव्यमीमांसा	३१-३२

काव्यादर्श ४-५, ३०, ४५-४६, ६५, ७९, ९०, २०८, २८९
काव्यानुशासन ११, १०६-१०७, ११४, १२६, २७६, ३१०, ३३०
काव्यालंकार (भामह) ३, ३०, ४३-४५, ६५, ७९, ८८, २२९, २८८
काव्यालंकार (रुद्रट) ३०, ४८, ६५, ७६, १६५, २९०-२९१
काव्यालंकारसारसंग्रह २७७, ३३४
काव्यालंकार सूत्रवृत्ति २, ६, ७, ३०, ४७-४८, ५८, ६५, ७६, ७९. ८८, १६७, १७७, १९४, २२०, २२६, २३७, २८९, २९०, ३४३, ३४८, ३७६, ३८२
काशिका २१४, २२१
किरातार्जुनीयम् ३८-३९, १७९, १८८, १९५, २०५, २२१, २२४, २२६, २४९, ३२६, ३६३
कुमारसंभवम् २६-२७, ३८, ७२, १०५, १३०-१३२, १४२, १४४, १८१, २०६, २१२, २४१, २४३, २५०, २६३, २६८, २७९, २८५, २९०, ३१०, ३१६, ३१९, ३३१
कुवलयानन्द ११५, ३२२, ३८४
केन उपनिषद् १७४
गीता ३८५
चन्द्रालोक १२, ३२२, ३३५
छान्दोग्य-उपनिषद् १७५, ३०५, ३०८
छान्दोग्य-शांकरभाष्य १७५
तर्कसंग्रह ७६, १८६, १९६-१९८, ३२६, ३७७, ३९४
तलवकार (केन) उपनिषद् १७४
दशरूपक २३१-२३२
धातुपाठ २३३
ध्वन्यालोक, ध्वनिकारिका १७-२१, २८, ४९-५०, ५५, ५७, ५९, ६६, ६९, ८२, १२४, २१३, २१७, २३०, २३२, २३३, २३९, २४६, २५१, २७६, २७९, ३२२, ३२५, ३३३, ३३८, ३४१-३४३, ३४६, ३४७, ३४९, ३५०, ३६९, ३७०, ३७३
नवसाहसांकचरित ४०२
नाट्यशास्त्र २, ४१-४२, ६५, ७९, ८८, १९३, ३१२

न्यायसिद्धान्त मुक्तावली १९८, ३५५
न्यायसुधा (तन्त्रवार्त्तिक टीका) ३३२
न्यायसूत्र ६३-६४, ३७७, ३९३, ३९६
पञ्चतन्त्र १२, ३०५, ३०७
प्रतापरुद्र यशोभूषण ११
प्रतिमानाटक २५१
प्रश्न-उपनिषद् १७५
बाल रामायण ९६, १०६
भट्टि काव्य २५५, २५६
भागवतामृतवर्धन ३७१
भाषारत्न १९१
मनुस्मृति २४८
मन्दारमरन्द चम्पू ६७
महाभारत ३७, १७८, ३०६, ३०७
महाभाष्य ९१-९३, २४८, २५८
मालती माधव ७५, ११८, १३१, १४०
मीमांसान्यायप्रकाश ७४
मिताक्षरा (व्याकरण) १७४, २१४, ३२२
मेघदूत १४७, १५०, ३६०
मेदिनीकोष १
यजुर्वेद १, ३१४
रघुवंश ९५, ९७, ९९, १०१, १०४-१०५, ११०, १३०, १३८, १५५, १६२, १८२, १८४, १८७, १८८, १९१, २१७, २२२-२२३, २४१, २५१, २६६, ३०१-३०४, ३२४, ३३६, ३५८, ३८०-३८१, ३९६, ४०२
रसगंगाधर १४, ३४-३५, ६७, २०७
रावणवध महाकाव्य २५५-२५६
लोचन ८५, २४६, २४९, ३६७, ३६८, ३८५
वाक्यपदीय ७४, १११, २९२, ३८४, ३८६
वाग्भटालंकार १२
वक्रोक्ति जीवित ९-१०, २३, १२५, २११, २१३, २३३-३५, ३३७, २३९, २४५, २६६, २७९, ३४०
विक्रमांकदेव चरितम् १२०

विक्रमोर्वशीयम्	९८, १०९, २२९, ३२३
वेणीसंहार	७५, ९४, १००, ११६, १३२, १४१, ३७२
वेदान्तसूत्र	३८६
वेदान्तसार	२९२
वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा	३६५, ३८६
व्यक्तिविवेक	आधार ग्रन्थ
व्यक्तिविवेक मधुसूदनी टीका	२६५, २८४, ३२३-३२४, ३३३, ३४०-३४२ ३४४-३४६, ३५१, ३५५, ३५६, ३७०, ३८६, ३९२, ३९६
व्यक्तिविवेक व्याख्यान	८२, ८९, १०९, १४८, १७१, १७७, २०७, २१२-२१५, २५९-२६०, २७२, २७५, २८२, ३५२
व्याकरण मिताक्षरा	१७४, २१४, ३२२
शास्त्रदीपिका	६२
शिशुपालवध महाकाव्य	१६८, १७८-१७९, १८५-१८६, २०६, २०८-२०९, २१५, २१८, २२१, २२६-२२७, २[illegible]८, २४०, २५३, २६५, २७३, ३०२, ३०३, ३२५-३२७, ३७४-३७५, ३८८, ३९१
श्रृंगार प्रशाश	२९१
श्रीपाद	६७
श्वेताश्वतर	१७५
सरल भाषाविज्ञान	१७६
सरस्वतीकंठाभरण	१०-११, ३१, १६५
सामान्य भाषाविज्ञान	१७६
साहित्यकौमुदी	१६५
साहित्यदर्पण	१२-१३, २२, ३३-३४, २३६, ३३५
सिद्धान्तकौमुदी	१७५, २१४, २१६
सिस्टेम्स आफ लॉजिक	६३
सुबोधिनी	२१७
सुभाषितावलि	३७१, ३९७
हनुमन्नाटक	१५३
हरविजय महाकाव्य	३०९, ३३०, ३५१, ३६०, ३६२, ३६४, ३७२
हर्षचरितम्	३९-४०, १२०, २१०, ३२५, ३५२, ३५६, ३५८, ३७९, ३८२-३८३
हितोपदेश	२२२

महामहोपाध्याय डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी

जन्म फाल्गुन शुक्ल चतुर्थी सं० १९८

जन्म स्थान करोवन उन्नाव, (उ० प्र०) भा

शिक्षा गुरुकुल अयोध्या फैजाबाद
लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ
दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली

प्रकाशित रचनाएं चव

प्रमुख (१) भारतीय न्यायशास्त्र एक अध्ययन

(२) पातञ्जल योगशास्त्र एक अध्ययन

(३) वृत्ति समुच्चय दो भ

(४) अलंकार कोश

(५) महिमभट्ट कृत काव्यदोष विवेच

(६) एकावली दीपिका व्याख्या सहित

(७) राजयोग साधना और सिद्धान्त

अनेक अखिल भारतीय एवं अन्तरराष्ट्रि
विभागीय अध्यक्षता

ग्यारहवीं सदी के आचार्य विद्याधर संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों में अन्यतम हैं। इनके ग्रन्थ एकावली पर मल्लिनाथ जैसे सुप्रसिद्ध टीका-कार द्वारा तरला टीका की रचना इस ग्रन्थ के महत्त्व को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।

एकावली का प्रथम बार तरला टीका के साथ प्रकाशन बम्बई से हुआ था; किन्तु गत चालीस वर्षों से यह ग्रन्थ अप्राप्त रहा है, साथ ही इस पर हिन्दी अथवा इंग्लिश में कोई व्याख्या न होने से सामान्य शोध छात्रों एवं विद्यार्थियों के लिए यह दुर्बोध भी बना रहा है।

महामहोपाध्याय डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी ने ग्यारह पाण्डुलिपियों के आधार पर इस ग्रन्थ का सम्पादन करते हुए इस पर हिन्दी भाषा में दीपिका नामक व्याख्या लिखकर इसका प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत करते हुए सर्व साधारण के लिए सुबोध बना दिया है।